लेखक का प्रास्ताविक वक्तव्य :

"निवन्ध-निचय" वास्तव मे हमारे प्रकीर्णक छोटे-वडे लेखो का सग्रह है। इसमे के लेख न० ७-८-९-११-१७ ये निवन्ध विस्तृत साहित्य-समालोचनात्मक हैं। न० १०वा १२-१३-१४-१५-१६-१८ ये लेख जैन श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य के समालोचनात्मक लघु लेख है तव निवन्ध १९वा श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के प्रतिक्रमण सूत्रो मे चिरकाल से रूढ और आधुनिक सम्पादको के अनाभोग से प्रविष्ट अशुद्धियो की चर्चा और स्पष्टीकरण करने वाला विस्तृत लेख है।

प्रारम्भ के १ से ६ तक के लेख भी श्वेताम्बर प्राचीन जैन साहित्य के अवलोकनात्मक लेख हैं। "प्राचीन जैन तीर्थ" नामक निबन्ध मे जैन-सूत्रोक्त १० तीर्थों का शास्त्रीय ऐतिहासिक निरूपण है।

२१वा निबन्ध "मारवाड की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियाँ" ता० १५-८-१९३९ का लिखा हुआ, २२वा प्रतिष्ठाचार्य निबन्ध ता० १९-८-५५ का लिखा हुआ और निबन्ध २३वा ता० २७-७-४१ का लिखा हुआ है। ये तीनो लेख समालोचनात्मक और विस्तृत है।

२४ और २५वा ये दोनो निबन्ध समालोचनात्मक और खास पाठनोय है। निबन्ध २७वा तिथि-चर्चा सम्बन्धी गुप्त रहस्य प्रकट करने वाला है।

निबन्ध २७ से लेकर ३९ तक के १३ दिगम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य की मीमासा सम्बन्धी है। इनमे से अनेक निबन्ध ऐतिहासिक ऊहापोहात्मक होने से विशेष उपयोगी हैं। षट्खण्डागम, कषायपाहुड, कषायपाहुडचूर्णि, भगवती आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थों के कर्ता तथा इनके निर्माणकाल का ऊहापोह और निर्णय करने का यत्न किया है।

'निबन्ध' के निबन्ध ४०, ४१ ४२ ४३ ४४ में क्रमश: कौटिल्य अर्थशास्त्र सांख्यकारिका ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, स्मृतिसमुच्चय और याज्ञिकसूत्रावली का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन मिलता है।

आशा है पाठकगण 'निबन्ध निचय' के पढ़ने से अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे यही नहीं बल्कि ऐतिहासिक ग्रन्थियों को सुलझाने की शक्ति भी धीरे धीरे प्राप्त करेंगे।

कल्याणविजय

धन्यवाद :

माडवला नगरनिवासी श्रीमान् कुन्दनमलजी, छगनराजजी, भँवरलालजी, जीतमलजी, पारसमलजी, गरणपतराजजी, थानमलजी, भवरलालजी, रमेशकुमारजी पुत्र पौत्र श्री तलाजी दातेवाडिया योग्य .

आप श्रीमान् समय २ पर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते रहते है, ज्ञान-प्रचार के लिए भी आप अपने द्रव्य का व्यय करने मे पीछे नहीं रहते । दो वर्ष पहिले पू० पन्यासजी महाराज श्री कल्याणविजयजी गणि, श्री सौभाग्यविजयजी, मुनि श्री मुक्तिविजयजी का माडवला मे चातुर्मास्य हुआ तब पन्यासजी महाराज को ग्रन्थ तैयार करते देखकर ग्रन्थ का नाम पूछा । महाराज ने कहा—३ ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं । आपने ग्रन्थो के नाम पूछे, तब महाराज ने कहा : १ पट्टावली पराग, २ प्रबन्धपारिजात और ३ निबन्ध-निचय नामक ग्रन्थ तैयार हो रहे हैं । आपने तीनो ग्रन्थो के नाम नोट कर लिये और कहा ये तीनो ग्रन्थ हमारी तरफ से छपने चाहिये । महाराज ने वचनबद्ध न होने के लिए बहुत इन्कार किया पर आप सज्जनो के अत्याग्रह से पन्यासजी महाराज को वचनबद्ध होना पडा । आपकी इस उदारता और ज्ञान-भक्ति को सुनकर हमको बहुत आनन्दाश्चर्य हुआ। आपकी इस उदारता के बदले में हम आपको धन्यवाद देने मे गौरव का अनुभव करते है ।

हम है आपके प्रशसक ।
शाह मुनिलाल थानमलजी
एवं समिति के अन्य सदस्य ।

निबन्धों में मीमांसित अन्तर्गत ग्रन्थों और विषयों की नामावली

२०वें निबन्ध में

२१वें निबन्ध में

२२वें निबन्ध में

२४वे निवन्ध मे

३०वे निबन्ध मे

३९वे निवन्ध मे

श्री हरिभद्रीय सटीक अनेकान्तजयपताका में

. . . ऐतिहासिक नाम . :

पृष्ठ ६ सर्वज्ञ-सिद्धि-टीका ।

„ ८ कुक्काचार्यादितिमिरस्मद्वंशजै० ।

„ ४२ कुक्काचार्यादिचोदित ।

„ ५७ मल्लवादिना सम्मतौ ।

१०५ उक्तं च = धर्मकीर्तिना इति वार्तिके ।

„ ११६ उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ ॥ विशेषस्तु सर्वज्ञ सिद्धिटीकातोऽवसेयः ॥

„ १३५ उक्तं च धर्मकीर्तिना ।

„ २०० धर्मकीर्तिवार्तिके ।

„ २२९ एतेन यदाह न्यायवादी = धर्मकीर्तिवार्तिके ।

११४ आह च न्यायवादी = धर्मकीर्तिः ॥ (मू०)—च पूर्वाचार्यैः भदन्त दिन्नप्रभृतिभिः ॥

„ ११७ (मू०) यथोक्तम्—भदन्त दिन्नेन ॥ यथोक्तम् = वार्तिकानुसारिणा शुभगुप्तेन ॥

१४७ उक्तं च न्यायवादिना = धर्मकीर्तिना ॥

१५७ तथा चाहुर्वृद्धाः = वृद्धाः = धर्मार्थव्यवहारविदः पाणिनीयाः ॥

१६६ आह च धर्मार्थतत्त्ववित् = भर्तृहरिः ॥

„ १६८ यदाह = भाष्यकारः ॥

१७५ आह च वादिमुख्यः = समन्तभद्रः ॥

„ १८५ आह च भाष्यकारः = पतञ्जलिः ॥

१८७ उक्तं भर्तृहरिणा ॥

१८८ भाष्यकारः = पतञ्जलिः ॥

पृष्ठ ३८२ एव शब्दब्रह्मपरिवर्तमात्र जगत् इति प्रलापमात्रम् ॥
,, ३३ पूर्वाचार्यै =अजितयशःप्रभृतिभिः ॥
,, ३६ पूर्वाचार्यै. =धर्मपाल-धर्मकीर्त्यादिभिः ॥
,, ३९ न्यायवादो =धर्मकीर्तिः ॥
,, ४९ सर्वज्ञसिद्धौ ॥
,, ६८ निर्णीतमेतद् गुरुभिः प्रमाणमीमासादिषु ॥
,, ९९ न्यायवादी =धर्मकीर्ति ॥
,, १२६ उक्त च धर्मकोर्तिना ॥
,, १३० धर्मकोर्तिना =भवत्तार्किकचूडामणिना ॥
,, १३१ स्वयूथ्यैः =दिवाकरादिभिः सन्मत्यादिषु इति ॥
,, १७४ धर्मकीर्तिनाऽप्यभ्युपगतत्वात्, हेतुबिन्दौ ॥
,, २२० तथा चार्षम्-"सो हु तवो कायव्वो०" ॥

निबन्धों की नामावली

卐 श्री 卐

निबन्ध-निचय

प्रथम खण्ड

卐 卐

श्वेताम्बर जैन साहित्य
का
अवलोकन

卐

हरिभद्रसूरिकृता स्वोपज्ञटीका सहिता

: १ :

अनेकान्तजयपताका

❖

[प्रथम भाग]

पृ० ६ "सर्वज्ञसिद्धिटीका," पूर्वगुरुभि = चिरन्तनवृद्धै ,

,, ८. पूर्वसूरिभि = पूर्वाचार्यै सिद्धसेनदिवाकरादिभि । ह्यनिन्द्यो मार्ग पूर्वगुरुभिश्च कुक्काचार्यादिभिरस्मद्वशजैराचरित इति ।।

,, ९ स्वशास्त्रेषु = (सम्मत्यादिषु) ।।

,, १० निष्कलकमतय = बौद्धा ।।

,, ४२. कुक्काचार्यादिचोदित प्रत्युक्त—निराकृतम् इति सूक्ष्मधिया भावनीयम् ।।

,, ५८ (मू०—) उक्त च वादिमुख्येन = मल्लवादिना सम्म (न्य) तो— स्वपरेत्यादि ।।

,, १०५ (मू० च) उक्त च = धर्मकीर्तिना इति वार्तिके ।।

,, ११६ (मू०) उक्त च वादिमुख्येन, = श्रीमल्लवादिना सम्मतौ ।। विशेषस्तु सर्वज्ञसिद्धिटीकातोऽवसेयः ।। टीकायाम् ।।

,, १३५. उक्त च धर्मकीर्तिना ।।

,, २०० (मू०) आह च न्यायवादी = धर्मकीर्तिर्वार्तिके ।।

,, २२९ (मू०) एतेन यदाह न्यायवादो = धर्मकीर्तिर्वार्तिके ।।

,, ३३४. (मू०) आह च न्यायवादी = धर्मकीर्ति ।। (मू०)—व पूर्वाचार्यै. भदन्तदिन्नप्रभृतिभि ।।

,, ३३७. (मू०) यथोक्तम्—भदन्तदिन्नेन ।। (मू०) यथोक्तम् = वार्तिकानुसारिणा शुभगुप्तेन ।।

,, ३४७ (मू०) उक्त च न्यायवादिना = धर्मकीर्तिना ।।

पृ० ३५७ (मू०) तथा चाहुर्वृद्धा = वृद्धा = शब्दार्थव्यवहारविद पाणिनीया ॥
, ३६६ (मू०) आह च शब्दार्थतत्त्वविद् = भर्तृहरि ॥
३६८ (मू०) यदाह = भाष्यकार ॥
, ३७५ (मू०) आह च वादिमुख्य = समन्तभद्र ॥
,, ३८१ (मू०) आह च भाष्यकार—पतञ्जलि ॥
,, ३८७ उक्त भर्तृहरिणा ॥
३८८ भाष्यकार = पतञ्जलि ॥
३८२ एव शब्दब्रह्मपरिवतमात्र जगत् इति प्रलापमात्रम् ॥ (मू)

[दूसरा भाग]

पृ० ३३ पूर्वाचार्य = अजितयश प्रभृतिभि ॥
३६ पूर्वाचार्य = धर्मपाल—धर्मकीर्त्यादिभि ॥
३६ (मू०) न्यायवादी = धर्मकीर्ति ॥
४६ (मू०) सर्वज्ञसिद्धौ ॥
,, ६२ विशिकोक्तवचनसमर्थनात् ॥
,, ६८ (मू०) निर्णीतमेतद् गुरुभि प्रमाणमीमांसादिषु ॥
,, ६६ (मू०) न्यायवादी = धर्मकीर्ति ॥
,, ११५ (मू) इत्यादि वार्तिककारेणोक्त तदुक्तिमात्रमेव ॥
, १२६ उक्त च धर्मकीर्तिना ॥
१३० (मू) धर्मकीर्तिना = भवतार्किकचूडामणिना ॥
१३१ (मू०) स्वयूथ्य = दिवाकरादिभि सन्मत्यादिषु इति ॥
१७४ (मू०) धर्मकीर्तिनाऽभ्युपगतत्वात् हेतुबिन्दौ ॥
१७६ (मू०) यथाऽऽह न्यायवादी = धर्मकीर्ति ॥
२२० तथा चार्षम्— 'सो हु तवो कायव्वो० ॥
,, २२०. कायो न केवलमय परितापनीयो
मिष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीय ।
चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेषु,
वश्यानि येन च तदाचरितं जिनानाम् ॥
२४१ सितपटहरिभद्रग्रन्थसन्दर्भगर्भं
विदितमभयदेव निष्कलङ्काकलङ्कम् ।

सुगतमतमथालकार पर्यन्तमुच्चै--
स्त्रिविधमपि च तर्कं वेत्ति य' साङ्ख्य-भट्टो ।।४।।
श्रीमत्सगर्मसिंहसूरिसुकवेस्तस्याङ्घ्रिसेवापर,
शिष्य श्रीजयसिंहसूरिविदुषस्त्रैलोक्यचूडामणे. ।
य श्री 'नागपुर' प्रसिद्धसुपुरस्थायी श्रुतायाऽऽगत,
श्लोकान् पच चकार सारजडिमाऽसौ यक्षदेवो मुनि ।।५।।
मूलश्लोकपुराण ग्र० ३७५० ।।

आचार्य हरिभद्र के आगमिक दार्शनिक साहित्यिक आदि अनेक विषय के ग्रन्थ पढे, लेकिन अनेकान्तजयपताका मे तथा उसकी स्वोपज्ञ टीका मे जितने जैन जैनेतर ग्रन्थकारो के नामनिर्देश मिले, उतने अन्यत्र कही नही, आचार्य श्री ने अपने पूर्वज कुक्काचार्य का दो स्थान पर नामनिर्देश किया, वादिमुख्य के नाम से सम्मतिटीकाकार मल्लवादी का दो जगह पर नाम निर्देश किया है, वादिमुख्य इस नाम से समन्तभद्र को भी याद किया है। अजितयश प्रभृति से श्वेताम्बर आचार्य का नामोल्लेख किया है, सम्मतिकार के रूप मे सिद्धसेन दिवाकर को भी याद किया है। "प्रमाण-मीमासा", "सर्वज्ञसिद्धि" और "सर्वज्ञसिद्धि टीका' का भी अनेक बार उल्लेख किया है, इनमे से सर्वज्ञसिद्धि, तथा सर्वज्ञसिद्धि टीका—ये दो ग्रन्थ इनके खुद के मालूम होते हैं। तब "प्रमाण-मीमासा" इनके गुरु अथवा प्रगुरु की होगी ऐसा उल्लेख से पता लगता है, जैनेतर विद्वानो मे महाभाष्यकार पतञ्जलि, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि और महर्षि पाणिनि, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शुभगुप्त, भदन्तदिन्न, इन नामो का उल्लेख किया है। वसुबन्धु की विंशिका तथा असग के ग्रन्थ के अवतरण दिये हैं, धर्मकीर्ति का तथा उसके प्रमाण-वार्तिक का बार-बार उल्लेख किया है, परन्तु प्रमाण-वार्तिक के भाष्यकार प्रज्ञाकर गुप्त, जो विक्रम की अष्टमी शती के ग्रन्थकार हैं, इनके अथवा इनके ग्रन्थ का कही नाम निर्देश नही किया, इससे ज्ञात होता है, कि आचार्य हरिभद्र की सत्ता विक्रम की अष्टम शती के मध्य भाग तक रही होगी, जब कि प्रज्ञाकर गुप्त की कारकीर्दी शुरु नही हुई थी।

卐 卐

: २ :

योग-विन्दु सटीक

श्रीहरिभद्र सूरि रचित

❖

योगबिन्दु-ग्रन्थ में कुल ५२६ कारिकाएं हैं। दो स्थलों पर मूल कारिका में 'अविद्या" शब्द का प्रयोग हुआ है। यद्यपि अविद्या शब्द बौद्धों के विज्ञानवाद में भी पाया करता है परन्तु कारिका ११२ वी में पुरुषाद्व त तथा कारिका ११५ वीं में समुद्र तथा उर्मियों के एकत्व का आचार्य ने खण्डन किया है इससे ज्ञात होता है आचार्य हरिभद्रसूरि के समय में उपनिषदों का वेदान्तवाद प्रचलित हो चुका था।

ग्रन्थ की उपान्त्य कारिका में आचार्य ने अपना स्पष्ट रूप से नाम उल्लेख किया है और अन्तिम कारिका ५२६ वीं में भवान्ध्य-विरहात्' इस प्रकार अपना नियत अंक भी लिख दिया है परन्तु इसकी टीका स्वोपज्ञ होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। टीका का प्रारम्भिक मंगल भी हरिभद्र के मगल की पद्धति के अनुसार नहीं है। टीका में 'पडिसिद्धाण करणे' यह गाथा आगम के नाम से उद्धृत की है जब कि आचार्य हरिभद्र सूरिजी के जीवनकाल के पूर्व 'वन्दित्तु' सूत्र निर्मित होना प्रमाणित नहीं होता इसके अतिरिक्त टीका में बहुत से उल्लेख ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं जो इसकी प्राचीनता के बाधक है ग्रन्थ में टीकाकार ने भगवतो हरिभद्रसूरेः" यह जो शब्दप्रयोग किया है इससे टीका हरिभद्र कृत नहीं यही सावित होता है।

पुस्तक-सम्पादक डा० स्वेली ने टीकाकार का नाम निर्देश नहीं किया इससे भी यही ज्ञात होता है वे इस टीका को हरिभद्रकृत नहीं मानते थे।

卐 卐

: ३ :

योग दृष्टि समुच्चय-सटीक

❖

"योगदृष्टिसमुच्चय" भी आचार्य हरिभद्र की कृति है, जो १२६ कारिकाओ मे पूरी होती है।

इसकी टीका को सम्पादक सुएली ने स्वोपज्ञ माना है, क्योकि इसके अन्त मे "कृति श्री श्वेतभिक्षोराचार्यश्रीहरिभद्रस्येति" यह वाक्य लिखा मिलता है, परन्तु यह वाक्य टीका के साथ सम्बन्ध नही रखता, यह सूचना मूल कृति के लिए ही है।

योगदृष्टिसमुच्चय की १२८ वी कारिका मे "सदाशिव- पर ब्रह्म" इस प्रकार उपनिषदो के "पर ब्रह्म" का उल्लेख भी मिलता है।

टीका मे अर्वाचीनता-साधक प्रमाण भी उपलब्ध नही होता, फिर भी टीका का प्रारभिक आडम्बर हरिभद्र की कृति होने मे शका उत्पन्न करता है।

卐 卐

१ ४ ६

जैन तर्क वार्तिक

❖

श्री शान्त्याचार्य विरचितवृत्ति सहितम्

'जैनतर्कवार्तिक' शान्त्याचार्य की कृति है ग्रन्थकार ने अपने सत्ता समय का कुछ भी सूचन नहीं किया वृत्ति की प्रशस्ति में आपने अपने को चन्द्रकुलीन आचार्य वर्द्धमान का शिष्य बताया है और अपने गुरु को रत्नांबुधि बतलाया है इससे इतना तो सिद्ध होता है कि प्रस्तुत शान्तिसूरि तथा इनके गुरु वर्द्धमानाचार्य सविग्न विहारी थे, जिनेश्वरसूरि के गुरु वर्द्धमान सूरि तथा नवांगीवृत्तिकार अभयदेव सूरि के मुख्य शिष्य का नाम भी वर्द्धमान सूरि था ये भी सविग्न विहारी थे इस परिस्थिति में जैनतर्कवार्तिककार कौन से वर्द्धमान सूरि के शिष्य होंगे यह कहना कठिन है परन्तु प्रथम वर्द्धमान सूरि के अनेक शिष्यों प्रशिष्यों का जिनदत्त सूरि ने अपने गणधरसार्द्धशतक में नाम निर्देश किया है परन्तु उसमें शान्त्याचाय का नाम नहीं मिलता परिशेषात् द्वितीय वर्धमान सूरि के शिष्य ही शान्त्याचार्य होंगे ऐसा अनुमान करना पड़ता है यद्यपि प्रथम वर्द्धमान सूरि के समकालीन एक और भी शान्तिसूरि हुए हैं परन्तु यह कृति उनकी होने में हमें विश्वास नहीं बैठता एक तो वे थारापद्र गच्छ के थे दूसरा इनके गुरु का नाम वर्द्धमान सूरि नहीं था तीसरा वे बड़े प्रौढ़ तार्किक विद्वान् थे। जैनतर्कवार्तिक उनकी कृति होती तो इस का विस्तार तथा स्वरूप और ही होता जो कि प्रस्तुत वार्तिक भी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है फिर भी इसका कलेवर बहुत छोटा है बौद्धों जैन विद्वानों नैयायिकों और मीमांसक विद्वानों ने वार्तिक नाम से जो ग्रन्थ बनाये हैं वे सभी गम्भीर और आकर ग्रन्थ हैं इससे मानना पड़ता है इस प्रस्तुत न्यायवार्तिक के कर्ता थारापद्र गच्छीय शान्तिसूरि नहीं हो सकते।

मुद्रित जैनतर्कवार्तिक के सम्पादकीय वक्तव्य मे सम्पादक प० विट्ठल **शास्त्री लिखते हैं—"शान्त्याचार्य** ने सिद्धसेन के जैनतर्कवार्तिक पर यह वृत्ति लिखी है," परन्तु वास्तव मे यह वात नही है, जैनतर्कवार्तिक के चारो परिच्छेदो की मूल कारिकाए भी शान्त्याचार्य की रचना है,—

"तत् प्रमाण प्रवक्ष्यामि, सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥ १ ॥"

इस वाक्य मे उल्लिखित "सिद्धसेनार्क-सूत्रितम्" इन शब्दो मे सम्पादक को सिद्धसेनकृति होने का भ्रम हो गया है। वास्तव मे इन शब्दो का अर्थ यह है कि "सिद्धसेन के ग्रन्थो मे जिस प्रमाण का सूत्रण हुआ है उसी का भाव लेकर मैं जैनतर्कवार्तिक को कह रहा हू। ऐसा **शान्त्याचार्य** का कथन है।

प्रत्यक्ष परिच्छेद के अन्त मे शान्त्याचार्य स्वय कहते है—सिद्धसेन निर्मित ग्रन्थो की वाणी रूपी सिद्धशलाका को पाकर मैं ने इस प्रकरण को निर्मल बनाया, इस कथन से स्पष्ट हो जाता है, कि जैनतर्कवार्तिक शान्त्याचार्य की खुद की कृति है।

शान्त्याचार्य अपने स्वोपज्ञ जैनतर्कवार्तिक की वृत्ति मे कहते हैं—चूडामणि, केवलि-प्रमुख अर्हत्प्रणीत है, वे उसी स्थल पर "सर्वज्ञवाद टीका" मे आई हुई प्रमाण परिच्छेद की एक मूल कारिका मे आए हुए "एके" इस शब्द का परिचय देते हुए लिखते हैं कि "एके" "अनन्तवीर्यादय" इससे निश्चित हो जाता है, जैनतर्कवार्तिक मूल शान्त्याचार्य की कृति है, सिद्धसेन की नही। अनन्तवीर्य का समय दिगम्बर विद्वान् ग्यारहवी शताब्दी के आसपास होने का अनुमान करते हैं, जब कि सिद्धसेन सभवत पचम शताब्दी से पहले के हैं, इस दशा मे सिद्धसेन के ग्रन्थ मे अनन्तवीर्य के मन्तव्य का उल्लेख नही हो सकता। शान्त्याचार्य ने अपनी वार्तिक वृत्ति मे विन्ध्यवासी, धर्मकीर्ति, नयचक्रकार के नामो का भी उल्लेख किया है।

: ५ :

जयसिंह सूरि विरचित

धर्मोपदेश माला-प्रकरण

इस माला में मूल ६८ गाथाएं हैं जिनमें १५८ दृष्टान्तों का सूचन किया गया है और इसके विवरणकार स्वयं ग्रन्थकार हैं। विवरण में कुछ विस्तार से कुछ मध्यम विस्तार से दृष्टान्त वर्णन किये हैं, तब कुछ दृष्टान्तों के नाम मात्र निर्दिष्ट किये हैं। दृष्टान्त सर्व प्राकृत भाषा में हैं, केवल गाथा की व्याख्या संस्कृत भाषा में है। बहुत से दृष्टान्तों का विशेष विवरण जानने के लिए 'उपदेशमाला का विवरण' देखने की सूचना की है इससे जाना जाता है कि जयसिंह सूरि ने धर्मदास गणि की उपदेशमाला पर विस्तृत टीका लिखी होगी।

ग्रन्थ के अन्त में जम्बू से देवश्रावक तक स्थविरावली और अपनी गुरु-परम्परा गाथाओं में दी है। ग्रन्थ की समाप्ति सं० ९१५ के भाद्रपद शुक्ला पंचमी के बुधवार को की है।

ग्रन्थ में ऐतिहासिक नाम स्थविरावलियों के अतिरिक्त श्री वादिकाधाय सिद्धसेन दिवाकर तथा वाचकमुख्य (उमास्वाति) ये तीन आये हैं।

जातक का नामकरण करने के सम्बन्ध में एक स्थान पर बारहवें दिन और अन्यत्र मास के बाद करने का लिखा है।

ज्योतिष के सम्बन्ध में निर्देश करते हुए लग्न" का निर्देश कहीं नहीं किया किन्तु 'वार' का निर्देश ग्रन्थ की समाप्ति में अवश्य किया है।

卐 卐

: ६ :

सुपासनाहचरिय

श्री लक्ष्मण गणि विरचित

सपादक तथा छायालेखक . पं० हरगोविन्ददास

यह चरित्र हर्षपुरीय गच्छ के विद्वान् लक्ष्मण गणि ने वि० स० ११९९ के माघ शुक्ल दशमी गुरुवार के दिन मडली (माडल) नगर मे रचा है।

चरित्र का गाथा-प्रमाण लगभग सात हजार से अधिक है जिसका अनुष्टुप श्लोक प्रमाण १०१३८ है।

चरित्र की प्राकृत भाषा प्रासादिक तथा प्राजल है, बीच-बीच प्राकृत तथा सस्कृत भाषा मे चुभने वाले सुभाषित पद्य भी उपलब्ध होते हैं।

चरित्र मे सातवें तीर्थङ्कर श्री सुपार्श्वनाथ का जीवनचरित्र, उनके चतुर्विध सघ के वृतान्त के साथ दिया है, चरित्र के कुल ५०२ पानो मे से ८२ पानो मे भगवान् का जीवन-चरित्र सम्पूर्ण हुआ है, तब शेष ४२१ पानो मे केवल औपदेशिक कथानक हैं। सम्यक्त्व से लेकर बारह व्रत और उनके प्रत्येक अतिचार पर एक एक तथा एकाधिक दृष्टान्त लिखे गए हैं जिनमे अधिकाश ग्रन्थ पूरा हुआ है।

ग्रन्थ के अन्त मे ग्रन्थकार ने अपना परिचय देने वाली एक प्रशस्ति भी दी है, जिसके आधार मे आपके पूर्व गुरुओ का तथा गच्छ का परिचय इस प्रकार मिलता है—आपने अपने आदि गुरु का नाम 'जयसिंह सूरि' उनके शिष्य का नाम 'अभयदेव सूरि' और उनके शिष्य का नाम 'हेमचन्द्र सूरि' बताया है। प्रश्नवाहन कुल और हर्षपुरीय-गच्छ के आदि

पूज्य जयसिंह सूरि' 'अभयदेव सूरिजी' और हेमचन्द्र सूरि' ये महान् विद्वान् होने के अतिरिक्त महान् त्यागी तथा राज-मान्य भी थे।

आचार्य हेमचन्द्र के चार विद्वान् शिष्य थे पहले श्रीचन्द्र सूरि दूसरे विबुधचन्द्र सूरि, तीसरे पद्मचन्द्र उपाध्याय और चौथे श्री लक्ष्मण गणि।

श्री लक्ष्मण गणि ने अपने उपर्युक्त तीन गुरु-भ्राताओं की प्रेरणा से प्रस्तुत सुपार्श्वनाथचरित्र' का निर्माण किया है ग्रन्थकर्ता ने इसमें रही हुई क्षतियों को सुधारने के लिए प्रार्थना की है जो एक शिष्टाचार रूप है क्योंकि आपकी यह कृति निर्दोष और विद्वद्भोग्य है प्राकृत के अभ्यासियों को इसके पढ़ने से आनन्द आने के साथ प्राकृत भाषा का ज्ञान विशद होने का भी लाभ मिल सकता है।

: ७ :

श्री पिण्डनिर्युक्ति और पिण्डविशुद्धि

❖

(१) अवचूरि-क्षमारत्न कृता
(२) टीका-वीरगणि कृता (त्रुटिता)
(३) दीपिका-माणिक्यशेखर कृता (त्रुटिता)

पिण्डनिर्युक्ति जैन श्रमण श्रमणियो के ग्राह्य भोग्य पेय आहार पानी का निरूपण करने वाला एक प्राचीन निवन्ध है, इस पर अनेक पूर्वाचायो ने टीकाएँ लिखी थी, परन्तु अब वे सब पूर्ण रूप से नही मिलती, आचार्य श्री मलयगिरिजी ने पिण्डनिर्युक्ति पर टीका लिखी है और वह छप भी गई है, परन्तु इस टीका का अवलोकन पृथक् लिखा गया है, इसलिए यहाँ इसकी चर्चा नही करेंगे, यहाँ पर अचल-गच्छीय विद्वान् क्षमारत्न की अवचूरि, सरवाल-गच्छीय वीरगणि की शिष्यहिता नामक टीका और अचल-गच्छीय मेरुतुगाचार्य के शिष्य माणिक्यशेखर की दीपिका, इन तीन टीकाओ के सम्बन्ध मे कुछ लिखेंगे ।

सामान्य रूप से टीकाकार पिण्डनिर्युक्ति को श्रुतधर श्री भद्रबाहुस्वामी की कृति मानते हैं, परन्तु यह मान्यता यथार्थ नही है, क्योकि इसमे भद्रवाहु के परवर्ती आचार्य आर्यसमित, तथा नागहस्ती के शिष्य आचार्य श्री पादलिप्त सूरि के वृत्तान्त आते हैं, इससे हमारी मान्यता के अनुसार यह निर्युक्ति विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के बाद की हो सकती है ।

(१) पिण्डनिर्युक्ति की अवचूरि के कर्त्ता श्री क्षमारत्नजी श्री विधपिक्ष गच्छ (अचलगच्छ) के आचार्य श्री जयकीर्ति सूरिजी के शिष्य थे,

अवचूरिकार ने अपनी कृति का निर्माणसमय सूचित नहीं किया, फिर भी वे विक्रम की पन्द्रहवीं शती के व्यक्ति हो सकते हैं, क्योंकि इनके गुरु श्री अमरकीर्ति सूरि का भी यही समय है।

यह अवचूरि निर्युक्ति की बृहद् वृत्ति को देख कर उसे गम्भीरार्थ जानकर इन्होंने निर्युक्ति पर प्रस्तुत प्रकटार्था अवचूरि लिखी है और इसमें कोई असंगत बात लिखी गई हो तो उसका संशोधन करने की प्रार्थना की है।

अवचूरि का श्लोकपरिमाण लगभग तीन हजार होने का ग्रन्थ में सूचन किया है।

(२) पिण्डनिर्युक्ति टीकाकार सत्वालगच्छीय श्री वीरगणी

आचार्य वीरगणि ने पंचपरमेष्ठी की स्तुति करने के उपरान्त पिण्ड निर्युक्ति की शिष्यहिता वृत्ति बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए लिखा है पंचाशक आदि शास्त्रसमूह के बनाने वाले आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने इस निर्युक्ति पर विवरण बनाना प्रारम्भ किया था परन्तु 'स्थापना-दोष' पर्यन्त इसका विवरण बनाने के बाद वे स्वर्गवासी हो गए थे इसलिये उसके आगे की विवृत्ति वीराचार्य नामक किन्हीं आचार्य ने समाप्त की है परन्तु उसमें अनेक गाथाएं सुगमा' कह कर छोड़ दी हैं और जिन पर विवरण किया है उन्हें भी वर्तमानकालीन मन्दमति पाठकों के लिए समझना कठिन है। अत' सारी पिण्डनिर्युक्ति की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए मेरा यह प्रयास है।

उपर्युक्त आशय वाले लेख में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी के निर्युक्ति पर की विवृति समाप्त करने के पूर्व ही स्वर्गवासी होने की जो बात लिखी है वह ठीक नहीं जान पड़ती पिण्डनिर्युक्ति की विवृति ही नहीं तत्त्वार्थ वृत्ति आदि अन्य भी हरिभद्रसूरि कृत ग्रन्थ आज अपूर्ण अवस्था में मिलते हैं इसका कारण यह नहीं कि वे समाप्त हुए ही नहीं थे किन्तु इस अपूर्णता का खरा कारण तो ग्रन्थभण्डार सम्हालने वाले गृहस्थों की बेदरकारी है,

उपदेहिका आदि कीटो के खा जाने से, पढने को ले जाने वाले व्यक्ति के पास रह जाने से, अथवा तो अन्य किसी कारण से पुस्तक का अमुक भाग खण्डित हो जाता है। ग्रन्थनिर्माता दो चार ग्रन्थो को एक साथ बनाना प्रारम्भ करता हो, तो उसका आयुष्य समाप्त होने पर वे सभी प्रारब्ध ग्रन्थ अपूर्ण रह सकते है, परन्तु विद्वान् ग्रन्थकारो की प्राय. ऐसी पद्धति नही होती, वे एक कृति के समाप्त होने पर ही दूसरी कृति का निर्माण प्रारम्भ करते हैं। आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने सैकडो ग्रन्थ बनाए थे परन्तु आज अमुक ग्रन्थ ही उपलब्ध होते है, इसका भी कारण यही है कि अनुपलब्ध ग्रन्थो मे से अधिकाश ग्रन्थ काल का ग्रास बन चुके है। आचार्य हरिभद्र-सूरिजी के ग्रन्थो को बने तो सैकडो वर्ष हो चुके है, परन्तु स्वय श्री वीरगणि की शिष्यहिता टीका भी वर्षों पहले नष्टप्राय हो चुकी है, आज उसका आदि तथा अन्त का थोडा-थोडा भाग शेष रहा है, यही दशा हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थो की हुई है।

टीका के उपोद्घात मे श्री वीरगणिजी लिखते है : 'दशवैकालिक श्रुतस्कन्ध पर श्री भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति बनाई है, उसमे पिण्डैषणा नामक पचम अध्ययन का ग्रन्थ अधिक होने से उसका "पिण्डनिर्युक्ति" यह नाम देकर शेष ग्रन्थ से इसे पृथक् किया, वास्तव मे पिण्डनिर्युक्ति ही दशवैकालिक निर्युक्ति है।

विद्वान् आचार्य वीरगणि की प्रस्तुत शिष्यहिता टीका बडे महत्त्व की कृति थी, परन्तु दुर्भाग्य-योग से आज वह नष्टप्राय हो चुकी है, यह यदि सम्पूर्ण विद्यमान होती तो क्षमारत्नजी को अवचूरि और माणिक्यशेखर को दीपिका लिखने का साहस ही पही होता, ऐसी वीरगणि की शिष्यहिता विशद विवरण करने वाली टीका थी। इसके विशद विवरण के सम्बन्ध में हम एक उदाहरण उपस्थित करेंगे। सूत्रो मे आने षाले "पायपुछण और रयहरण" नामक जैन श्रमणो के दो उपकरणो के विवरण के सम्बन्ध मे जैन टीकाकारो मे बडा भ्रम फैला हुआ है, श्री अभयदेवसूरि जैसे टीकाकार "पायपुछण" और "रयहरण" को एक दूसरे का पर्याय मानते थे, जहा

'पायपुंछरणं' शब्द आया है वहां सर्वत्र 'पादप्रोञ्छनकं—रजोहरणं' यह अर्थ किया है कल्पसूत्र की सामाचारी में आने वाले इन दो शब्दों की भी यही व्याख्या की गई है। पाक्षिक सूत्र में आने वाले क्षामणक पाठ' में भी हस्तलिखित प्रतियों में 'पायपुञ्छणं वा रयहरणं वा' इस प्रकार का अब भी पाठ विद्यमान है परन्तु साहित्य का प्रकाशन होने के बाद सशोधक-सम्पादकों ने 'रयहरणं' शब्द को निकालकर केवल 'पायपुञ्छणं' शब्द रख छोड़ा है यह एक प्रकार की महत्वपूर्ण भूल प्रचलित की है कल्प टीका कारों ने भी जहां कहीं 'पायपुञ्छणं' शब्द आया वहां रजोहरणं' अर्थ लिख दिया परन्तु यह नहीं सोचा कि भिक्षु कहीं भी काय निमित्त बाहर जाता है वहां अपनी 'उपधि' वस्त्र पात्र पादप्रौञ्छन' आदि दूसरे श्रमण को सम्भालने के लिए सौंप कर जाता है यदि "पादप्रोञ्छन—रजोहरण होता तो साधु दूसरों को सौंप कर कसे जाता? क्योंकि 'रजोहरण' तो प्रति साधु व्यक्ति के पास एक ही होता है और वह प्रत्येक के पास रहता है किसी को सौंपा नहीं जाता। इस सम्बन्ध में हमने जो निर्णय किया था कि पादप्रोंछन' रजोहरण नहीं किन्तु उसके ऊपर बान्धे जाने वाले ऊनी वस्त्रखण्ड का नाम होना चाहिए, जो आजकल "निसिथिया' कहलाता है इसका खरा नाम निपद्या' है जिसका अर्थ बैठने के समय बिछाने का आसन होता है क्योंकि इसका प्रमाण भी शास्त्र में एक हाथ चार अंगुल का बताया है। पूर्वकाल में जब बिछाने के ऊनी आसन आजकल की तरह जुदा नहीं रखते थे तब प्रसंग आने पर इस वस्त्रखण्ड को जुदा पाड़ कर पग पोंछे जाते थे और बैठने के प्रसग पर जमीन पर बिछाया भी जाता था परन्तु मध्यकालीन टीकाकारों ने इसके सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं किया था जैसा कि आचार्य वीरगणी ने अपनी शिष्यहिता टीका में किया है। साधुओं क उपकरणों का निरुपण करते हुए व लिखते हैं

'पात्रस्य—भाजनस्य प्रत्यवतार.—परिकर:— 'पत्तगबरजोयत्ति' पात्रक बरजक एव — पतद्ग्रहरहित एव पात्रनिर्योग—पात्रकबन्धादिकं परिबर्घ भाजनोपकरणं तथा द्वे-द्विसंख्ये निषद्ये पुमा रजोहरणं—उपकरणविशेष रूप—पुम' ज्ञेय इति दोष अभ्यितरत्ति अभ्यितरा-अभ्यर्न्तिनी तथा बाह्या

वहिर्वर्तिनी, चैवेति समुच्चये, इह सम्प्रति या दशिकादिभि सह दण्डिका क्रियते सा आगमविधिना केवलैव स्यात्तस्या निपद्यात्रय, स्यात्तन्मीलित रजोहरण भण्यते तत्रैका दण्डिका यास्त्रिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुत्वैकहस्तदीर्घोर्णा-मयादिकवलीखण्डरूपा स्यात्तस्याश्चाग्रे दशिका स्यु, ता च सदशिकामग्रे-रजोहरणशब्देन भणिष्यतीत्यसौ नात्र ग्राह्या, द्वितीया त्वेनामेव तिर्यग् बहिर्वेष्टकैराच्छादयन्त्येकहस्तविस्तरादि किंचिदधिकैकहस्तदीर्घा वस्त्रमयी स्यात्, साऽत्राऽभ्यन्तरेति ग्राह्या, तृतीया त्वेतस्या एव वहिस्तिर्यग् वेष्टकान् कुर्वती चतुरगुलाधिकैकहस्तमाना चतुरस्र कबलमयी स्यात्, सा चाधुनो-पवेशनोपकारित्वात्पादप्रोञ्छनकमिति रूढा, दण्डिका तूपकरणसख्याया न गण्यते, रजोहरस्योपष्टम्भिका मात्रत्वेन विवक्षितत्वादिति।"

'पात्र का प्रत्यवतार, उसके परिकर को कहते हैं, और पात्रपरिकर जो पात्रबन्धादिक छ प्रकार का होता है, जिसमे पात्र शामिल नही होता; उसे 'पात्रनिर्योग' भी कहते हैं, तथा दो निषद्याए और रजोहरण जो उपकरण विशेष होता है उसका स्वरूप इस प्रकार का होता है, ऊपर जो दो निषद्याए कही है, उनमे से एक अभ्यन्तर वर्तिनी तथा दूसरी बाह्य निषद्या सूती कपडे की होती है, आजकल दशी आदि के साथ डाडी रखी जाती है, वह आगम विधि के अनुसार या अकेली होती है, इस दशी युक्त कम्बलखण्ड के साथ दो निषद्याएँ मिलाने से रजोहरण बनता है। तात्पर्य यह है कि रजोहरण मे डाडी पर बीटने का कम्बलखण्ड, जो विस्तार मे तीन आटे आए उतना और लम्बाई मे हाथ भर लम्बा होता है, उसके आगे दशिया रहती हैं, उसी ऊर्णा वस्त्रखण्ड को जिसके आगे दशिया सलग्न हैं, रजोहरण कहते है, इसको दो निषद्याओ मे न समझना चाहिए, इसके ऊपर बीटा जाने वाला सूती वस्त्रखण्ड जो विस्तार मे एक हाथ के लगभग होता है और लम्बाई मे एक हाथ से कुछ अधिक, इसको वस्त्रमयी निषद्या कहते हैं, इसको अभ्यन्तर निषद्या समझना चाहिए। तीसरी इसी के ऊपर बीटी जाने वाली कम्बलमयी निपद्या होती है, जो एक हाथ चार अगुल समचौरस होती है और तीसरी यह निषद्या आजकल बैठने के काम मे ली जाती है, इसलिए यह "पादप्रोञ्छनक" इस नाम से प्रसिद्ध

है रजोहरण के भीतर की दडी उपकरण में परिगणित नहीं है इसका रजोहरण की उपग्रन्थिका मात्र माना जाता है ।

आचार्य श्री वीरगणी वसतिवासी और वहारिक चन्द्रगच्छ में चन्द्र समान श्री समुद्रघोष सूरि के शिष्य श्री ईश्वरगणी के शिष्य थे। आपका सरवालक गच्छ था। पिण्डनिर्युक्ति की यह वृत्ति आचार्य श्री वीरगणी ने कर्करोणिका पार्श्ववर्ति वटपद्र ग्राम (वडोदा) में रहकर विक्रम स० ११६० में निर्मित की। इसके निर्माण में ईश्वरगणी के शिष्य आचार्य श्री महेन्द्र सूरि श्री देवचन्द्र गणी और द्वितीय देवचन्द्र गणी इन तीनों ने आपको अन्य कार्यप्रवृत्तियों से निवृत्त रखकर सहायता की है और अणहिल पाटक नगर में आचार्य श्री नेमिचन्द्रसूरि श्री जिनदत्तसूरि आदि आचार्यों ने उपयोग पूर्वक इसका संशोधन किया है। इस पर भी किसी को इसमें कोई दोष दृष्टिगोचर हो तो मेरे पर कृपा कर सुधार दें ऐसी आपने प्रार्थना की है। इस वृत्ति में ग्रन्थ प्रमाण ७६७१ श्लोक है।

(२) पिण्डनिर्युक्ति-दीपिका

माणिक्यशेखरीय दीपिका के उपोद्घात में टीकाकार लिखते हैं कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पहला और दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन पिण्डैषणा का निरूपण करता है। इसकी निर्युक्ति महार्थक होने से श्री भद्रबाहु ने पृथक् बनाई जो पिण्डनिर्युक्ति के नाम से ही प्रसिद्ध है। दशवैकालिक सूत्र के पंचम अध्ययन की निर्युक्ति संक्षिप्तार्थिका है तब यह विस्तृतार्था है इन कारणों से भी इसका पृथक्करण उपयोगी माना जा सकता है।

दीपिका का बहुत ही अल्प भाग प्राप्त हुआ है अतः इसके सम्बन्ध में अधिक लिखना अप्रासंगिक है।

दीपिका की समाप्ति करते हुए श्री माणिक्यशेखर ने निर्युक्ति के निर्माता श्री भद्रबाहु स्वामी को और इसका विवरण करने वाले श्री मलयगिरिसूरिजी को नमस्कार किया है और लिखा है-आचार्य मलय

गिरिजी की टीका के विषमार्थ का मैंने विवेचन किया है। अन्त मे आपने अपने गच्छपति और गुरु मेरुतुग सूरिजी को याद किया है, ग्रन्थ के निर्माण-समय आदि के सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा है तथापि आचार्य श्री मेरुतुगसूरि के शिष्य होने के नाते आप विक्रम की पन्द्रहवी शती के ग्रन्थकार हैं इसमे कोई शका नही रहती। आपके गुरु मेरुतुगसूरि का समय विक्रमीय पन्द्रहवी शती का मध्य भाग होने के कारण आपका भी सत्ता समय पन्द्रहवी शती का उत्तरार्ध है, इसमे शका को स्थान नही है।

पिण्डविशुद्धि : श्री जिनवल्लभ गणिकृता विवरणकार श्री चन्द्रसूरि।

पिण्डविशुद्धिप्रकरण पिण्डनिर्युक्ति का ही सक्षिप्त रूप है। पिण्डनिर्युक्ति का गाथापरिमाण ६७१ है, तब उसका साराश लेकर पिण्डविशुद्धि प्रकरण श्री जिनवल्लभ गणीजी ने केवल एक सौ तीन गाथाओं मे समाप्त किया है। पिण्डविशुद्धि के ऊपर तीन चार टीकाए हैं, जिनमें से प्रस्तुत टीका के निर्माता आचार्य श्री चन्द्रसूरि हैं, जो वैहारिक आचार्य श्री शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य और धनेश्वरसूरिजी के शिष्य थे। प्रस्तुत टीका का निर्माण आपने सौराष्ट्र के वेलाकुल नगर देवपाटक अर्थात् प्रभासपाटण मे रहते हुए विक्रम सवत् ११७८ के वर्ष मे किया है।

पिण्डविशुद्धिकार श्री जिनवल्लभगणि के सम्बन्ध में जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे दो मत हैं—खरतर गच्छ के अनुयायी विद्वान् इनको नवागवृत्तिकार आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी का पट्टधर शिष्य मानते हैं, तब तपागच्छादि अन्य गच्छो के विद्वान् इनको खरतर गच्छ वालो के जिनवल्लभसूरि से भिन्न मानते हैं। उनका कहना है कि खरतर गच्छ वालो के कथनानुसार प्रस्तुत जिनवल्लभ महावीर के षट्कल्याणक मानने वाले तथा विधिचैत्य आदि नयी परम्पराओ का आविष्कार करने वाले जिनवल्लभ होते, तो इनके ग्रन्थो पर अन्य सुविहित आचार्य टीका विवरण आदि नही बनाते।

उपर्युक्त दोनो प्रकार की मान्यताओ से हमारा मतभेद है। हमारा मत है कि प्रस्तुत पिण्डविशुद्धिकार जिनवल्लभ श्री अभय-

देवसूरिजी के चारित्रोपसम्पन्न शिष्य नहीं, किन्तु ज्ञानोपसम्पन्न शिष्य थे। जब तक वे अभयदेवसूरि के पास श्रुतोपसम्पदा लेकर पढ़ते रहे तब तक वे अभयदेवसूरिजी के प्रतीच्छक शिष्य के रूप में रहे और आगम-वाचना पूरी करके अभयदेवसूरिजी की आज्ञा से वे अपने मूल गुरु के पास गए तब से वे अपने पूर्व गुरु कूर्चपुरीय गच्छ के आचार्य श्री जिनेश्वरसूरिजी के ही शिष्य बने रहे। इतना जरूर हुआ कि अभयदेवसूरि तथा उनके शिष्यों के साथ रहने के कारण वे व्यवहारिक अवस्य बने थे और अन्त तक उसी स्थिति में रहे।

खरतर गच्छ के पट्टावलीलेखक जिनवल्लभगणी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की एक दूसरी से विरुद्ध बातें लिखते हैं। कोई कहते हैं—वे अपने मूल गुरु को मिलकर वापस पाटन आए, और श्री अभयदेव सूरिजी से उपसम्पदा लेकर उनके शिष्य बने। तब कोई लिखते हैं कि वे प्रथम से ही चैत्यवास से निर्विण्ण थे और अभयदेवसूरिजी के पास आकर उनके शिष्य बने और आगम सिद्धान्त का अध्ययन किया। खरतर गच्छीय लेखकों का एक ही लक्ष्य है कि जिनवल्लभ को श्री अभयदेवसूरि का पट्टधर बनाकर अपने सम्प्रदाय का सम्बन्ध श्री अभयदेव सूरि से जोड़ देना। कुछ भी हो परन्तु श्री जिनवल्लभगणी के कथनानुसार वे अन्त तक कूर्चपुरीय आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि के ही शिष्य बने रहे हैं ऐसा इनके खुद के उल्लेखों से प्रमाणित होता है। विक्रम सं० ११३८ में लिखे हुए कोट्याचार्य की टीका वाले विशेषावश्यक भाष्य की पोथी के अन्त में जिनवल्लभगणी स्वयं लिखते हैं—

यह (१) पुस्तक प्रसिद्ध श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ गणी की है।

इसी प्रकार जिनवल्लभ गणी प्रश्नोत्तरशतक नामक अपनी कृति में लिखते हैं कि "जिनेश्वराचार्यजी मेरे गुरु हैं" यह प्रश्नोत्तरशतक काव्य जिनवल्लभ गणी ने श्री अभयदेव सूरिजी के पास से वापस जाने के बाद

बनाया था, ऐसा उसी कृति से जाना जाता है क्योकि उसी काव्य मे एक भिन्न पद्य मे श्री अभयदेव सूरिजी की भी प्रशसा की है।

जिनवल्लभ गणी के "रामदेव" नामक एक विद्वान् शिष्य थे, जिन्होने वि० स० ११७३ मे जिनवल्लभ सूरि कृत "षडशीति-प्रकरण," की चूर्णि बनाई है, जिसमे उन्होने लिखा है कि जिनवल्लभ गणीजी ने अपने तमाम चित्र काव्य स० ११६६ मे चित्रकूट के श्री महावीर मन्दिर मे शिलाओ पर खुदवाए थे और मन्दिर के द्वार की दोनो तरफ उन्होने धर्म-शिक्षा और सघ-पट्टक शिलाओ पर खुदवाए थे, ऐसा प० हीरालाल हसराज कृत "जैन धर्मनो प्राचीन इतिहास" नामक पुस्तक के ३८ वे तथा ३९ वे पृष्ठ मे लिखा है ।

उपाध्याय धर्मसागरजी ने जिनवल्लभ गणी कृत "अष्टसप्ततिका" नामक काव्य के कुछ पद्य "प्रवचन परीक्षा" मे उद्धृत किए हैं, उनमे से एक पद्य मे श्री अभयदेव सूरिजी के चार प्रमुख शिष्यो की प्रशसा की है और एक पद्य मे उन्होने श्री अभयदेव सूरिजी के पास श्रुत सम्पदा लेकर अपने शास्त्राध्ययन की सूचना की है। इत्यादि बातो से यही सिद्ध होता है कि जिनवल्लभ गणी जो कूर्चपुरीय गच्छ के आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे, वे अपने गुरु की आज्ञा से अपने गुरु भाई जिनशेखर मुनि के साथ आगमो का अध्ययन करने के लिए, पाटन श्री अभयदेव सूरिजी के पास गए थे और उनके पास ज्ञानोपसपदा ग्रहण करके सूत्रो का अध्ययन किया था। खरतर गच्छ के पट्टावलीलेखक शायद उपसम्पदा का अर्थ ही नही समझे, इसलिए कोई उनके पास दीक्षा लेने का लिखते हैं तो कोई "आज से हमारी आज्ञा मे रहना" ऐसा उपसम्पदा का अर्थ करते हैं, जो वास्तविक नही है। उपसम्पदा अनेक प्रकार की होती है—ज्ञानोपसम्पदा, दर्शनोपसम्पदा, चारित्रोपसम्पदा, मार्गोपसम्पदा आदि। इनमे प्रत्येक उपसम्पदा जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट प्रकार से तीन तरह की होती है, ज्ञान तथा दर्शन प्रभावक शास्त्र पढने के लिये ज्ञानोपसम्पदा तथा दर्शनोपसम्पदा दी-ली जाती है, चारित्रोपसम्पदा चारित्र को शुद्ध पालने के भाव से बहुधा ली जाती है और वह प्राय. यावज्जीव रहती है, ज्ञानोपसम्पदा तथा दर्शनोपसम्पदा कम से कम ६ मास

की और अधिक से अधिक १२ बारह वर्ष की होती थी। मार्गोपसम्पदा सम्बे विहार में मार्ग जानने वाले आचार्य से ली जाती थी और मार्ग का पार करने तक रहती थी। उपसम्पदा स्वीकार करने के बाद उपसम्पन्न साधु को अपने गच्छ के आचार्य तथा उपाध्याय का दिग्बन्ध छोड़कर उपसम्पदा देने वाले गच्छ के आचार्य तथा उपाध्याय का दिग्बन्धन करना होता था और उपसम्पदा के दर्म्यान उपसम्पन्न श्रमण अपने गच्छ तथा आचार्य उपाध्याय की आज्ञा न पालकर उपसम्पदा प्रदायक गच्छ के आचार्य उपाध्याय की आज्ञा में रहते थे और उन्हीं के गच्छ की सामाचारी का अनुसरण करते थे इत्वर (सावधिक) उपसम्पदा की अवधि समाप्त होने के उपरान्त उपसम्पन्न व्यक्ति उपसम्पदा देने वाले आचार्य की आज्ञा लेकर अपने मूल गुरु के पास जाता था और उनके दिग्बन्धन में रहता था।

श्री जिनवल्लभ गणी ने इसी प्रकार ज्ञानोपसम्पदा लेकर अभयदेव सूरिजी से आगमों की वाचना ली थी और बाद में वे अपने मूल गुरु जिनेश्वर सूरिजी के पास गए थे। जिनेश्वर सूरि चैत्यवासी होने से शिथिलाचारी थे तब जिनवल्लभ वैहारिक श्रमण समुदाय के साथ रहने से स्वयं चैत्यवासी न बनकर वैहारिक रहना चाहते थे इसीलिये अपने मूल गुरु से मिलकर वे वापस पाटण चले गए थे। उनके दुबारा पाटण जाने तक श्री अभयदेव सूरिजी पाटण में थे या विहार करके चले गये थे यह कहना कठिन है फिर भी इतना कहा जा सकता है कि नवांगी वृत्तियों के समाप्त होने तक वे पाटण में अवश्य रहे होंगे क्योंकि तत्कालीन पाटण के जैन श्रमण संघ के प्रमुख आचार्य श्री द्रोण के नेतृत्व में विद्वानों की समिति ने अभयदेव सूरि निर्मित सूत्रवृत्तियों का संशोधन किया था आगमों की वृत्तियां विक्रम संवत् ११२८ तक में बनकर पूरी हो चुकी थी इसलिए इसके बाद श्री अभयदेव सूरिजी पाटण में अधिक नहीं रहे होंगे ११२८ के बाद में बनी हुई इनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं होती लगभग इसी अर्से में हरिभद्रसूरीय पंचाशक प्रकरण की टीका आपने 'धवलका' में बनाई है इससे भी यही सूचित होता है कि आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी ने ११२८ में ही पाटण छोड़ दिया था। इस समय

के वाद का इनका कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नही हुआ, इससे हमारा अनुमान है कि आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी ने अपने जीवन के अन्तिम दशक मे शारीरिक अस्वास्थ्य अथवा अन्य किसी प्रतिवन्धक कारण से साहित्य के क्षेत्र मे कोई कार्य नही किया। आपका स्वर्गवास भी पाटण से दूर "कपडवज" मे हुआ था, आपके स्वर्गवास का निश्चित वर्ष भी श्री अभयदेव सूरि के अनुयायी होने का दावा करने वालो को मालूम नही है, इस परिस्थिति मे यही मानना चाहिये कि श्री अभयदेव सूरिजी विक्रम सवत् ११२८ के वाद गुजरात के मध्य प्रदेश मे ही विचरे हैं। खरतर गच्छ के अर्वाचीन किसी किसी लेखक ने इनके स्वर्गवास का समय स० ११५१ लिखा है, तव किसी ने जिनवल्लभ गणी को स० ११६७ मे अभयदेव सूरि के हाथ से सूरि-मन्त्र प्रदान करने का लिखकर अपने अज्ञान का प्रदर्शन किया है। अभयदेव सूरिजी ११५१ अथवा ११६७ तक जीवित नही रहे थे, अनेक अन्यगच्छीय पट्टावलियो मे इनका स्वर्गवास ११३५ मे और मतान्तर से ११३९ मे लिखा है, जो ठीक प्रतीत होता है, आचार्य जिनदत्त कृत "गणधर-सार्धशतक" की वृत्तियो मे श्री सुमति गणि तथा सर्वराज गणि ने भी अभयदेव सूरिजी के स्वर्गवास के समय की कुछ भी सूचना नही की, इसलिए "वृहद् पौषध-शालिक" आदि गच्छो की पट्टावलियो मे लिखा हुआ अभयदेव सूरिजी का निर्वाण समय ही सही मान लेना चाहिए।

अभयदेव सूरि का स्वर्गवास मतान्तर के हिसाब से सवत् ११३९ मे मान ले तो भी सवत् ११६७ का अन्तर २८ वर्ष का होता है। खरतर गच्छ के तमाम लेखको का ऐकमत्य है कि सवत् ११६७ मे जिनवल्लभ गणि को देवभद्र सूरि ने आचार्य अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर प्रतिष्ठित कर उन्हें आचार्य वनाया था। खरतर गच्छ के लगभग सभी लेखको का कथन है, कि अभयदेव सूरिजी स्वय जिनवल्लभ को अपना पट्टधर बनाना चाहते थे, परन्तु चैत्यवासि-शिष्य होने के कारण गच्छ इसमे सम्मत नही होगा, इस भय से उन्होने जिनवल्लभ को आचार्य नही वनाया, परन्तु अपने शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य को कह गये

थे कि समय पाकर जिनवल्लभ गणि को आचार्य पद प्रदान कर देना। प्रसन्नचन्द्र सूरि को भी अपने जीवन दरमियान जिनवल्लभ को आचार्य पद देने का अनुकूल समय नहीं मिला और अपने अन्तिम समय में इस कार्य को सफल करने की सूचना देवभद्र सूरि को कर गए थे और संवत् ११६७ में आचार्य देवभद्र ने कतिपय साधुओं के साथ चित्तौड़ जाकर जिनवल्लभ गणि को आचार्य पद से विभूषित किया।

उपर्युक्त वृत्तान्त पर गहराई से सोचने पर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला तो यह कि यदि अभयदेव सूरिजी ने जिनवल्लभ गणि को अपना शिष्य बना लिया था और विद्वत्ता आदि विशिष्ट गुणों से युक्त होने के कारण उसे आचार्य बनाना चाहते थे तो गच्छ को पूछकर उसे आचार्य बना सकते थे। वर्धमान आदि अपने चार शिष्यों को आचार्य बना लिया था और गच्छ का विरोध नहीं हुआ तो जिनवल्लभ के लिये विरोध क्यों होता? जिनवल्लभ चैत्यवासी शिष्य होने से उसके आचार्य पद का विरोध होने की बात कही जाती है जो थोथी दलील है अभयदेव सूरिजी का शिष्य हो जाने के बाद वह चत्यवासियों का शिष्य कसे कहलाता यह समझ में नहीं आता। मान लिया जाय कि जिनवल्लभ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने के कार्य में श्री अभयदेव सूरिजी के शिष्य परिवार में दो मत थे तो चौबीस वर्ष के बाद उन्हें आचार्य कसे बनाया? क्या उस समय अभयदेव सूरिजी का शिष्यसमुदाय एकमत हो गया था? अथवा समुदाय में दो भाग पाड़कर आचार्य देवभद्र ने यह कार्य किया था? जहाँ तक हमें इस प्रकरण का अनुभव है उक्त प्रकरण में कुछ और ही रहस्य छिपा हुआ था जिसे खरतर गच्छ के निकटवर्ती आचार्यों ने प्रकट नहीं किया और पिछले लेखक इस रहस्य को खोजने में असमर्थ रहे हैं। खरतर गच्छ के प्राचीन ग्रन्थों के अवगाहन और इतर प्राचीन साहित्य का मनन करने से हमको प्रस्तुत प्रकरण का जो स्पष्ट दर्शन मिला है उसे पाठक गण के ज्ञानार्थ नीचे उपस्थित करते हैं—

जिनवल्लभ वर्षों तक अभयदेव सूरि के शिष्यसमुदाय के साथ रहे थे, वे स्वयं विद्वान् एवं क्रियारुचि आत्मा थे वह समय अधिकांश

शिथिलाचारी साधुओ का था। उनका शैथिल्य देखकर जिनवल्लभ के हृदय मे दुःख होता था। अच्छे वक्ता होने के कारण वे शिथिलाचार के विरुद्ध बोला करते थे। देवभद्र आदि कतिपय अभयदेव सूरि के शिष्य भी उन्हे उभाडते और चैत्यवासियो के विरुद्ध बोलने को उत्तेजित किया करते थे। धीरे धीरे जिनवल्लभ गणी का हृदय निर्भीक होता गया और चैत्यवासियो के विरोध के प्रचार के साथ अपने वैहारिक साधुओ के पालने के नियम बनाने तथा अपने नये मन्दिर बनाने के प्रचार को खूब बढाया, राज्य से अपने विधि चैत्य के लिए जमीन मागी गई। स्थानिक सघ के विरोध करने पर भी जमीन राज्य की तरफ से दे दी गई। बस फिर क्या था, जिनवल्लभ गणी तथा इनके पृष्ठपोषक साधु तथा गृहस्थो के दिमाग को गर्मी हद से ऊपर उठ गई और जिनवल्लभ तो खुल्ले आम अपनी सफलता और स्थानिक चैत्यवासियो की बुराइयो के ढोल पीटने लगे। कहावत है कि ज्यादा घिसने से चन्दन से भी आग प्रकट हो जाती है, पाटन मे ऐसा ही हुआ। जिनवल्लभ गणी के निरकुश लेक्चरो से स्थानिक जैन सघ क्षुब्ध हो उठा, सभी गच्छो के आचार्यों तथा गृहस्थो ने सघ की सभा बुलाई और जिनवल्लभ गणी को सघ से बहिष्कृत कर पाटन मे ढिंढोरा पिटवाया कि—

"जिनवल्लभ के साथ कोई भी पाटणवासी आचार्य और श्रमण-सघ, किसी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खे, इस पर भी कोई साधु इसके साथ व्यवहार रखेगा तो वह भी जिनवल्लभ की तरह सघ से बहिष्कृत समझा जायगा।"

पाटण के जैन सघ की तरफ से उपर्युक्त जाहिर होने के बाद जिनवल्लभ गणिजी की तूती सर्वथा बन्द हो गई, उनके लेक्चर सुनने के लिए सभाओ का होना बन्द हो गया। उनके अनुयायियो ने उन्हे सलाह दी कि पाटण मे तो आपके व्याख्यानो से अब कोई लाभ न होगा, अब बाहर गावो मे प्रचार करना लाभदायक होगा। गणीजी पाटण छोडकर उसके परिसर के गावो मे चले गए और प्रचार करने लगे, परन्तु उनके सघ बाहर होने की बात उनके पहले ही पवन के साथ गांवो मे पहुच

चुकी थी यहाँ भी इनके व्याख्यानों में आने से लोग हिचकिचाते थे। थोड़े समय के बाद गणीजी वापस पाटण आए और अपने हितचिन्तकों से कहा—गुजरात में फिरने से तो अब विशेष लाभ न होगा। गुजरात को छोड़कर अब किसी दूसरे देश में विहार करने का निर्णय किया उनके समर्थकों ने बात का समर्थन किया आचार्य देवभद्र ने जिनशेखर को जो जिनवल्लभ का गुरु भाई था जिनवल्लभ के साथ जाने की आज्ञा दी। परन्तु जिनशेखर ने संघ बाहर होने के भय से जिनवल्लभ गणी के साथ जाने से इन्कार कर दिया आचार्य देवभद्र जिनशेखर के इस व्यवहार से बहुत ही नाराज हुए तथापि जिनशेखर ने अपना निर्णय नहीं बदला और जिनवल्लभ गणी को गुजरात छोड़कर उत्तर की तरफ अकेले विहार करना पड़ा। मरूकोट होते हुए वे चातुर्मास्य आने के पहले चित्तौड़ पहुंचे। यद्यपि बीच में मारवाड़ जैसा लम्बा-चौड़ा देश था और कई बड़े २ नगर भी थे परन्तु जिनवल्लभ गणी का पाटण में जो अपमान हुआ था उसकी हवा सर्वत्र पहुंच चुकी थी। चित्तौड़ में भी जनों की पर्याप्त बस्ती थी और अनेक उपाश्रय भी थे इसपर भी उन्हें चातुर्मास्य के योग्य कोई स्थान नहीं मिला। खरतरगच्छ के लेखक उपाश्रय आदि न मिलने का कारण चैत्यवासियों का प्राबल्य बताते हैं जो कल्पना मात्र है। चैत्यवासी अपनी पौषधशालाओं में रहते थे और चैत्यों की देखभाल अवश्य करते थे फिर भी वैहारिक साधु वहाँ जाते तो उन्हें गृहस्थों के अतिरिक्त मकान उतरने के लिए मिल ही जाते थे। वर्धमान सूरि का समुदाय वैहारिक था और सर्वत्र विहार करता था फिर भी उसको उतरने के लिए मकान न मिलने की शिकायत नहीं थी तब जिनवल्लभ गणी के लिए ही मकान न मिलने की नौबत कैसे आई ? खरी बात तो यह है कि जिनवल्लभ गणी के पाटण में संघ से बहिष्कृत होने की बात सर्वत्र प्रचलित हो चुकी थी इसी कारण से उन्हें मकान देने तथा उनका व्याख्यान सुनने में लोग हिचकिचाते थे। इसीलिए जिनवल्लभ गणी को चित्तौड़ में 'चामुण्डा' के मठ में रहना पड़ा था। यह सब कुछ होने पर भी जिनवल्लभ गणी ने अपनी हिम्मत नहीं हारी। चित्तौड़ से प्रारम्भ कर बागड़ तथा उत्तर मारवाड़ के खास-खास स्थानों में विहार कर अपना प्रचार

जारी रक्खा। भिन्न-भिन्न विपयो पर निबन्धो के रूप मे प्राकृत भाषा मे "कुलक" लिखकर अपने परिचित स्थानो मे उनके द्वारा धार्मिक प्रचार करते ही रहे। कुलको के पढने से ज्ञात होता है कि उस प्रदेश मे जाने के बाद जिनवल्लभ गरिण ने अपने उपदेशो की भाषा साधारण रूप से बदल दी थी, पाटरण मे चैत्यवासियों का खण्डन करने मे जो उग्रता थी, वह बदल चुकी थी। इतना ही नही "समय देखकर लिंगमात्र धारियो का भी सन्मान करने की सलाह देते थे"। विद्वत्ता तो थी ही, चारित्रमार्ग अच्छा पालते थे और उपदेशभक्ति भी अच्छी थी, परिणाम स्वरूप बागड आदि प्रदेशो मे आपने अनेक गृहस्थो को धर्ममार्ग मे जोडा।

उधर आचार्य देवभद्र और उनकी पार्टी के मन मे जिनवल्लभ को आचार्य बनाने की धुन लगी हुई थी। पाटरण के जैन सघ मे भी पौर्णमिक तथा आचलिक गच्छो की उत्पत्ति तथा नई प्ररूपणाओ के कारण अव्यवस्था बढ गई थी, परिणाम स्वरूप आचार्य देवभद्र की जिनवल्लभ को चित्तौड जाकर आचार्य बनाने की इच्छा उग्र बनी। कतिपय साधुओ को, जो उनकी पार्टी मे शामिल थे, साथ मे लेकर मारवाड की तरफ विहार किया और जिनवल्लभ गणी, जो उस समय नागोर की तरफ विचर रहे थे, उन्हे चित्तौड आने की सूचना दी और स्वय भी मारवाड मे होते हुए चित्तौड पहुचे और उन्हे आचार्य पद देकर आचार्य अभयदेव सूरि के पट्टधर होने की उद्घोषरणा की। इस प्रकार आचार्य देवभद्र की मण्डली ने अपनी चिरसचित अभिलाषा को पूर्ण किया।

श्री जिनवल्लभ गरणी को आचार्य बनाकर अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर स्थापित करने का वृत्तान्त ऊपर दिया गया है। यह वृत्त खरतर गच्छ की पट्टावलियो के आधार से लिखा है। अब देखना यह है कि अभयदेव सूरिजी को स्वर्गवासी हुए अट्ठाईस वर्ष से भी अधिक समय हो चुका था, श्री अभयदेव सूरिजी के पट्ट पर श्री वर्धमान सूरि, श्री हरिभद्र सूरि, श्री प्रसन्नचन्द्र सूरि और श्री देवभद्र सूरि नामक चार आचार्य बन चुके थे, फिर अट्ठाईस वर्ष के बाद जिनवल्लभ गरणी को उनके पट्ट पर

स्थापित करने का क्या अर्थ हो सकता है ? इस पर पाठकगण स्वयं विचार कर सकते हैं। शास्त्र के आधार से तो कोई भी आचार्य अपनी जीवित अवस्था में ही अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियत कर देते थे। कदाचित् किसी आचार्य की अकस्मात् मृत्यु हो जाती तो उसकी जाहिरात होने के पहले ही गच्छ के गीतार्थ अपनी परीक्षानुसार किसी योग्य व्यक्ति को आचार्य के नाम से उद्घोषित करने के बाद मूल आचार्य के मरण को प्रकट करते थे। कभी कभी आचार्य द्वारा अपनी जीवित अवस्था में नियत किये हुए उत्तराधिकारी के योग्यता प्राप्त करने के पहले ही मूल आचार्य स्वर्गवासी हो जाते तो गच्छ किसी अधिकारी योग्य गीतार्थ व्यक्ति को सौंपा जाता था। जिनवल्लभ गणी के पीछे न परिवार था न गच्छ की व्यवस्था फिर इतने लम्बे समय के बाद उन्हें आचार्य बनाकर अभयदेव सूरिजी का पट्टधर क्यों उद्घोषित किया गया ? इसका खरा रहस्य तो आचार्य श्री देवभद्र जानें परन्तु हमारा अनुमान तो यही है कि जिनवल्लभ गणी की पीठ थपथपाकर उनके द्वारा पाटण में उत्तेजना फैलाकर वहां के संघ द्वारा गणिजी को सघ से बहिष्कृत करने का देवभद्र निमित्त बने थे उसी के प्रायश्चित्त स्वरूप देवभद्र की यह प्रवृत्ति थी।

अब रही जिनवल्लभ गणी के खरतर-गच्छीय होने की बात सो यह बात भी निराधार है। जिनवल्लभ के जीवन पर्यन्त 'खरतर' यह नाम किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय के लिए प्रचलित नहीं हुआ था। आचार्य श्री जिनेश्वर सूरि, उनके गुरु-भाई बुद्धिसागर सूरि तथा उनके शिष्य जिनचन्द्र सूरि तथा अभयदेव सूरि आदि की यथोपलब्ध कृतियाँ हमने पढ़ी हैं। किसी ने भी अपनी कृतियों में खरतर शब्द का प्रयोग नहीं किया। श्री जिनदत्त सूरि ने जो जिनवल्लभ सूरि के पट्टधर माने जाते हैं अपनी 'गणधरसार्द्धशतक' नामक कृति में पूर्ववर्ती तथा अपने समीपवर्ती आचार्यों की खुलकर प्रशंसा की है परन्तु किसी भी आचार्य को खरतर पद प्राप्त होने की सूचना तक नहीं की। जिनदत्त सूरि के 'गणधर सार्द्ध शतक" की बृहद्वृत्ति में जो विक्रम सं० १२६५ में श्री सुमति गणि द्वारा बनाई गई है उसमें श्री वर्धमान सूरि से लेकर आचार्य श्री जिनदत्त

सूरि तक के विस्तृत चरित्र दिए हैं, परन्तु किसी आचार्य को "खरतर" बिरुद प्राप्त होने की बात नही लिखी। सुमति गणिजी ने आचार्य जिनदत्त सूरि के वृत्तान्त मे ऐसा जरूर लिखा है कि जिनदत्त सूरि स्वभाव के बहुत कडक थे, वे हर किसी को कडा जवाब दे दिया करते थे। इसलिए लोगों मे उनके स्वभाव की टीका-टिप्पणियाँ हुआ करती थी। लोग बहुधा उन्हे 'खरतर' अर्थात् कठोर स्वभाव का होने की शिकायत किया करते थे। परन्तु जिनदत्त जन-समाज की इन बातो पर कुछ भी ध्यान नही देते थे। धीरे धीरे जिनदत्त सूरिजी के लिए "खरतर" यह शब्द प्रचलित हुआ था, ऐसा सुमतिगणि कृत "गणधरसार्द्धशतक" की टीका पढने वालो की मान्यता है❋ यद्यपि "खरतर" शब्द का खास सम्बन्ध जिनदत्त सूरिजी से था, फिर भी इन्होने स्वय अपने लिये किसी भी ग्रन्थ मे "खरतर" यह विशेषण नही लिखा। जिनदत्त सूरिजी तो क्या इनके पट्टधर श्री जिनचन्द्र, इनके शिष्य श्री जिनपति सूरि, जिनपति के पट्टधर जिनेश्वर सूरि और जिनेश्वर के पट्टधर जिनप्रबोध सूरि तक के किसी भी आचार्य ने "खरतर" शब्द का प्रयोग अपने नाम के साथ नही किया। वस्तुस्थिति यह है कि विक्रम की चउदहवी शती के प्रारम्भ से खरतर शब्द का प्रचार होने लगा था। शुरु शुरु मे वे अपने को "चन्द्र-गच्छीय" कहते थे, फिर इसके साथ "खरतर" शब्द भी जोडने लगे। इसके प्रमाण मे हम आबू देलवाडा के जैन मन्दिर का एक शिला-लेख उद्घृत करते हैं।

❋ "The Kharatara seet then arose according to on old gatha in samavat 1204 Jinadatta was a proud man, and even in his pert answer to others mentioned by Sumatigani pride can be clearly datected. He was therefore, called Kharatara by the people, but he glaried in the new appellation and willingly accepted it"

'सं० १३०८ वर्षे फाल्गुन वदि ११ शुक्रे श्री जाबालिपुरवास्तव्य चन्द्र-गच्छीय खरतर सा० दूलह सुत सधीरण तत्सुत सा० बीजा तत्पुत्र सा० समपणेन पितामही राजू, माता साऊ भार्या माल्हणदेवि सहितेन श्री आदिनाथ सत्क सर्वांगाभरणस्य साउ० श्रमोऽर्थं जीर्णोद्धारः कृत ॥

उपर्युक्त लेख जालौर के एक सद्गृहस्थ का है जिसका नाम समसरण था। वह अपने को चन्द्र-गच्छीय खरतर मानता था। उसने आबू पर के विमलवसहि के श्री आदिनाथजी को पहनाने के आभूषणों का जीर्णोद्धार सं० १३०८ के फाल्गुन वदि एकादशी शुक्रवार के दिन करवाया था जिसकी याद में उपर्युक्त लेख खुदवाया था।

हमारे पढ़े हुए खरतर' नाम के प्रयोग वाले लेखों में ऊपर का लेख सब से प्राचीन है।

उक्त लेख में खरतर' शब्द ही उल्लिखित है परन्तु इसके बाद ५ वर्ष के उपरान्त "खरतर' शब्द के साथ 'गच्छ' शब्द लिखने का भी प्रारम्भ हो गया था। श्री जिनप्रबोध सूरिजी के शिष्य श्री दिवाकराचार्य अपने परिवार के साथ आबू तीर्थ की यात्रार्थ गए। तब निम्न लेख अपनी यात्रा के स्मरणार्थ लिखवाकर गए थे जो नीचे दिया जाता है—

'संवत् १३६० आषाढ़ वदि ४ श्री खरतर गच्छे श्री जिनेश्वर सूरि पट्टनायक श्री जिनप्रबोध सूरि शिष्य श्री दिवाकराचार्य पं० लक्ष्मीनिवास गणि–हेमतिलक गणि–मतिकलश मुनि–मुनि चन्द्रमुनि–अमररत्न गणि–यशःकीर्ति मुनि–साधु-साध्वी चतुर्विध श्री विधिसंघ सहिता श्री आदिनाथ श्री नेमिनाथ देवाधिदेवौ नित्यं प्रणमति ॥

संवत् १३०८ के लेख में एक गृहस्थ के नाम के आगे 'चन्द्रगच्छीय खरतर' ये शब्द लिखे थे परन्तु लगभग ५० वर्ष में 'चन्द्रकुल चन्द्रगच्छ' जो पहले सार्वत्रिक रूप से लिखे जाते थे उनका प्रचार कम हुआ और 'खरतर' शब्द के आगे "गच्छ' शब्द लिखा जाने लगा और आचार्य तथा श्रमणों के नामों के साथ उसका प्रयोग होने लगा।

सवत् १३७८ तक के जिनकुशल सूरिजी के किसी भी लेख मे 'खरतर' अथवा "खरतर गच्छ" शब्द दृष्टिगोचर नही होते । हमारे पास श्री जिनचन्द्र सूरि शिष्य श्री जिनकुशल सूरि द्वारा पाटण के श्री शान्तिनाथ–विधिचैत्य मे सवत् १३७० मे प्रतिष्ठित श्री महावीर तथा श्री पद्मप्रभ जिनबिम्बो प्रतिष्ठालेख उपस्थित है । परन्तु उनमे अथवा उनके पूर्ववर्ती श्री जिनकुशल सूरिजी के किसी भी शिला-लेख मे अपने नाम के साथ "खरतर गच्छ" शब्द का प्रयोग नही मिलता । परन्तु स० १३८१ से आपने भी प्राचीन परिपाटी बदलकर अपने नाम के साथ "खरतर-गच्छीय" विशेषण लिखने की परिपाटी प्रचलित कर दी थी, जो शत्रुजय के एक शिललेख से ज्ञात होता है। वह शिलालेख नीचे उद्धृत किया है—

"सवत् १३८१ वर्षे वैशाख वदि ५ गुरौ वारे खरतर-गच्छीय श्री जिनकुशल सूरिभि श्री नमिनाथबिब प्रतिष्ठित· · कारित· · · देवकुल · श्री मद्देवगुर्वाज्ञाचिंतामणिविभूषितमस्तकेन· " ॥

ऊपर के शिलालेखो से सिद्ध होता है, कि "खरतर" शब्द प्रारम्भ मे केवल श्री जिनदत्त-सूरिजी का विशेषण मात्र था, परन्तु धीरे धीरे उनके अनुयायियो ने भी उसे अपनाया । पहले वे अपने को "चन्द्रकुलीन" अथवा "चन्द्र-गच्छीय" मानते थे, परन्तु चन्द्रकुल अथवा चन्द्रगच्छ साधारण व्यापक नाम थे । लगभग सभी गच्छ वाले अपने को चन्द्रकुलीन कहते थे । उस समय विशेष महत्त्व गच्छ शब्द का था, कुल शब्द केवल दिग्बन्ध के समय याद किया जाता था । प्राचीन चैत्यवासी और पौर्णमिक, आचलिक, नवीन सुधारक श्रमण सम्प्रदाय अपने अपने समूह को गच्छ के नाम से प्रसिद्ध करते थे । इस परिस्थिति मे श्री जिनदत्त सूरि के अनुयायियो ने भी अपने सम्प्रदाय को "खरतर-गच्छ" के नाम से प्रकाश मे लाना ठीक समझा और विक्रम के पन्द्रहवें शतक के अन्त तक "खरतर-गच्छ" नाम सर्वव्यापक हो गया ।

ऊपर के विवरण से पाठकगण समझ सकते हैं कि श्री जिनवल्लभ गणि के समय में 'खरतर' शब्द व्यवहार में भी नहीं आया था तब तत्कालीन अपने पूर्वज आचार्यों को खरतर कहने वाले लेखक कहां तक सत्यवादी हो सकते हैं ?

अब रही जिनवल्लभ गणिजी के ग्रन्थों की बात हमारे कतिपय विद्वान् लेखक शिकायत करते हैं कि जिनवल्लभ गणि ने कई बातों में उत्सूत्र प्ररूपणा की है परन्तु इस विषय में हम सहमत नहीं हो सकते। यथोपलब्ध जिनवल्लभ गणि के ग्रन्थों को हमने पढ़ा है परन्तु उनमें उत्सूत्र प्ररूपणा जैसी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं हुई। 'संघपट्टक" में जिनवल्लभ ने कटु शब्दों में तत्कालीन पाटन के चैत्य संघ की आलोचना की है अवश्य। संघ बहिष्कृत होने के बाद इन्होंने सर्वप्रथम 'संघपट्टक' ही बनाया है और पट्टक के अन्तिम—

'सम्प्रत्यप्रतिमे कुसंघवपुषि प्रोज्जृम्भिते भस्मक—
म्लेच्छात्युच्च बले दुरन्त दशमाश्चर्ये च विस्फूर्जति।
प्रौढिं जग्मुषि मोहराजकटके लोकैस्तदाज्ञापरै—
रेकीभूय सदागमस्य कथमप्यौत्सर्य्यं कदर्थ्यामहे ॥४०॥

इस पद्य के चतुर्थ चरण में विन्यस्त शब्द 'कदर्थ्यामहे' उनको संघ बहिष्कृति द्वारा कदर्थित करने की सूचना करता है और कदर्थित मनुष्य उत्तेजित होकर जो कुछ बोले-लिखे उसे क्षन्तव्य मानना चाहिए। 'संघ पट्टक" में लिखी हुई अधिकांश बातें सत्य हैं फिर भी पर्युषणा तिथि के सम्बन्ध में उन्होंने जो अपना अभिप्राय व्यक्त किया है, वह उत्तेजना का फल मात्र है। उत्तेजित मनुष्य सत्य बातों के साथ कुछ अयोग्य बातें भी कह देता है। जिनवल्लभ गणि के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ है। जब तक वे पाटण में थे और धार्मिक संस्थाओं में होने वाली अविधियों तथा मठपति शिथिलाचारी साधुओं के शिथिलाचार की टीका-टिप्पणियां करते रहे परन्तु जब उन्हें संघ से बहिष्कृत किया गया और गुजरात की सीमा तक छोड़नी पड़ी तब उन्होंने क्रोधावेश में 'संघ-पट्टक' में कुछ

विरुद्ध वाते भी लिखी और चित्तौड मे जाकर महावीर के गर्भापहार की घटना को कल्याणक माना। चतुष्पट मुखवस्त्रिका रखने की कल्पना भी उसके वाद की है। फिर भी जिनवल्लभ मे विशेष प्रचलित परम्पराओ मे रद्दोवदल नही किया, यह वात उनके ग्रन्थो से जानी जा सकती है।

सघ-पट्टक, षडशीतिक प्रकरण जिसका दूसरा नाम "आगमिक वस्तुविचारसार" है और जिस पर सवत् ११७३ मे आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने एक वृत्ति लिखी है, जिसका श्लोकप्रमाण ८५० है। सार्द्धशतक अपरनाम "सूक्ष्मार्थ विचारसार" है इस पर भी स० ११७२ के वर्ष मे आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने एक वृत्ति वनाई है और उसका श्लोकपरिमाण भी ८५० है। सार्द्धशतक पर दूसरी टीका आचार्य धनेश्वर सूरि की है जिसका श्लोकपरिमाण ३७०० है और इसका निर्माण ११७१ मे हुआ है। द्वादश कुलक, भावारिवारणस्तोत्र आदि जिनवल्लभीय ग्रन्थो मे केवल "सघ-पट्टक" मे ही कुछ कटु और प्रचलित परम्परा का विरोध करने वाली वाते मिली है, शेष ग्रन्थो मे आगम-विरुद्ध कोई वात दृष्टिगोचर नही हुई। इनके एक प्रकरण मे "सहनन" की "सघयण सत्ति विसेसो" इन शब्दो मे जिनवल्लभ गणि ने व्याख्या की है, इसका कई विद्वान् विरोध करते हैं, कि यह व्याख्या शास्त्रविरुद्ध है, क्योकि शास्त्र मे "सहनन" को "अस्थि-रचनाविशेष" बताया है, शक्ति विशेष नही, यह वात हम मानते हैं कि शास्त्र मे अस्थिरचनाविशेप को ही "सहनन" लिखा है, परन्तु "जिनवल्लभ" का सहनन सम्वन्धी उल्लेख भी निराधार नही है।

प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्र सूरिजी ने भी अपने एक ग्रन्थ मे देवताओ को लक्ष्य करके सहनन का अर्थ "शक्तिविशेष" किया है। उनका कथन है कि भले ही देव अस्थिर स्नायु की अपेक्षा से असहननी हो, परन्तु शक्ति-रूप सहनन उनमे भी है। अन्यथा उनके शरीर से कोई भी प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? श्री जिनवल्लभ गणि ने श्री हरिभद्र सूरिजी के कथन का ही अनुसरण करके उपर्युक्त "सहनन" की व्याख्या की है, अत इस उल्लेख से जिनवल्लभ गणि को उत्सूत्रभाषी नही कह सकते। वस्तुत श्री जिनवल्लभ गणि ने प्रचलित जैन परम्पराओ मे इतनी तोडफोड़

नहीं की है जितनी कि आजकल के हमारे विद्वान् समझते हैं। जिनवल्लभ गणि पर पिछले खरतर-गच्छीय लेखकों ने अनेक बातें थोपकर जितना अन्य-गच्छीय विद्वानों की दृष्टि से गिराया है उतना और किसी ने नहीं इसलिए हम विद्वान् लेखकों को सावधान कर देना चाहते हैं कि जिनवल्लभ सूरि को क्रान्तिकार समझ कर उनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके ग्रन्थों पर अन्य-गच्छीय विद्वानों ने टीका-विवरण आदि लिखे हैं। इसका कारण भी यही है कि वे ऐसे नहीं थे जैसा कि आजकल हम लोग मान बैठे हैं।

"पिण्डविशुद्धि" की अन्त्य गाथा में जिनवल्लभजी ने अपने नाम के साथ गणि शब्द लिखा है इससे निश्चित है कि उनको देवभद्र की तरफ से आचार्य पदवी प्राप्त होने के पहले की यह कृति है।

पिण्डविशुद्धि के टीकाकर्त्ता आचार्य श्री चन्द्र सूरि ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। निशीथ सूत्र के बीसवें उद्देशक की व्याख्या सुबोधा सामाचारी निरयावलिकासूत्र की व्याख्या आदि आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अन्य ग्रन्थों की भाषा की अपेक्षा से इस टीका में आपने कुछ सुगमता की तरफ लक्ष्य रखा है। इसी के परिणामस्वरूप आपकी टीका में कई जगह देश्य शब्दों के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। टीका विषय का स्पष्टीकरण करने में बहुत ही उपयोगी बनी है। ग्रन्थ का श्लोकप्रमाण ४४०० जितना विस्तृत है। कई स्थानों पर मौलिक दृष्टान्त भी दिए गए हैं। खास करके प्रसिद्ध आचार्य श्री पादलिप्त सूरि का वृत्तान्त प्राकृत भाषा में दिया है जो मौलिक वस्तु प्रतीत होती है।

卐 卐

: ८ :

श्री श्रीपाल-कथा अवलोकन

ले० : पं० [illegible]

❖

(१) कथाभूमिका और कथापीठ :

श्वेताम्बर जैन परम्परा में "सिद्धचक्र" की [illegible] श्रीपाल राजा का कथानक सबसे प्राचीन है। [illegible] दिगम्बर परम्पराओ मे सस्कृत में तथा प्राचीन हिन्दी, गुजराती [illegible] में निर्मित अनेक श्रीपालचरित्र उपलब्ध होते हैं, [illegible] शताब्दी के अथवा बाद के हैं। [illegible] शती के प्रारम्भ मे बनी हुई प्राकृत-कथा है। [illegible] हैं। इसकी रचना नागौरी [illegible] १४२५ के लगभग में की है।

इस कथा का सर्वप्रथम उपदेश भगवान महावीर के प्रथम शिष्य श्री गौतम गणधर से करवाया है और कथा की समाप्ति के समय भगवान महावीर राजगृह के निकटवर्ती किसी गांव से राजगृह के उद्यान में पधार कर गौतम द्वारा उपदिष्ट "नवपदात्मक सिद्धचक्र" के स्वरूप को निश्चय नय के अनुसार प्रतिपादन करते हैं।

इस कथानक की भूमिका में दो बातें विचारणीय हैं—एक तो जब कभी भगवान् महावीर राजगृह के परिसर में पधारते, अपने संघ के परिवार के साथ ही पधारते। गौतम अथवा अन्य किसी गणधर को आगे भेजकर बाद मे स्वयं जाना इसका उदाहरण इस कथा के अतिरिक्त अन्य किसी अर्वाचीन या प्राचीन चरित्रो तथा सत्रो मे [illegible]

नहीं की है जितनी कि आजकल के हमारे विद्वान् समझते हैं। जिनवल्लभ गणि पर पिछले खरतर-गच्छीय लेखकों ने अनेक बातें थोपकर जितना अन्य-गच्छीय विद्वानों की दृष्टि से गिराया है उतना और किसी ने नहीं, इसलिए हम विद्वान् लेखकों को सावधान कर देना चाहते हैं कि जिनवल्लभ सूरि को क्रान्तिकार समझ कर उनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके ग्रन्थों पर अन्य-गच्छीय विद्वानों ने टीका-विवरण आदि लिखे हैं। इसका कारण भी यही है कि वे ऐसे नहीं थे जैसा कि आजकल हम लोग मान बैठे हैं।

'पिण्डविशुद्धि' की अन्त्य गाथा में जिनवल्लभजी ने अपने नाम के साथ गणि शब्द लिखा है इससे निश्चित है कि उनको देवभद्र की तरफ से आचार्य पदवी प्राप्त होने के पहले की यह कृति है।

पिण्डविशुद्धि के टीकाकर्त्ता आचार्य श्री चन्द्र सूरि ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। निशीथ सूत्र के बीसवें उद्देशक की व्याख्या सुबोधा सामाचारी निरयावलिकासूत्र की व्याख्या आदि आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अन्य ग्रन्थों की भाषा की अपेक्षा से इस टीका में आपने कुछ सुगमता की तरफ लक्ष्य रखा है। इसी के परिणामस्वरूप आपकी टीका में कई जगह देश्य शब्दों के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। टीका विषय का स्पष्टीकरण करने में बहुत ही उपयोगी बनी है। ग्रन्थ का श्लोकप्रमाण ४४०० जितना विस्तृत है। कई स्थानों पर मौलिक दृष्टान्त भी दिए गए हैं। खास करके प्रसिद्ध आचार्य श्री पादलिप्त सूरि का वृत्तान्त प्राकृत भाषा में दिया है, जो मौलिक वस्तु प्रतीत होती है।

卐 卐

कथापीठ मे ही लेखक ने गौतम गणधर के मुख से दान शीलादि चतुर्विध धर्म तीर्थङ्करभाषित हैं, कहलाकर अन्त मे भाव-धर्म की प्रधानता बतलाई है और वे भाव को स्थिर रखने के लिए उसका आलम्बन "नवपदात्मक-सिद्धचक्र" को बताते हैं। कहते हैं—भाव का क्षेत्र मन है और मन दुर्जेय है, अत उसको स्थिर करने के लिए ध्यान की आवश्यकता है। ध्यान के आलम्बन से मन को स्थिर करके भाव की वृद्धि करना चाहिए। यद्यपि जगत् मे ध्यान के आलम्बन अनेक हैं, तथापि तीर्थङ्कर भगवान् ने नवपदो को ध्यान का प्रधान आलम्बन बताया है। इस प्रकार लेखक कथापीठ बनाकर श्रीपाल कथा का आरम्भ करते हैं। कथा-भूमिका और कथापीठ के पढने से तो पाठक को यही आभास मिलता है कि लेखक किसी अच्छे आध्यात्मिक ग्रन्थ का प्रारम्भ कर रहे है, परन्तु कथा प्रारम्भ होने के बाद थोडे ही समय मे उन्हे तथा श्रोताओ को ज्ञात हो जाता है कि ग्रन्थ आध्यात्मिक नही किन्तु कर्मसिद्धान्त का महत्त्व प्रतिपादन करने वाली एक आख्यायिका है। आरम्भिक वक्तव्य का उद्देश्य अन्त तक निभाना यह अच्छे लेखक का लक्षण है। इस कथा मे ऐसा प्रतिज्ञा-निर्वाह नही हुआ, इससे कथा का आदि लेखक अच्छा विद्वान् नही जान पडता।

(२) सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार :

कथानायिका मदनसुन्दरी और उसका पति श्रीपाल जैन उपाश्रय मे धर्मश्रवणार्थ जाते हैं। धर्मकथा के अन्त मे उपदेशक श्री मुनिचन्द्र सूरि मदना को पहिचानते हैं और उसके पास बैठे हुए श्रीपाल के सम्बन्ध मे पूछते हैं। गुरु का प्रश्न सुनकर मदना गद्गद कण्ठ से कहती है—भगवन् ! मुझे तो धर्म और कर्म पर विश्वास है, परन्तु अनजान लोग मेरे इन पति की प्राप्ति मे जैन धर्म की निन्दा करते हैं। इस बात का मुझे बडा दुख है। कुष्ट-रोगग्रस्त श्रीपाल को देखकर आचार्य मदना के मनोभाव को समझ गए और बोले—बहन ! मन्त्र तन्त्र तथा औषध-भैषज्य करना कराना जैन श्रमण के आचार से विरुद्ध है, इसलिए मैं तुम्हे एक निर्दोष यन्त्र बताता हू, जो इस लोक तथा परलोक के सुखो का मूल है। जो अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान,

होता। कथालेखक कहते हैं—लाभ विशेष जानकर भगवान् ने गौतम को आगे भेजा परन्तु किस लाभ की दृष्टि से आगे भेजा, इसका तो सूचन तक भी नहीं करते। न सारा कथानक पढ़ लेने पर भी ऐसा कोई लाभ दृष्टिगोचर होता है जो गौतम के आगे न जाने पर न होता। दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर जब कभी राजगृह पधारते गुणशिलक चैत्य में जो राजगृह के ईशान दिग् विभाग में था—ठहरते थे तब इस कथा की भूमिका में गुणशिलक का नाम-निर्देश नहीं है और राजगृह के परिसर में विपुलाचल और वैभारगिरि नामक दो पर्वत होना लिखा है। इससे मैं अनुमान करता हूं कि कथा की प्रस्तावित भूमिका की पसन्दगी श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् की न होकर किसी दिगम्बर जैन विद्वान् की होने का विशेष सम्भव है क्योंकि अनेक दिगम्बरीय ग्रन्थों में भगवान् महावीर के वैभार अथवा विपुलाचल पर्वत पर रहते हुए उपदेश देने का वर्णन मिलता है तब गुणशिलक चैत्य में समवसरण होने का उनमें वर्णन नहीं आता।

गौतम स्वामी को पहले भेजना और भगवान् के पीछे आने की बात कहना इसमें भी हमें तो एक रहस्य प्रतीत होता है। वह यह कि श्वेताम्बर-परम्परा के आगमों में मध्यकालीन इतर साहित्य में और दिगम्बर परम्परा के प्राचीन साहित्य में श्रीपाल कथा उपलब्ध नहीं होती इससे कथानिर्माता ने यह कथानक आगमों में न होने पर भी गणधरभाषित और तीर्थङ्करानुमोदित है ऐसा प्रमाणित करने के लिए इसका उपदेश गौतम गणधर के मुख से करवाया है।

कथापीठ में लेखक ने मगध देश को जैनों के लिए विशेष तीर्थ-भूमि होना लिखा है। यह बात भी श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुकूल नहीं है ऐसा मेरा मन्तव्य है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा के किसी भी प्राचीन साहित्य में किसी भी देश को विशेष तीर्थ रूप में नहीं माना है। यद्यपि भगवान् महावीर का अधिक विहार मगध देश में हुआ है और अधिक वर्षावास भी इसी देश में व्यतीत हुआ है फिर भी श्वेताम्बरीय जैन परिभाषा के अनुसार मगध को विशेष तीर्थ कहना योग्य नहीं।

को और आग्नेयादि चार विदिशाओ मे सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप इन चार पदो का विन्यास करो और इसी द्वितीय वलय मे अष्टवर्गात्मक वर्ण-मातृका को लिखो और आठो स्थानो मे 'अनाहतो' का आलेख कर इन आठ पदो का भी ध्यान करो। द्वितीय वलय के वाहर तीसरा वृत्त खीचो और उसमे ४८ (अडतालीस) लब्धियो के नाम लिखकर उनका चिन्तन करो। उन लब्धि-पदो के आदि मे "ॐ अर्हं नमो चिनेभ्य" ऐसा लिखना चाहिए और लब्धियो के नाम गुरुगम से जानने योग्य हैं। तीसरे वलय को ह्लीकार से त्रिवेष्टित कर उसकी परिधि के वाहर गुरुपादुकाओ को नमन करो।

(२)—चक्र को रेखाद्वय मे कलशाकृति वनाकर अमृत मडल की भावना से स्मरण करो, और इसके वाद विजया जम्भादि आठ देवियो तथा विमलेश्वर प्रमुख अधिष्ठायक सकल देवो का विन्यास कर ध्यान करो। उसको १६ विद्या-देवियो, शासन-देवियो द्वारा सेवित पार्श्वद्वय वताकर मूल भाग मे नवग्रहो का, कठ भाग में नवनिधियो का विन्यास करके चार प्रतिहारो तथा चार वीरो से युक्त तथा दिक्पाल क्षेत्रपालादि से सेवित दिखाकर माहेन्द्र मण्डल पर प्रतिष्ठित वनाओ। यह सिद्धचक्र यन्त्र विद्याप्रवाद पूर्व का सार है। इसके जानने से महती सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस श्वेत उज्ज्वल वर्णमय सिद्धचक्र यन्त्र का जो भाव से ध्यान करता है, वह विपुल कर्म जिर्जरा को प्राप्त करता है।"

(३)—कथाकार ने "सिद्धचक्र यन्त्र" के तीन वलयो का निरूपण कर यन्त्र को ह्रीकार के ईकार द्वारा त्रिवेष्टित करके समाप्त कर दिया है, क्योकि 'यन्त्र' के 'ह्लीकार वेष्टित' हो जाने के वाद उसके बाहर कोई भी वलय लगाया नही जाता। कही-कही चार कोणो मे चार गुरू पादुकाएँ तो कही-कही चार महेन्द्रादि मन्दल आलेखे हुए अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इनके लिए वलय नही बनाया जाता। कथालेखक ने भी गुरूपादुकादि के वाहर वृत्त खीचने का नही लिखा। इस स्थिति मे कथालेखक ने यन्त्र बाहर जयाजम्भादि, रोहिणी-प्रज्ञप्त्यादि, विमलेश्वरादि अधिष्ठायकशासन देव-देवी, द्वारपाल वीर क्षेत्रपाल दिक्पाल ग्रह आदि देवो का सम्मेलन क्यो

सम्यक्-चरित्र और सम्यक्-तप इन नवपदों से बनता है। इन नवपदों से बने हुए यन्त्र को पूर्वाचार्य सिद्ध चक्र कहते हैं—

'एएहिं नवपएहिं सिद्धं सिरिसिद्धचक्कमेयं जं ।
तस्सुद्धारो एसो पुव्वायरिएहिं निद्दिट्ठो ॥१९॥"

उपर्युक्त गाथा में कथालेखक मुनिचन्द्र सूरि के मुख से कहलाते हैं—मैं तुम्हें जो यन्त्र दे रहा हूं इसका उद्धार पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार किया है—

मुनिचन्द्र सूरि जो श्रीपाल तथा मदना के समय विद्यमान थे पूर्वाचार्यों द्वारा यन्त्रोद्धार होना बताते हैं। कथालेखक कथा के अन्त में श्रीपाल का आयुष्य १०० वर्ष से अधिक होना बताते हैं इससे ज्ञात होता है कि श्रीपाल आयुष्य के लिहाज से भी नेमिनाथ तीर्थङ्कर के बाद के होने चाहिए, जब कि "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि" के सम्पादक इन्हें ११ लाख वर्ष पहले के मानते हैं। यहां पर यह कहना प्रासंगिक होगा कि ११ लाख वर्ष पहले अथवा नेमिनाथ के तीर्थकाल में भारतवर्ष में मन्त्र-तन्त्र की चर्चा तक नहीं थी। उस समय तो क्या भगवान् महावीर के शासन में भी जैनों में आज से १५०० वर्ष पहले मन्त्र-तन्त्रादि की चर्चा नहीं थी। यद्यपि बौद्ध सम्प्रदाय में विक्रम की चौथी पांचवीं शती में तान्त्रिक मान्यताओं का प्रचार चल पड़ा था तथापि जैन समाज उससे सैकड़ों वर्षों तक बचा रहा। जैन सूत्रों में से केवल 'महानिशीथ' में कुछ देवताओं के मन्त्रों के संकेत मिलते हैं परन्तु महानिशीथ विक्रम की नवमी अथवा दशवीं शताब्दी का सन्दर्भ है। जैन-श्रमणों में इसी समय के बाद धीरे धीरे मन्त्रवाद का प्रचार हुआ है। इस स्थिति में श्रीपाल के समकालीन मुनिचन्द्र मुनि के मुख से पूर्वाचार्यों द्वारा यन्त्रोद्धार होने की बात कहलाना कहां तक ठीक है इसका निर्णय मैं अपने पाठकों पर छोड़ता हूं।

१— सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार' बताते हुए कथाकार कहते हैं— 'सर्व प्रथम वलय में बीजाक्षरों के साथ 'अर्हं' पद का न्यास कर उसका ध्यान करो यह सिद्धचक्र यन्त्र का पीठ है। इसको परिवेष्टित करते हुए द्वितीय वलय में पूर्वादि दिशाओं में सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन चार पदों

२४ हीरक सहित गोला चढाया। सिद्ध के पद पर केसर रग से रजित तथा ८ माणिक्य और ३४ प्रवालो से जडित गोला स्थापित किया। आचार्य के पद पर केसर–चन्दन से विलिप्त और ५ गोमेद तथा ३६ सुवर्ण-पुष्पो के साथ गोलक चढाया। चौथे उपाध्याय पद पर नागवल्लीपत्र के समान नीलवर्ण का गोला, चार इन्द्रनील मणियो और २५ मरकत मणियो के साथ स्थापित किया। पाचवे श्याम रग के साधु पद पर कस्तूरी-रञ्जित गोलक पाँच राज-पट्ट रत्न और २७ अरिष्ट रत्नो के साथ स्थापित किया। शेष दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप इन चार श्वेत पदो पर चन्दन-विलिप्त गोलक क्रमश. सडसठ, इक्कावन, सत्तर और पचास मौक्तिको के साथ स्थापित किये। इसके अतिरिक्त नवपद के उद्देश्य मे पदो के वर्णानुसार मेरु सहित माला वस्त्रादि वहाँ चढाये। सोलह अनाहतो मे एक-एक खडी-शाक्कर के अनेक रत्नो से युक्त लिङ्ग रखे। आठ वर्गों के ऊपर एक-एक सोने की कचोली रखकर उनमें क्रमश. छ तक १६-१६ और सातवे आठवे वर्ग की कचोली मे ३२-३२ सुन्दर द्राक्षाओ को रखा और वर्गान्तरगत आठ परमेष्ठी पदों पर खारको का एक-एक पुज किया, और आठ गुरुपादुकाओ पर अनार चढाये। जया जम्भादि आठ देवियो के स्थानो पर नारगियाँ चढाई। सिद्धचक्र के चार अधिष्ठायको के पद पर कूष्माड फल चढाये। १६ विद्या देवियो, २४ यक्षो, और यक्षिणियो को सुपारियाँ चढाई। चार द्वारपालो के पदो पर पीतवर्ण के नैवेद्य के ढेर किये और चार वीरो के पदो पर चार कृष्णवर्ण नैवेद्य के ढेर किये। नव निधियो के स्थानो पर विचित्र रत्नो से परिपूर्ण सुवर्णमय नव कलश धरे और नवग्रह, दिक्पालादि को उनके वर्णानुसार फल पुष्पादि चढ़ाये।

उक्त प्रकार से उद्यापन की स्थापना कराने के उपरान्त राजा ने स्नान-महोत्सव प्रारम्भ किया। स्नानविलेपनादि अष्टप्रकार की पूजा-विधि पूरी करके आरात्रिक-मगल के अवसर पर संघ ने श्रीपाल को मगल-तिलक किया और माला पहिनाई। इसके बाद श्रीपाल ने " जो धुरि—सिरि—अरिहन्त इत्यादि चैत्यवन्दन कर नवपद का स्तवन किया।

किया यह एक अज्ञेय समस्या है। सिद्धचक्र का स्थान-स्थान पर ध्यान करने का लिखा है। कथा की भूमिका में भी गौतम स्वामी के मुख से सिद्धचक्र का ध्यान करने का उपदेश दिलाया है। इस परिस्थिति में "सिद्धचक्र' यन्त्र के साथ देव-देवियों का जमघट कितना असंगत और अप्रस्तावित है इस बात को पाठक स्वयं समझ सकेंगे।

सिद्धचक्र-यन्त्र" के सम्बन्ध में हमारा तो मन्तव्य यह है कि कथाकार श्री रत्नशेखर सूरि को किसी दिगम्बर विद्वान् की यन्त्रोद्धार विषयक कृति हाथ लगी है कि जिसके आधार से उक्त यन्त्रोद्धार विधि और आगे दी जाने वाली उद्यापन विधि अपनी कथा में दाखिल कर मुहरबन्द कर दिया है क्योंकि यन्त्र में निर्दिष्ट अड़तालीस लब्धियाँ श्वेताम्बर जैनों की नहीं किन्तु दिगम्बरों के घर की चीज हैं। चार द्वारपाल तथा कपिल और पिंगल ये वीर भी श्वेताम्बर जैन-शास्त्र में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

(३) सिद्धचक्राराधन-तप का उद्यापन :

कथालेखक श्री रत्नशेखर सूरि श्रीपाल को पैतृक राज्य प्राप्त हो जाने के बाद फिर नवपद का तपोविधान करवा के साढ़े चार वर्ष में तप पूरा होने पर अपने वैभव के अनुसार विस्तार पूर्वक तप का उद्यापन करवाते हैं जिसका संक्षिप्त सार निम्नलिखित है—

"उसके बाद राजा ने अपनी राज्य-शक्ति और वैभव के अनुसार विस्तार पूर्वक तप-उद्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। एक विस्तीर्ण भूमि भाग वाले जिनमन्दिर में तीन वेदिकायुक्त विशाल पीठ बनवाया उस पीठ पर मन्त्रपवित्रित शालिप्रमुख पंचवर्ण वाले धान्यों से "सिद्धचक्र' का मण्डल निर्माण कराया और सामान्य रूप से अरिहन्तादि नवपदों के स्थान पर घृत खाँड युक्त नारियल के नव गोले रखे। फिर राजा श्रीपाल ने अपने वैभव के अनुरूप उन स्थानों पर विशेष प्रकार से मौलक चढ़ाये जिन में अरिहन्त के पद पर चन्दन कपूर से लिप्त आठ कर्केतन रत्न तथा

खोचडी पकाली है क्योंकि इसमे से बहुत सी बातें दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य नही है। तब कुछ बातें श्वेताम्बर मान्यता से भी विरुद्ध पडती हैं। सिद्धचक्र के अधिष्ठायको को कूष्माण्ड फल चढाने की बात पौराणिक पद्धति से ली गई है, जो दोनो परम्पराओ को मान्य होने मे शका है।

उद्यापन की समाप्ति मे श्रीपालकथा-लेखक श्रीपाल द्वारा सार्धर्मिक वात्सल्य तथा सघपूजा करवाते हैं। वे लिखते हैं—

"वज्जंतएहिं मंगल-तूरेहिं सासणं पभावंतो ।
साहम्मियवच्छल्लं, करेइ वरसंघपूयं च ॥ १२११ ॥"

उपर्युक्त गाथोक्त वादित्रवादन सार्धर्मिकवात्सल्य सघपूजा १४-१५ वी शताब्दी के विशेष प्रसिद्ध कर्तव्य हैं। इससे जाना-जाता है कि इस कथा का मूल आधार ग्रन्थ दो सम्प्रदायो मे से किसी एक सम्प्रदाय का रहा भी हो तो भी वह अर्वाचीन था, प्राचीन नही।

लेखक राजा श्रीपाल की राज्यऋद्धि का विस्तार बताते हुए कहते हैं—

" गय-रह-सहस्सनवग नव लक्खाइं च जच्चतुरयाण ।
पत्तीण नव कोडी, तस्स नरिंदस्स रज्जंमि ॥ १२१४ ॥"

अर्थात्—राजा श्रीपाल की सेना मे ९००० हाथी, ९००० रथ, नव लाख जात्य घोडे और नव करोड पैदल सैनिक थे।

उपर्युक्त कथन मे कितनी अतिशयोक्ति है इसके सम्बन्ध मे मैं अपना अभिप्राय न देकर इतना ही कहूगा कि श्रीपाल को लेखक ने अग देश का राजा बताया है। उसने अपना राज्य प्राप्त करने के उपरान्त अन्य किसी भी देश अथवा मडल पर चढाई कर विजय करने का लेखक ने नही लिखा। इस दशा मे श्रीपाल के पत्ति-सैन्य की सख्या नव करोड थी तो उसके देश अग मे कुल जनसख्या कितनी थी, यह भी कथा-लेखक ने बता दिया होता तो इस कथा की वास्तविक सत्यता पर बहुत अच्छा प्रकाश पड जाता।

कथाकार ने श्रीपाल का राजत्व-काल सम्पूर्ण ९०० वर्ष का बताया है। उक्त समय के उपरान्त श्रीपाल अपनी प्रथम रानी मदनसुन्दरी की कोख से

ऊपर मैं ने श्रीपालकथा में लिखे हुए नवपद आराधन तप के उद्यापन का प्राय: शब्दश: सारांश दिया है। श्री खाण्ड के साथ नारियल के गोलों का चढ़ाना अथवा भिन्न-भिन्न मणिरत्न मोतियों के साथ मोदकों का चढ़ाना श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुरूप है या नहीं इसका निश्चित निर्णय तो नहीं दिया जा सकता परन्तु जहाँ तक मैंने श्वेताम्बर सम्प्रदायमान्य विविध तपों के विधानों और उनके उद्यापनों की विधियाँ पढ़ी हैं उनमें उक्त उद्यापन के समान अन्य किसी तप की उद्यापनविधि में श्री खांड तथा विविध रत्नों के चढ़ाने का पाठ नहीं पढ़ा। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण उद्यापन म रखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक उपकरण रत्नत्रयी की वृद्धि के लिए रखे जाते हैं। फल-मेवा नैवेद्य पूजोत्सव में रखे जाते हैं उद्यापन में नहीं। विविध मणिरत्नों का तो क्या रुपया पैसा भी तीर्थंकरों की पूजा-प्रतिष्ठा में चढ़ाने का हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने विधान नहीं किया सुगन्धी मन्धों पुष्पों धूपों दीपों नैवेद्यों अक्षतों और जल पदार्थों से ही परमेष्ठी पदों की पूजा-भक्ति करने का हमारा प्राचीन साहित्य प्रतिपादन करता है। पूजा-प्रतिष्ठा उद्यापनों में कीमती वस्तुओं के पदार्थ अथवा रुपया पसा चढ़ाने की पद्धति शास्त्रीय अथवा संविग्न गीतार्थाचरित नहीं किन्तु चैत्यों की व्यवस्था करने वाले शिथिलाचारी साधुओं परिग्रह धारी यी पूज्यों यतियों तथा दिगम्बर भट्टारकों की है। 'आचारदिनकर' ग्रन्थ जो दिगम्बर भट्टारकों तथा चैत्यवासी श्वेताम्बर शिथिल साधुओं की मान्यताओं का विक्रमीय १५ वीं सदी का संग्रह है इसमें प्रतिष्ठा तथा अन्य विधानीय स्थापन पूजन में मुद्रा अर्थात् रुपया-पैसा चढ़ाने का सर्व प्रथम विधान मिलता है। इसके पूर्ववर्ती किसी भी प्रतिष्ठा-विधि में पूजा-पदार्थों के साथ मुद्रा चढ़ाने का उल्लेख देखा नहीं जाता। इससे प्रमाणित होता है कि 'सिरिसिरिवाल कथा' में लिखी हुई नवपद-पूजा विधि तथा उद्यापन विधि विक्रम की १५ वीं शती के पूर्व की नहीं है। या तो रत्न-शेखर सूरि को किसी दिगम्बर भट्टारकजी का 'सिद्धचक्रपूजा' विषयक कोई विधान हाथ लगा है जिसके सहारे स कुछ [illegible] और कुछ श्वेताम्बरीयता प्रतिपादक बातों का [illegible] की यह

खोचडी पकाली है क्योकि इसमे से बहुत सी बाते दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य नही हैं। तब कुछ बातें श्वेताम्बर मान्यता से भी विरुद्ध पडती हैं। सिद्धचक्र के अधिष्ठायको को कूष्माण्ड फल चढाने की बात पौराणिक पद्धति से ली गई है, जो दोनो परम्पराओ को मान्य होने मे शका है।

उद्यापन की समाप्ति मे श्रीपालकथा—लेखक श्रीपाल द्वारा सार्धमिक वात्सल्य तथा सघपूजा करवाते हैं। वे लिखते हैं—

"वज्जंतएहिं मंगल-तूरेहिं सासणं पभावंतो ।
साहम्मियवच्छल्ल, करेइ वरसंघपूय च ॥ १२११ ॥"

उपर्युक्त गाथोक्त वादित्रवादन सार्धमिकवात्सल्य सघपूजा १४-१५ वी शताब्दी के विशेष प्रसिद्ध कर्तव्य हैं। इससे जाना-जाता है कि इस कथा का मूल आधार ग्रन्थ दो सम्प्रदायो मे से किसी एक सम्प्रदाय का रहा भी हो तो भी वह अर्वाचीन था, प्राचीन नही।

लेखक राजा श्रीपाल की राज्यऋद्धि का विस्तार बताते हुए कहते हैं—

" गय—रह-सहस्सनवग नव लक्खाइं च जच्चतुरयाणं ।
पत्तीण नव कोडी, तस्स नरिंदस्स रज्जमि ॥ १२१४ ॥"

अर्थात्—राजा श्रीपाल की सेना मे ९००० हाथी, ९००० रथ, नव लाख जात्य घोडे और नव करोड पैदल सैनिक थे।

उपर्युक्त कथन मे कितनी अतिशयोक्ति है इसके सम्बन्ध मे मैं अपना अभिप्राय न देकर इतना ही कहूगा कि श्रीपाल को लेखक ने अग देश का राजा बताया है। उसने अपना राज्य प्राप्त करने के उपरान्त अन्य किसी भी देश अथवा मडल पर चढाई कर विजय करने का लेखक ने नही लिखा। इस दशा मे श्रीपाल के पत्ति-सैन्य की सख्या नव करोड थी तो उसके देश अग मे कुल जनसख्या कितनी थी, यह भी कथा-लेखक ने बता दिया होता तो इस कथा की वास्तविक सत्यता पर बहुत अच्छा प्रकाश पड जाता।

कथाकार ने श्रीपाल का राजत्व-काल सम्पूर्ण ९०० वर्ष का बताया है। उक्त समय के उपरान्त श्रीपाल अपनी प्रथम रानी मदनसुन्दरी की कोख से

जन्मे त्रिभुवनपाल नामक अपने पुत्र को राज्यासन पर बैठाकर स्वयं सिद्धचक्र की स्तवना में लीन हुआ। लेखक ने सिद्धचक्र के प्रत्येक पद की नव-नव गाथाओं में स्तवना कराई है। उसके बाद नव पद के ही ध्यान में लीन होकर आयुष्य पूर्ण कर श्रीपाल नवम देवलोक में देवगति को प्राप्त हुआ। राज्यप्राप्ति के समय श्रीपाल की कितनी उम्र हुई थी और राज्य त्याग के उपरान्त वह कितने वर्षों तक जीवित रहा इसका कुछ भी सूचन नहीं किया। वर्तमान चतुर्विंशति तीर्थङ्करों में से किस तीर्थङ्कर के धर्म शासन-काल में यह राजा हुआ इस विषय में भी कथालेखक ने कहीं भी निर्देश नहीं किया। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि "श्रीपालकथा" तपोमाहात्म्यसूचक औपदेशिक कथा है चरित्र नहीं।

कथाकार ने श्रीपाल के मुख से उद्यापन के देव-वन्दन के प्रसंग पर जो नवपद की स्तवना कराई राज्यत्याग के बाद प्रत्येक पद की नव-नव गाथाओं से जो स्तवना कराई और भगवान् महावीर के मुख से नवपद का जो स्वरूप प्रतिपादन कराया उन सभी गाथाओं को सामने रखकर उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने नवपद की पूजा का अपने समय की भाषा में निर्माण किया है जो श्वेताम्बर परम्परा में अति प्रसिद्ध है।

श्रीश्रीपाल-कथा को पढ़कर उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने योग्य बातें ऊपर के अवलोकन में लिखी हैं। हमारी इच्छा "सिद्धचक्र" की पूजा तथा नव पद की तपस्या में विशुद्धता आए ऐसी है न कि इसको किसी प्रकार की हानि पहुंचाने की। आजकल इस कथा के नाम को आगे रखकर "सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार पूजन विधि" जैसे नये नये अनुष्ठानों की सृष्टि हो रही है जो सिद्धचक्र के पवित्र पूजन तथा तद्विषयक तप को कलङ्कित करने वाली है। आशा की जाती है कि इस अवलोकन को पढ़कर नवीन पूजन विधियों का प्रचार करने वाले सज्जन इनका वास्तविक स्वरूप समझेंगे और इसके प्रचार को रोकेंगे।

सिरिवज्जसेण गणहर-पट्टप्पहु हेमतिलयसूरीणं ।
सीसेहिं रयणसेहर-सूरीहिं इमा हु संकलिया ॥ १३४० ॥
तस्सीसहेमचंदेण साहुणा विक्कमस्स वरिसंमि ।
चउदस अट्ठावीसे लिहिया गुरु-भत्तिकलिएण ॥ १३४१ ॥

: ६ :

"सिद्धचक्र महापूजा"

"अर्थात्"

सिद्धचक्रयन्त्रोद्धार पूजन-विधि

(एक अवलोकन)

ले० पं० कल्याणविजय गणी

पिछले कितनेक वर्षों मे हमारे श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय मे एक नया पूजन–विधान प्रचलित हुआ है, जिसे साधारण जनता 'सिद्धचक्र महापूजा" इस नाम से पहिचानती हैं। इस विधान को बतलाने वाली पुस्तक की अब तक दो आवृत्तियां निकल चुकी हैं। प्रथमावृत्ति वाली पुस्तक की पट्टडियो पर "श्रीसिद्धचक्र-वृहत्-पूजन-विधि" इस प्रकार नाम छपा है और पुस्तक के टाइटिल पेज पर "श्रीसिद्धचक्र–यन्त्रोद्धार–पूजन विधि" यह नाम मुद्रित है। दूसरी आवृत्ति वाली पुस्तक की पट्टडियों पर "श्रीसिद्धचक्र–यन्त्रोद्धार पूजन विधि" यह नाम मुद्रित है, और टाइटिल पेज पर भी यही नाम कायम रखा है। इस प्रकार ग्रन्थ के नाम परिवर्तन से यह मालूम होता है कि ग्रन्थ का नाम प्राचीन नहीं बल्कि नव-निर्मित है। यह पूजन-विधि का ग्रन्थ सम्पादको को यथार्थ रूप मे प्राप्त नही हुआ है, प्रकाशकीय निवेदन से भी इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि इस का प्रथम–पत्र प्रथमावृत्ति के समय उपलब्ध नही हुआ था। इसी कारण से प्रथमावृत्ति मे प्रथम चतुर्विंशति के प्रथम के कतिपय श्लोक नहीं छप सके हैं, द्वितीयावृत्ति मे प्रथम चतुर्विंशतिका पूरी मुद्रित है, परन्तु इसका स्पष्टीकरण नही मिलता कि ये प्राथमिक श्लोक पुस्तक के प्रथम पत्र के उपलब्ध होने से मिले है, अथवा सशोधक ने इन्हे बनाकर पूर्ति की हैं ?

उपर्युक्त असंगतियों के उपरान्त इसमे कुछ ऐसे भी उद्धरण दृष्टि गोचर होते हैं, जो प्रस्तुत पूजन विधि के मूल लेखक के न होकर इस विधि

के सम्पादकों द्वारा प्रक्षिप्त किये गए हैं। इस पूजा विधान को ध्यान पूर्वक पढ़ने से मुझे जो विचार स्फुरित हुए वे नीचे दिए जाते हैं—

(१) मेरी दृष्टि में यह पूजा-विधि सर्वांश में न श्वेताम्बर जैन परम्परा की है न दिगम्बर जैन परम्परा की किन्तु इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर जैन मान्यताओं के अतिरिक्त पौराणिक पद्धति का भी पुट लगा हुआ है इस बात की सत्यता सिद्ध करने के लिए नीचे कतिपय प्रमाणों का उल्लेख किया जाता है।

ग्रन्थ को श्वेताम्बर साबित करने वाले उल्लेख—

१ पूजन विधि के प्रारम्भ में दिया हुआ 'अर्हन्तो भगवन्त इन्द्र महिता' इत्यादि पद्य इस पूजन विधि का न होकर एक खरतर गच्छ के आचार्य द्वारा निर्मित मंगल स्तुति है।

२ 'आश्विनस्य सिताष्टम्यां निर्दोषायां यथाविधि ।
कृत्वा श्रीसिद्धचक्रार्चामाचाराम्लो विधीयते ॥ २ ॥

इस श्लोक में सिद्धचक्र की तपस्या का प्रारम्भ आश्विन शुक्ला अष्टमी से प्रारम्भ करने का विधान किया है और पूर्णिमा के बाद नवम आयम्बिल करने का विधान किया है और इसके बाद के दो श्लोकों में साढे चार वर्षों में इक्यासी आयम्बिल पूरे करके तप का उद्यापन करने का उपदेश किया है तथा उद्यापन में जमीन पर पांच रंग के धान्यों से 'सिद्धचक्र' के मण्डल के आलेखन की बात कही है।

उपर्युक्त विधान 'सिरि सिरिवालकहा' का संस्कृत रूपान्तर मात्र है जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आज कल प्रचलित "सिद्धचक्र तपो-विधान" से हूबहू मिलता है। फरक इतना ही है कि आज कल 'सिद्धचक्र आयम्बिल' तप आश्विन शुक्ला सप्तमी से शुरू होते हैं। उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा प्रारब्ध और यशोविजयजी द्वारा पूरित "सिद्धचक्र रास" निर्माण के समय में अर्थात् विक्रम की १८ वीं शताब्दी के द्वितीय चरण में सप्तमी का दिन आयंबिल तप में सम्मिलित हो चुका था। इन बातों से ज्ञात होता है कि इस पूजन विधि की प्राथमिक तीन पद्य चतुर्विंशतियाँ किसी श्वेता-

म्बर जैन विद्वान् की कृतियाँ हैं। जो "सिरि सिरि वालकहा" की प्राकृत गाथाओ के आधार मे बनाई गई हैं।

वीरविजयजी कृत "स्नात्र-पूजा" पढाने की सूचना आदि ये सभी प्रमाण निश्चित रूप से इस विधान की आधुनिकता और श्वेताम्बरीयता प्रमाणित करते हैं।

३ तृतीय चतुर्विंशतिका के पद्य १५ वे तथा १६ वे मे क्रमश. "सिद्ध-चक्र" के प्रथम तथा द्वितीय पद के आराधको के नामोल्लेख किये हैं। वे नाम भी "सिरि सिरिवाल कहा" की मान्यता के ही अनुरूप हैं, इसमे चतुर्विंशतियो के श्वेताम्बर प्रणीत होने की हमारी मान्यता विशेष दृढ हो जाती है।

४ पूजा के बाद दी हुई देववन्दन विधि आधुनिक श्वेताम्बरीय विधि है, और देव वन्दन के प्रारम्भ मे चैत्य वन्दन के स्थान पर बोलने के लिए "जो धुरि सिरि अरिहन्त मूल दढ पीठ पइट्ठियु०" एक अपभ्रंश भाषा का पद्य लिखा है, वह भी "सिरि सिरिवाल कहा" का ही है।

५ "सिद्धचक्र महापूजा" मे दिया हुआ पूजा-विधान विक्रम की १६ वी सदी के पहले का नहीं, अष्टप्रकारी पूजा के जो अष्टप्रकार बताये हैं वे निश्चित रूप से सोलहवी शती के हैं, क्यो कि इसके पूर्ववर्ती काल मे अष्ट-प्रकारी पूजा मे जल-पूजा का नम्बर आठवा था, तब प्रस्तुत पूजन मे जल-पूजा को सर्व प्रथम रखा है, इससे स्पष्ट हो जाता है, कि यह पूजा-विधान १७ वी सदी के पहले का नही हो सकता।

६. "ॐ असि आ उ सा द ज्ञा चा ते भ्यो नम" विधान लेखक ने इसको "सिद्धचक्र" का मूल-मन्त्र बतलाया है, कोई ४००-५०० वर्षों से पच परमेष्ठी के नामो के आद्याक्षरो को लेकर श्वेताम्बर तथा दिगम्बर शिथिलाचारी आचार्यों ने "असि आ उ स य नम" इस प्रकार का मन्त्र बनाकर लोगो को दिया था तब "सिद्धचक्रमहापूजा" विधान लेखक ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शब्दो के आद्याक्षरो को उक्त सक्षिप्त मत्र के पीछे जोडकर "सिद्धचक्र"

का मूल मन्त्र बतलाया, मैं समझता हूं कि लेखक इस प्रकार के कार्य में अपना समय लगाने के बदले किसी उपयोगी कार्य में लगाता तो विशेष लाभ के भागी होते।

७ सिद्धचक्र के मण्डल की रचना में जो पञ्चवर्णधान्य का उल्लेख है वह भी इस विधान की अर्वाचीनता को ही सिद्ध करता है धान्यों द्वारा सिद्धचक्र का मण्डल बनाने की पद्धति 'सिरि सिरि वालकहा' के सिवाय पूर्वकालीन किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती प्रतिष्ठा-कल्पों में भी उपाध्याय सकलचन्द्रजी गणी का 'प्रतिष्ठा-कल्प' जो विक्रम की १७ वीं शती की कृति है प्रतिष्ठा में 'सिद्धचक्र' का पूजा-विधान बताया है। इसके अतिरिक्त किसी प्राचीन प्रतिष्ठा विधि में 'सिद्धचक्र' का पूजा-विधान नहीं बताया। उस समय केवल नन्द्यावर्त के अन्तर्गत ही सिद्धचक्र के पदों का पूजन होता था।

८ पूजन विधि में दिये स्तोत्रों में 'वज्रपञ्जर-स्तोत्र' निश्चित रूप से श्वेताम्बरीय है और 'शान्ति-दण्डक' के अन्त में दिए हुए 'शिवमस्तु सर्व जगत' इत्यादि दो पद्य भी निश्चित रूप से श्वेताम्बर जैन परम्परा के हैं।

९ विधान के प्रारम्भ में 'वज्रपञ्जर' करने का जो विधान बताया है वह निश्चित रूप से आधुनिक श्वेताम्बरीय विधान है। 'वज्रपञ्जर' के बाद दिग्-बन्धन का "किरिटि किरिटि" इत्यादि जो मन्त्र दिया है वह पादलिप्त प्रतिष्ठा-पद्धति' का है जो प्रतिष्ठा पद्धति श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठा पद्धतियों में सब से प्राचीन पद्धति है।

१० मन्त्रोद्धार के छठे सातवें वलय की जया जम्भादि आठ और रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि सोलह देवियां भी 'पादलिप्त-प्रतिष्ठा-पद्धति' के नन्द्यावर्त के दो वलयों की देवियाँ हैं, जो श्वेताम्बरीय पद्धति का प्रतिपादन करती हैं।

(२)—अब पूजा विधि की दिगम्बरीयता सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण दिए जाते हैं—

१ प्रथम चतुर्विंशतिका के प्रारम्भ में ही दूसरे वलय में वर्गों को 'अना हत' के साथ स्थापन करने की बात लिखी है; तृतीय वलय में आठ 'अना-हत" स्थापन की बात है।

"सिद्धचक्र-स्तोत्र" मे भी कोई तीन बार "अनाहत" शब्द आता है। चतुर्थ वलय के पादुका-पूजन के चतुर्थ वलय मे "अनाहत" शब्द का प्रयोग हुआ है। देव वन्दन के अन्त मे बोले जाने घाले स्तवन मे भी अनाहत शब्द का प्रयोग हुआ है। अष्ट प्रकार की पूजा के आठो पद्यो मे "श्रीसिद्धचक्र" को अनाहत कहकर-उसका यजन करने का कहा है। चैत्यवन्दन का स्तवन पूरा होने के बाद प्रार्थनात्मक एक स्तोत्र दिया है, जिसमे वार जगह 'अनाहत' शब्द-प्रयुक्त हुआ है। प्रार्थना स्तोत्र के वाद आनेवाले "शान्तिदण्डक" मे भी 'अनाहत' शब्द का दो बार उल्लेख आया है।

इस प्रकार वार-वार अनाहत शब्द के प्रयोगो से प्रस्तुत अनुष्ठान थोडी बार के लिए "शैव सम्प्रदाय के योगियो का अनुष्ठान" सा भासता है, क्यो कि "अनाहत" शब्द शैव योगियो का परिभाषिक शब्द है, जैन परिभाषा का नही, प्रचीन जैन सूत्रो तथा मध्यकालीन जैन प्रकरण-ग्रन्थो तथा चरित्रो मे इस शब्द की कहीं चर्चा नही। आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिजी ने अपने योग-शास्त्र के अन्तिम प्रकाश मे सिर्फ एक स्थान पर 'अनाहत' शब्द का प्रयोग देव के रूप मे किया है, जो योगियो की परिभाषा है, लगभग १४वी सदी मे योगियो के अनाहत-शब्द को "तान्त्रिको" ने अपने मन्त्रों तथा स्तोत्रो मे प्रयुक्त करना शुरू किया, रहते-रहते जैन साधुओं ने भी इसे अपना लिया। "सिरि सिरि वाल कहा" मे भी ,अनाहत' शब्द अनेक स्थान पर आया है, जैनो में भी श्वेताम्बरो से दिगम्बर भट्टारक इस विषय मे अग्रेसर थे, अनाहत शब्द को ही नही, अन्य भी अनेक श्रौत-स्मार्त तथा पौराणिक पद्धतियो को लेकर अपने ग्रन्थ के ग्रन्थ भर दिये थे, कुछ बातें श्वेताम्बर ग्रन्थकारो ने भी अपनायी अवश्य है, इस परिस्थिति पर विचार करने से हमे यही प्रतीत होता है कि अनाहत शब्दो की भर मार वाला यह "सिद्धचक्र-पूजन-विधान" मूल मे दिगम्बर कृति होनी चाहिए जिसके आधार पर "सिरि सिरिवाल कहा" तथा प्रस्तुत पूजा-विधान तय्यार किया गया है।

२. यन्त्र-निर्माण की विधि मे लब्धियो की चर्चा करने वाला निम्नलिखित

भप्टावनाहुता स्थाप्यास्तृतीये वलये क्रमात् ।
मध्येऽनाहतमप्टाद्यावचत्वारिंशद्ध सल्बय' ।।७।।

उपर्युक्त श्लोक में ४८ लब्धियों का सूचन है ये ४८ लब्धियाँ भी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों की चीज है श्वेताम्बर आगमों तथा प्रामाणिक ग्रन्थों में २८ लब्धियों का निरूपण है अड़तालीस का नहीं ।

इसमें दिया हुआ लब्धि प्राप्त महर्षियों का स्तोत्र भी किसी दिगम्बर विद्वान् की कृति है क्योंकि इसका निरूपण सम्यक्' श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता से नहीं मिलता ।

३ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की १५वीं शताब्दी के प्रथम चरण में निर्मित सिरि सिरिवाल कहा में 'सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार' निर्माण की बात तथा पांच धान्यों से सिद्धचक्र के मण्डल की स्थापना करने की बात अवश्य है परन्तु ये दोनों बातें दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ से ली हुई मालूम पड़ती हैं क्योंकि श्वेताम्बर जैन परम्परा के प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थ भाण्डागारों की सूचियों में इस विधि का नामोल्लेख नहीं मिलता। श्वेताम्बर परंपरा में १७ वीं १८वीं सदी के मध्यभाग में होने वाले प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशो-विजयजी द्वारा निर्मित सिद्धचक्र-पूजा' नामक एक छोटी सान भाषा म बनाई हुई पूजा मिलती है जो 'नवपद-पूजा' इस नाम से विशेष प्रसिद्ध है। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा में सोलहवीं तथा सत्तरहवीं शताब्दी के अनेक विद्वान् भट्टारकों ब्रह्मचारियों ने लगभग 'लघु-सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजा' 'सिद्धचक्र बृहत्पूजा और सिद्धचक्र-महापूजा' आदि सिद्धचक्र के पूजा विधान बनाये थे ऐसा दिगम्बरीय साहित्य पढने से ज्ञात होता है ।

४ 'लघु-सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजा' के कर्ता भट्टारकजी का नाम मालूम नहीं है परन्तु वे सत्रहवीं सदी के विद्वान् निश्चित थे 'सिद्धचक्रमन्त्र' और 'बृहत्सिद्धचक्रपूजा पाठ' के कर्ता बुध वीव (वीर) हुए हैं इन्होंने विक्रम संवत् १५८६ में इस पूजा-पाठ की रचना की थी । ये गृहस्थ विद्वान् थे । 'सिद्धचक्र-महापूजा' इसके कर्ता ब्रह्मचारी 'श्रुतसागर सूरि' थे। श्रुतसागर

भट्टारक विद्यानन्दी के देशविरति शिष्य थे। श्रुतसागर उस समय के अच्छे विद्वान् थे इन्होने कोई आठ ग्रन्थो पर टीकाएँ लिखी थी। इसके अतिरिक्त अनेक प्राकृत, सस्कृत भाषा के ग्रन्थो का निर्माण किया था। उन्ही मे-से "सिद्धचक्र महापूजा" एक अनुष्ठान ग्रन्थ था, इसका दूसरा नाम सिद्धचक्राष्टक वृत्ति" भी लिखा है। इससे मालूम होता है, इन्होने "सिद्धचक्र" की पूजा पर आठ पद्य लिखकर उनके विवरण रूप मे यह "पूजा-विधान" तय्यार किया होगा। श्रुतसागर का सत्ता-समय विक्रमीय १६ वी सदी का उत्तरार्ध और १७ वीं का प्रारम्भ था। इनके अनेक-ग्रन्थ-आज भी उपलब्ध होते है, परन्तु "सिद्धचक्र महापूजा" कही मिलती है या नही, यह कहना कठिन है। भट्टारक विद्यानन्दी श्रुतसागर आदि का विहार दक्षिण गुजरात मे होता था भट्टारक विद्यानन्दी सूरत की गद्दी के आचार्य थे। खम्भात के निकटवर्ती गन्धार बन्दर में रहकर श्रुतसागर ने एक ग्रन्थ का निर्माण किया था, इससे यह भी पाया जाता है कि विद्यानन्दी भट्टारक तथा उनके शिष्य श्रुतसागर सूरि खासकर दक्षिण गुजरात मे विचरते थे। अहमदाबाद मे आचार्य श्री नीति-सूरिजी के भण्डार मे से प्रस्तुत "सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार-पूजन विधि" की प्रति मिलने की बात प्रस्तावना मे कही गई है, इससे सम्भव है, विधि की यह पुस्तक आचार्य श्रुतसागर की उक्त "सिद्धचक्र-महापूजा" को ही किसी श्वेताम्बरीय विद्वान् द्वारा विकृत करके श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मानी हुई प्रति होगी। कुछ भी हो, "पूजन विधि" का मूलकर्त्ता कोई दिगम्बर विद्वान् था, इसमे विशेष शका नही है।

५ यन्त्र के पचम वलय मे दिये हुए "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायको के नामो मे अनेक नामोवाले-देवों को श्वेताम्बर परम्परा "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायक नही मानती, जैसे—"विमलवाहन" श्वेताम्बर परम्परा मे "सिद्धचक्र" के अधिष्ठायक होने की मान्यता नही है, "धरणेन्द्र", भी भगवान् पार्श्वनाथ का भक्त माना गया है। "सिद्धचक्र" का नही, "कपर्दियक्ष" शत्रुञ्जय तीर्थ का रक्षक होने की श्वेताम्बरीय मान्यता है, सिद्धचक्राधिष्ठायक होने की नही। "शारदा", यह नाम सरस्वती के पर्यायो मे प्रयुक्त अवश्य हुआ है, परन्तु "सिद्धचक्र", के साथ इसका क्या सम्बन्ध है, इसका कोई पता नही।

'अष्टावनाहता स्थाप्यास्तृतीये वलये क्रमात् ।
मध्येऽनाहतमष्टाचत्वारिंशच्च सम्पदः ॥७॥

उपर्युक्त श्लोक में ४८ लब्धियों का सूचन है ये ४८ लब्धियाँ भी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों की चीज है श्वेताम्बर आगमों तथा प्रामाणिक ग्रन्थों में २८ लब्धियों का निरूपण है अड़तालीस का नहीं ।

इसमें दिया हुआ लब्धि प्राप्त महर्षियों का स्तोत्र भी किसी दिगम्बर विद्वान् की कृति है क्योंकि इसका निरूपण सर्वथा श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता से नहीं मिलता ।

३ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की १५वीं शताब्दी के प्रथम चरण में निर्मित सिरि सिरिवाल कहा में 'सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार' निर्माण की बात तथा पाँच भाष्यों से सिद्धचक्र के मण्डल की स्थापना करने की बात अवश्य है परन्तु ये दोनों बातें दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ से ली हुई मालूम पड़ती हैं क्योंकि श्वेताम्बर जैन परम्परा के प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थ भाण्डागारों की सूचियों में इस विधि का नामोल्लेख नहीं मिलता । श्वेताम्बर परपरा में १७ वीं १८वीं सदी के मध्यभाग में होने वाले प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशो-विजयजी द्वारा निर्मित सिद्धचक्र-पूजा' नामक एक छोटी लोक भाषा में बनाई हुई पूजा मिलती है जो 'नवपद-पूजा' इस नाम से विशेष प्रसिद्ध है । इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा में सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के अनेक विद्वान् भट्टारकों ब्रह्मचारियों ने लगभग 'लघु-सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजा' 'सिद्धचक्र बृहत्पूजा' और सिद्धचक्र-महापूजा' आदि सिद्धचक्र के पूजा विधान बनाये थे ऐसा दिगम्बरीय साहित्य पढ़ने से ज्ञात होता है ।

४ 'लघु-सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजा' के कर्ता भट्टारकजी का नाम याद नहीं है परन्तु ये सत्रहवीं सदी के विद्वान् निश्चित थे 'सिद्धचक्रयन्त्र' और 'बृहत्सिद्धचक्रपूजा पाठ' के कर्ता शुभ चीव (चीर) हुए हैं इन्होंने विक्रम संवत् १५८६ में इस पूजा-पाठ की रचना की थी । ये गृहस्थ विद्वान् थे । 'सिद्धचक्र-महापूजा' इसके कर्ता ब्रह्मचारी श्रुतसागर सूरि' थे । श्रुतसागर

इसका पता तक नही लगा कि नव कलशो का सात देवियो से अधिवासन कैसे हो सकेगा, इस करतूत से तो यही मालूम होता है कि इस कृति मे उलट-फेर करने वाला कोई अच्छा विद्वान् नही था। वास्तव मे ॐ कार के वाद के दो अक्षर बीजाक्षर नही, किन्तु "द्रहनिवासिनी दो देवियो के नाम हैं" और इनके आगे के चार नाम भी द्रह-देवियो के है। इनका सच्चा क्रम "ॐ, श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी' इस प्रकार से है। ये छ द्रहनिवासिनी देवियाँ हैं ये छ देवियाँ दिगबर तथा श्वेताम्बर दोनो परपरा वालो को मान्य हैं, शान्ति देवी का नाम श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठा-कल्पो में आता है, परन्तु "तुष्टि" "पुष्टि" को श्वेताम्बर सप्रदाय के किसी भी ग्रन्थ मे देवियो के स्वरूप मे नही माना। वास्तव मे "शान्ति, तुष्टि, पुष्टि" ये तीनो पौराणिक-मातृका-देवियाँ है, जिन्हे "सिद्धचक्र महापूजा" के मूल लेखक ने द्रह-देवियों के साथ इनको जोडकर नव-देवियाँ वना ली हैं। इससे यह वात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि इस पूजा-विधान का मूल लेखक कोई दिगम्बर विद्वान् था।

७ चतुर्विंशति जिन यक्षो मे बारहवे यक्ष का नाम "असुर-कुमार' लिखा है, जो वास्तव मे अश्वेताम्बरीय है, श्वेताम्बर परम्परा बारहवे तीर्थंकर के यक्ष का नाम "कुमार" मानती है, न कि 'असुरकुमार,।

८ श्वेताम्बर परम्परा चौबीसवें यक्ष का नाम 'मातङ्ग, मानती है, न कि 'ब्रह्मशान्ति। 'ब्रह्मशान्ति देव महावीर का भक्त अवश्य था, परन्तु उसे उनका शासन.यक्ष मान लेना श्वेताम्बर सप्रदाय की मान्यता के विरुद्ध है।

९ कुमुद अजन वामन पुष्पदन्त इन चार दिग्गजो को 'सिद्धचक्र, के द्वारपाल बनाने मे केवल कल्पना बिहार किया है, क्यो कि जैन प्रामाणिक ग्रन्थो मे "सिद्धचक्र" के तो क्या तीर्थङ्करो के समवसरण के द्वारपालो मे भी इनके नाम परिगणित नही है "सिरि सिरिवाल कहा" मे ये चार नाम दृष्टि गोचर होते हैं• परन्तु यह अश्वेताम्बरीय प्रक्षेप हैं।

१०. नवम वलय मे चार वीरो की पूजा करना वताया है वीरो के नाम मणिभद्र पूर्णभद्र कपिल पिंगल लिखे है इनमे से प्रथम के दो नाम श्वेताम्बर

शान्ति देवता' का भी सिद्धचक्र से सम्बन्ध है ऐसा श्वेताम्बर परम्परा को विदित नहीं है।

त्रिभुवनस्वामिनी ज्वालामालिनी, श्रीदेवता, वरोट्या, कुरुकुल्ला, कुबेरदेवता, कुलदेवता' इन नामों में से त्रिभुवनस्वामिनी और श्रीदेवता ये दो देवियां सूरि मन्त्र की अधिष्ठायिकायें हैं, न कि 'सिद्धचक्र' की, ऐसा श्वेताम्बर परम्परा मानती है।

'ज्वाला मालिनी' चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर की यक्षिणी है, और ''वैरोट्या'' तीर्थङ्कर-नमिनाथ-की यक्षिणी है। 'कुरुकुल्ला' देवी-जैन-देवता के रूप में नहीं मानी-गई, तान्त्रिक- बौद्धों की देवी है। यदि किसी श्वेताम्बर विद्वान ने इसके स्तोत्र बनाये हैं तो इसका कारण मात्र यही है कि यह देवी सर्पों से रक्षा करने वाली है 'कुबेर-देवता' 'कुल देवता' कुबेरा देवी मथुरा के देव निर्मित-स्तूप की रक्षिका थी, इस कारण से उन शान्तिक विधानों में इसका स्मरण किया गया है न कि सिद्धचक्राधिष्ठायिका के नाते। इसमें दिया हुआ ''कुलदेवता'' किसी देव-देवी का विशेष नाम नहीं है 'कुल' शब्द से किस व्यक्ति-विशेष का कुल' इसका भी स्पष्टीकरण नहीं है। इस प्रकार इस अधिष्ठायक वलय के देव-देवियों के नामों से पता चलता है कि विधान-लेखक ने 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा' इस कहावत के अनुसार इधर उधर से देव-देवियों के नाम उठाकर सिद्धचक्राधिष्ठायकों का वलय भर दिया है वस्तुत: ''सिद्धचक्र' के अधिष्ठायकों के रूप में ''विमलेश्वर'' देव और 'चक्रेश्वरी' देवी जिसका नामान्तर 'अप्रतिचक्रा'' भी है श्वेताम्बर संप्रदाय में प्रख्यात है, दूसरा कोई देव देवी नहीं।

६ स्नात्रीय जल भरने के नव कलशों को अधिवासित करने का मन्त्र निम्न प्रकार से दिया है,—

''ॐ ह्रीं श्री धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी शान्ति तुष्टि पुष्टयः एतेषु नव कलशेषु कृताधिवासा भवन्तु-भवन्तु स्वाहा।''

उपर्युक्त मन्त्र में भी कृति को श्वेताम्बरीय बनाने वाले लेखक ने भद्दी भूल की है ॐकार के बाद 'ह्रीं श्रीं इन अक्षरों को बीजाक्षर बनाकर कलशों का अधिवासन करने वाली नव देवियों में से दो को कमकर दिया है,

इसका पता तक नही लगा कि नव कलशो का सात देवियो से अधिवासन कैसे हो सकेगा, इस करतूत से तो यही मालूम होता है कि इस कृति मे उलट-फेर करने वाला कोई अच्छा विद्वान् नही था। वास्तव मे ॐ कार के बाद के दो अक्षर बीजाक्षर नही, किन्तु "द्रहनिवासिनी दो देवियो के नाम हैं" और इनके आगे के चार नाम भी द्रह-देवियो के है। इनका सच्चा क्रम "ॐ, श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी' इस प्रकार से है। ये छ द्रहनिवासिनी देवियाँ हैं ये छ देवियाँ दिगवर तथा श्वेताम्बर दोनो परपरा वालो को मान्य हैं, शान्ति देवी का नाम श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठा-कल्पो में आता है, परन्तु "तुष्टि" "पुष्टि" को श्वेताम्बर सप्रदाय के किसी भी ग्रन्थ मे देवियो के स्वरूप मे नही माना। वास्तव मे "शान्ति, तुष्टि, पुष्टि" ये तीनों पौराणिक-मातृका-देवियाँ हैं, जिन्हें "सिद्धचक्र महापूजा" के मूल लेखक ने द्रह-देवियों के साथ इनको जोडकर नव-देवियाँ बना ली हैं। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि इस पूजा-विधान का मूल लेखक कोई दिगम्बर विद्वान् था।

७ चतुर्विशति जिन यक्षो मे बारहवे यक्ष का नाम "असुर-कुमार' लिखा है, जो वास्तव मे अश्वेताम्बरीय है, श्वेताम्बर परम्परा बारहवे तीर्थंकर के यक्ष का नाम "कुमार" मानती है, न कि 'असुरकुमार, ।

८ श्वेताम्बर परम्परा चौबीसवें यक्ष का नाम 'मातङ्ग, मानती है, न कि 'ब्रह्मशान्ति। 'ब्रह्मशान्ति देव महावीर का भक्त अवश्य था, परन्तु उसे उनका शासन-यक्ष मान लेना श्वेताम्बर सप्रदाय की मान्यता के विरुद्ध है।

९ कुमुद अजन वामन पुष्पदन्त इन चार दिग्गजो को 'सिद्धचक्र, के द्वारपाल बनाने मे केवल कल्पना बिहार किया है, क्यो कि जैन प्रामाणिक ग्रन्थो मे "सिद्धचक्र" के तो क्या तीर्थङ्करो के समवसरण के द्वारपालो मे भी इनके नाम परिगणित नही है "सिरि सिरिवाल कहा" मे ये चार नाम दृष्टि गोचर होते हैं. परन्तु यह अश्वेताम्बरीय प्रक्षेप हैं।

१०. नवम वलय मे चार वीरो की पूजा करना बताया है वीरो के नाम मणिभद्र पूर्णभद्र कपिल पिंगल लिखे हैं इनमे से प्रथम के दो नाम श्वेताम्बर

परम्परा में प्रसिद्ध हैं श्वेताम्बरों के प्रामाणिक सूत्र "व्याख्या प्रज्ञप्ति" (भगवती सूत्र) के पन्द्रहवें शतक में ये नाम आते हैं वहाँ पर ये वीर किस के भक्त हैं, यह तो नहीं लिखा। केवल इन्हें यक्ष के नाम से निर्दिष्ट किया है परन्तु कपिल तथा पिंगल नाम श्वेताम्बरीय साहित्य में 'सिरि सिरिवाल कहा' के अतिरिक्त किसी ग्रन्थ में हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए, दिगम्बर जैन साहित्य में ये नाम आये हों तो असम्भव नहीं है।

११ "ॐ ह्रीं श्रीं अप्रसिद्ध सिद्ध चक्राधिष्ठायकाय स्वाहा" इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि विमलेश्वर देव के अतिरिक्त और भी कोई सिद्धचक्र का अधिष्ठायक है, पर उसका नाम मन्त्र लेखक को ज्ञात नहीं हुआ परन्तु लेखक की यह भ्रान्ति मात्र है। सिद्धचक्र' के साथ विमलेश्वर देव और चक्रेश्वरी देवी के सिवाय और किसी देव-देवी का अधिष्ठायक के रूप में सान्निध्य नहीं यों भले ही अच्छी चीज होने से कोई भी देव उस तरफ आकृष्ट हो सकता है तीर्थङ्कर महाराज के समवसरण में करोड़ों देव आते हैं और उनमें से अधिकांश तीर्थङ्कर के अतिशय से तथा उनकी पुण्य प्रकृति से आकृष्ट होकर भक्त से बन जाते हैं। फिर भी वे सभी उन तीर्थङ्करों के परम भक्त हैं यह नहीं कह सकते। यही कारण है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन-भक्त यक्ष यक्षिणी का एक एक ही युगल माना गया है पार्श्वनाथ का धरेणन्द्र नागराज परम भक्त होने पर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उसे पार्श्वनाथ का यक्ष अथवा अधिष्ठायक नहीं माना गया इसी प्रकार आबू पर्वत से लेकर सांचोर तक के महावीर के चैत्यों की परम सतर्कता से "ब्रह्मशान्ति" यक्ष रक्षा करता था फिर भी उसे पूर्वाचार्यों ने महावीर के शासन देव की उपाधि नहीं दी इसी तरह विमलेश्वर के अतिरिक्त 'सिद्धचक्र' के अप्रसिद्ध अधिष्ठायक मानने की "सिद्धचक्र मण्डल" निर्माता की कल्पना मात्र है जिसका प्रयोजन मण्डल के वलय का एक कोठा पूरा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

प्रस्तुत पूजन विधि के अन्त में प्राकृत भाषामय १५ गाथाओं का सिद्धचक्र महिमा" गर्भित एक स्तव दिया है जिसके प्रारम्भिक भाग में

माहेन्द्र, वारूण, वायव्य और आग्नेय मण्डलो का सविस्तार वर्णन किया है। यह मण्डल पद्धति भी दिगम्बर परम्परा मे विशेष प्रचलित है। श्वेताम्वर परम्परा की प्रतिष्ठा-पद्धतियो मे मे केवल पादलिप्त सूरि कृत "प्रतिष्ठा पद्धति" मे ही उक्त चार मण्डलो का वर्णन दृष्टिगोचर हुआ है, तव दिगम्वरीय प्रतिष्ठा पाठो मे शायद ही ऐसा कोई प्रतिष्ठा पाठ मिलेगा, जिसमे कि उक्त चार मण्डलो का वर्णन न किया हो।

ऊपर हमने "सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार पूजन" को जैन श्वेताम्वरीय और दिगम्बरीय प्रमाणित करने वाले दो प्रकार के जो प्रमाण उपस्थित किये है वे उदाहरण मात्र हैं। इनके उपरान्त भी अनेक ऐसे आन्तर प्रमाण हैं, जो उपस्थित किये जा सकते है, परन्तु लेख विस्तार के भय से छोटी-छोटी वातो की तरफ ध्यान देना ठीक नही समझा।

(३) सिद्ध-चक्र-यन्त्र और नवपद मण्डल एक नहीं :

आजकल श्वेताम्बर जैन समाज मे "सिद्ध-चक्र" के पूजन काल मे नवपद के पूजन का प्रचार सर्वाधिक रूप से हो गया है। इसके आराधन के उद्देश्य से गुजरात आदि देशो में नवपद मण्डलो की नियुक्तियाँ तक हुई हैं, और चैत्र तथा आश्विन महीनो की शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक आयम्बिल तो तपस्या तथा नवपद की पूजा की जाती है। हमारे समाज मे "सिद्ध-चक्र" का नाम विक्रम की बारहवी सदो से प्रचलित है। प्रसिद्ध आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिजी ने अपने शब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति मे उल्लेख किया है और "अर्हं" शब्द को "सिद्धचक्र" का बीज बताया है, परन्तु वहाँ पर "सिद्धचक्र" को पच परमेष्ठी का चक्र कहा है, कि नवपद का। 'नवपद-शब्द' सिद्धचक्र का पर्याय कब बना, यह कहना कठिन है। आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती किसी जैनाचार्य ने "सिद्धचक्र" का नामोल्लेख किया हो ऐसा हमारे जानने मे नही आया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सब से प्राचीन प्रतिष्ठा कल्प **"पादलिप्त प्रतिष्ठा पद्धति"** के नन्द्यावर्त में आज-कल के 'नवपद' आते अवश्य हैं, परन्तु इनको वहा पर "सिद्धचक्र' अथवा तो 'नवपद' का नाम न देकर 'नन्द्यावर्त' का मध्य भाग माना है। सर्व

परम्परा में प्रसिद्ध हैं श्वेताम्बरों के प्रामाणिक सूत्र "व्याख्या प्रज्ञप्ति- (भगवती सूत्र) के पन्द्रहवें शतक में ये नाम आते हैं वहाँ पर ये वीर जिन के भक्त हैं यह तो नहीं लिखा। केवल इन्हें यक्ष के नाम से निर्दिष्ट किया है परन्तु कपिल तथा पिंगल नाम श्वेताम्बरीय साहित्य में सिरि सिरिवाल कहा' के अतिरिक्त किसी ग्रन्थ में हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए, दिगम्बर जैन साहित्य में ये नाम आये हों तो असम्भव नहीं है।

११ 'ॐ ह्रीं श्रीं अप्रसिद्ध सिद्ध चक्राधिष्ठायकाय स्वाहा' इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि विमलेश्वर देव के अतिरिक्त और भी कोई सिद्धचक्र का अधिष्ठायक है, पर उसका नाम यन्त्र लेखक को ज्ञात नहीं हुआ परन्तु लेखक की यह भ्रान्ति मात्र है। 'सिद्धचक्र' के साथ विमलेश्वर देव और चक्रेश्वरी देवी के सिवाय और किसी दे-देवी का अधिष्ठायक के रूप में सान्निध्य नहीं यों भले ही अच्छी चीज होने से कोई भी देव उस तरफ आकृष्ट हो सकता है तीर्थङ्कर महाराज के समवसरण में करोड़ों देव आते हैं और उनमें से अधिकांश तीर्थङ्कर के अतिशय से तथा उनकी पुण्य प्रकृति से आकृष्ट होकर भक्त से बन जाते हैं। फिर भी वे सभी उन तीर्थङ्करों के परम भक्त हैं यह नहीं कह सकते। यही कारण है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन-भक्त यक्ष यक्षिणी का एक एक ही युगल माना गया है पार्श्वनाथ का धरणेन्द्र नागराज परम भक्त होने पर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उसे पार्श्वनाथ का यक्ष अथवा अधिष्ठायक नहीं माना गया इसी प्रकार आबू पर्वत से लेकर सांचोर तक के महावीर के चैत्यों की परम सतर्कता से 'ब्रह्मशान्ति' यक्ष रक्षा करता था फिर भी उसे पूर्वाचार्यों ने महावीर के शासन देव की उपाधि नहीं दी इसी तरह विमलेश्वर के अतिरिक्त सिद्धचक्र' के अप्रसिद्ध अधिष्ठायक मानने की सिद्धचक्र मण्डल" निर्माता की कल्पना मात्र है जिसका प्रयोजन मण्डल के वलय का एक कोष्ठ पूरा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

प्रस्तुत पूजन विधि के अन्त में प्राकृत भाषामय ३२ गाथाओं का सिद्धचक्र महिमा" गर्भित एक स्तव दिया है जिसके प्रारम्भिक भाग में

श्रीपाल कथा" के निर्माण होने के बाद सस्कृत मे तथा लोक भाषा में अनेक 'श्रीपाल कथाओ" का निर्माण श्वेताम्बर तथा दिगवर परपरा के विद्वानो ने किया और उनके श्रवण से जैन समाज मे नवपद-तप का प्रचार बढा। इस समय के पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ मे न "सिद्धचक्र" के पूजन की चर्चा हैं, न नवपद की ओली का तपोविधान। पूर्व मे आश्विन तथा चैत्री अष्टमी से लगाकर पूर्णिमा तक लौकिक उत्सव होते थे, हिंसा भी होती थी, आठ दिन तक खाने-पीने तथा नाचरग मे जन समाज लवलीन रहता था, इस परिस्थिति को देखकर जैनाचार्यो ने जैन-गृहस्थो को "इन लौकिक प्रवृत्ति प्रधान दिवसो मे जैनो को तप का आदर करना चाहिए' ऐसा उपदेश किया। परिणामस्वरूप जैन समाज मे अष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त अष्टाह्निका मे आयबिल तप करने की प्रवृत्ति बढी, पूर्णिमाओ के बाद की प्रतिपदाएँ यद्यपि उत्सव के अन्तर्गत नही थी, फिर भी उन दिनो मे खान-पान के आरभ विशेष रूप से होते थे। अत जैनाचार्यों ने इन दिनो मे अनध्याय तथा जैन-गृहस्थो ने आयबिल-तप रखने का उचित समझा। बारहवी शती के आचार्य श्री जिनदत्त सूरि ने अपने अनुयायियो से कहा कि अष्टमी की तरह शुक्ल सप्तमी भी देवी-देवताओ के प्रचार की तिथि है। अत इसे भी उत्सव के अन्तर्गत ले लेना चाहिए, जिससे अन्तिम आयंबिल अपर्व तिथि प्रतिपदा मे न आकर पूर्णिमा मे आ जाय और उस दिन विशेष जिनभक्ति की जा सके। जिनदत्त सूरि के अनुयायियो ने अपने आचार्य की आज्ञा का पालन किया होगा या नही यह कहना कठिन है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि प्राकृत "श्रीपाल कथा" के निर्माण समय तक अन्य गच्छ वालो ने सप्तमी को अष्टाह्निका के अन्तर्गत नही किया था। बाद मे धीरे धीरे आयबिल तप के भीतर सप्तमी का समावेश हो गया, फलत अठारहवी शती की सभी "श्रीपाल कथाओ" मे शुक्ल सप्तमी से आयबिल आरभ करने का विधान मिलता है।

श्वेताम्बर जैन परपरा मे लाखो वर्षो से "सिद्धचक्र" का पूजन और तन्निमित्तक आयबिल-तप चला आ रहा है, ऐसी मान्यता प्रचलित है और इसके प्रथम आराधक राजा "श्री पाल" और उनकी रानी

के मध्य में "अरिहन्त" इसके पूर्व में 'सिद्ध' दक्षिण में 'आचार्य', पश्चिम में 'उपाध्याय' और उत्तर दिशा विभाग में सर्व साधुओं को स्थान दिया है इसके बाद ईशान अग्नि, नैर्ऋत और वायव्य कोणों में क्रमशः दर्शन ज्ञान चारित्र और तप पदों का विन्यास किया गया है। तब आजकल के हमारे "सिद्धचक्र यन्त्रों" में पांच पदों के अतिरिक्त विदिशाओं के दर्शन आदि चार पदों का आग्नेय कोण से प्रारम्भ कर के ईशान तक स्थापन किया जाता है। यह परिवर्तन कब और किसने किया यह कहना कठिन है। फिर भी इतना तो निश्चित सा है कि यह परिवर्तन किसी श्वेताम्बर आचार्य के द्वारा हुआ है।

"सिद्धचक्र" की चर्चा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही नहीं अपितु दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में भी प्राचीन काल से प्रचलित है दिगम्बर भट्टारक श्री देवसेन सूरि ने अपने "भाव संग्रह" नामक ग्रन्थ में लगभग ४० गाथाओं में 'सिद्धचक्र" के यन्त्र की और उसके पूजन की चर्चा की है। श्री देवसेन प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार से आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि के पूर्ववर्ती हैं यह तो निश्चित है ही पर "सिद्धचक्र की पूजा" बनाने वाले अन्य दिगम्बर विद्वानों से भी देवसेन प्राचीन हैं। इन्होंने भी अपने 'सिद्धचक्रयन्त्र' में पञ्चपरमेष्ठी के पूजन का ही निरूपण किया है नवपदों की पूजा का नहीं। इन सब बातों का विचार करने से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में "सिद्धचक्र" का पर्याय पञ्चपरमेष्ठी होता था नवपद' नहीं लगभग विक्रम की पन्द्रहवीं शती के पूर्व में और बारहवीं सदी के बाद में "सिद्धचक्र का स्थान 'नवपद मण्डल" ने लिया होगा इसका प्रारम्भ किसने किया यह कहना तो कठिन ही है।

(४) ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्धचक्र पूजन विधि

वर्तमान काल में प्रायः सभी जैन मन्दिरों में छोटे छोटे 'सिद्धचक्र के मण्डल धातु के गोल पतरे पर मिलते हैं और पूजे जाते हैं, लेकिन ये सभी 'सिद्धचक्र" के मण्डल अधिकांश में २ वीं सदी के ही दृष्टिगोचर होते हैं। सच बात तो यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी की प्राकृत श्री

धनार्थी धनमाप्नोति, पदार्थी लभते पदम् ।
भार्यार्थी लभते भार्यां, पुत्रार्थी लभते सुतान् ॥२॥

सौभाग्यार्थी च सौभाग्य, गौरवार्थी च गौरवम् ।
राज्यार्थी च महाराज्य, लभतेऽस्यैव तुष्टित ॥३॥

× × × × ×

एतत्तपो विधायिन्यो, योषितोऽपि विशेषत ।
वन्ध्या-निन्द्यादि-दोषाणा, प्रयच्छन्ति जलाञ्जलिम् ॥८॥"

अर्थात्—

इस प्रकार श्री "सिद्धचक्र" का आराधक, विधि पूर्वक साधना करता हुआ, सिद्ध नाम धारण करके महामन्त्र-यन्त्रमय बन कर मनो-वाछित फल को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

धन का इच्छुक धन को, स्त्री का अभिलाषी स्त्री को, पदाधिकार का इच्छुक पदाधिकार को, पुत्र-कामी पुत्रो को प्राप्त करता है ॥ २ ॥

सिद्धचक्र की कृपा से सौभाग्यार्थी सौभाग्य को, महत्त्वाकाक्षी महत्त्व को और राज्य का अभिलाषी महाराज्य को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

× × × × ×

इस सिद्धचक्र के तप का आराधन करने वाली स्त्रियाँ भी खास कर वन्ध्यात्व (वांझपन), मृतवत्सात्व आदि दोषो को जलाञ्जलि देती हैं ॥ ८ ॥

ऊपर के श्लोको मे वर्णित जिनादि पदो के आराधक पुरुपो को तथा तन्निमित्तक तप करने वाली स्त्रियो को पोद्गलिक तुच्छ फलो का प्रलोभन देकर परमेष्ठी पदो की तथा तप पद की आराधना का उपहास किया है। क्या "सिद्धचक्र" का आराधन तथा तपश्चर्या इन्ही क्षुद्र फलो के निमित्त करने का शास्त्र ने लिखा है, कभी नही ।

'मदन सुन्दरी' को बतलाया जाता है ठीक है यह इस तप के महिमा पर एक माहात्म्य वर्द्धक आख्यान है ऐतिहासिक वस्तु नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से अन्वेषण करने पर सिद्धचक्र यह नाम आचार्य श्री हेमचन्द्र के व्याकरण की बृहद् वृत्ति में मिलता है। चतुर्दश शताब्दी के पूर्वतन किसी भी 'आगम-शास्त्र' में प्रकरण-विशेष में अथवा चरित्र में 'सिद्धचक्र यन्त्रोद्धार' की बात अथवा "श्रीपाल" तथा मदना के तपोविधान की बात हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई।

इस परिस्थिति में "सिद्धचक्र-यन्त्र' का पूर्वश्रुत से श्री मुनिचन्द्र सूरिजी ने उद्धार किया यह कथन मात्र श्रद्धा-गम्य रह जाता है इतिहास के रूप में नहीं।

प्रारम्भ में 'सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि' श्वेताम्बरीय है या दिगम्बरीय इस प्रश्न को लक्ष्य में रखकर अंतरंग बहिरंग निरूपणों को जांचा तो हमें प्रतीत हुआ कि यह पूजन विधि न पूरी श्वेताम्बरीय है न दिगम्बरीय, किन्तु दोनों परम्पराओं की मान्यताओं के मिश्रण से बनी हुई एक खीचड़ा-पद्धति है।

उपसंहार :

सिद्धचक्र-महापूजा' के विषय में बहुत समय से कतिपय प्रतिष्ठाविधि कारकों का कुछ प्रकाश डालने का अनुरोध था फलस्वरूप इस पूजा के सम्बन्ध में ऊहापोह किया है।

मेरी राय में प्रस्तुत 'सिद्धचक्र-यन्त्रोद्धार पूजन विधि जैन सिद्धान्त से मेल न खाने वाली एक अधीतार्थ प्रणीत अनुष्ठान पद्धति है। इसकी कई बातें जैन सिद्धान्त प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त के मूल में कुठारा घात करके चलती है। नमूने के रूप में निम्नोल्लिखित श्लोक पढ़िए—

'एवं श्री सिद्धचक्रस्याराधको विधि-साधकः।
सिद्धाख्योऽसौ महामन्त्र-यन्त्र' प्राप्नोति वाञ्छितम् ॥१॥

: १० :

श्री नमस्कार माहात्म्य

❖

श्री सिद्धसेनाचार्य-विरचित

नमस्कार माहात्म्य नाम के आज दिन तक २ ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। एक के कर्त्ता हैं आचार्य "देवेन्द्र सूरि" तब दूसरे के कर्त्ता है "सिद्ध सेन सूरि"। यहाँ हम सिद्धसेन कृत 'नमस्कार माहात्म्य' का अवलोकन लिख रहे है।

इस माहात्म्य की वर्णन-शैली साधारण और अर्वाचीन है, इसमे आने वाले देव-देवियो के नाम बताते हैं कि यह कृति १५वी शती के पूर्व की नही, इसका कर्त्ता "सिद्धसेन" सम्भवत. १४३३ मे होने वाले "नाणक गच्छीय सिद्धसेन" है जो चैत्यवासी थे। यह ग्रन्थ "सिरि सिरिवालकहा" जो १५वी शताब्दी के प्रथम चरण मे बनी है, उसके बाद का है। इसके अन्तर्गत अनेक विधानो पर दिगम्बरीय भट्टारको का असर है। कही कही तो श्वेताम्बर असम्मत बातो का प्रतिपादन भी इसमे दृष्टिगोचर होता है, जैसे—११ रुद्रविषयक मन्तव्य, लक्ष नवकार जाप से तीर्थङ्कर नाम कर्म का निर्माण होने की बात विक्रम की सोलहवी शती से पूर्व-कालीन किसी भी ग्रन्थ मे हमारे देखने मे नही आई। इसमे दिए हुए अधिकाश देवियो के नाम १५वीं शताब्दी की तथा उसके बाद की प्रतिष्ठा विधियो मे मिलते हैं "अष्टौ कोट्य" इत्यादि श्लोक मे जाप सम्बन्धी जो बात कही है वह शान्ति घोषणा की एक गाथा का अनुवाद मात्र है, जो शान्ति घोषणा पन्द्रहवी शती के अनन्तर की है। पाच नमस्कार उच्चारण के समय जो विधि और मुद्रा बताई है, वह अनागमिक है। जाप किसी भी मुद्रा से होता है, इस बात का लेखक को ज्ञान नही था, इसी से यह ऊटपटाङ्ग विधि लिख बैठे हैं। इन सब बातो पर विचार

यह उपर्युक्त कथन शास्त्र विरुद्ध ही नहीं मिथ्यात्व का पाठक भी है। जैन शास्त्रों में तो जिनदेव मादि का पूजन विनय प्रादि सम्यक शुद्धि के लिये करना बतलाया है। सब तपोविधान पूर्वबद्ध प्रशुभ कर्मों की निर्जरा के लिए, उक्त प्रकार के अल्पज्ञ और अगीतार्थ साधुओं द्वारा प्रचारित प्रयोग्य अनुष्ठानों तथा आचारों के प्रताप से आज का जैन धर्म अपना लोकोत्तरत्व छोड़कर लौकिक धर्म बनता जा रहा है। आशा करना तो व्यर्थ है फिर भी सत्र न होने से कहना पड़ता है कि हमारे श्रमण-गण उक्त पंक्तियों को पढ़कर उक्त प्रकार के निस्सार अनुष्ठानों तथा आचारों को समाज में फैलने से रोकें ताकि जन धर्म अपना स्वरूप बचा सके।

: ११ :

विजयदेव माहात्म्य

पाठक श्री श्रीवल्लभ विरचित

विजयदेव से मतलव तपागच्छ की मुख्य शाखा के आचार्य श्री हीरसूरिजी के पट्टधर आचार्य श्री विजयसेन सूरि के पट्ट प्रतिष्ठित आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी से है। आचार्य विजयदेव सूरिजी के समय मे उपाध्याय श्री धर्मसागरजी की परम्परा के कतिपय साधु धर्मसागर-रचित "सर्वज्ञ-शतक" आदि ग्रन्थ जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से विरोधी वातो के लिखने के कारण आचार्य श्री विजयदान सूरिजी तथा विजय-हीर सूरिजी ने लेखक को "गच्छ बाहर" कर दिया था, परन्तु कुछ समय के वाद धर्मसागरजी ने उन शास्त्र विरुद्ध बातो का सशोधन किये विना इन ग्रन्थो का प्रचार नही करने की प्रतिज्ञा करने और जो प्ररूपणा की उसके वदले में "मिथ्यादुष्कृत" कर देने पर फिर उन्हे गच्छ मे ले लिया गया था। परन्तु सागरजी अपने वचनो पर दृढ प्रतिज्ञ नही रहे और उन ग्रन्थों का गुप्त रीति से प्रचार करते रहे, परिणामस्वरूप उन्हे फिर भी गच्छ वाहर की शिक्षा हुई। हीरसूरिजी महाराज स्वर्गवासी हो चुके थे और तत्कालीन गच्छपति श्री विजयसेन सूरिजी भी वृद्धावस्था को पहुचे हुए थे। उन्होंने अपने पट्टधर के रूप मे विक्रम स० १६५६ मे उपाध्याय विद्याविजयजी को आचार्य पद देकर अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया और "विजयदेव सूरिजी" के नाम से उद्घोषित किया। इसके दो वर्ष के वाद ही उन्हें "गच्छानुज्ञा" भी कर दी।

कहा जाता हैं कि उपाध्यायजी धर्मसागरजी विजयदेव सूरिजी के सासारिक मामा लगते थे। इस सम्बन्ध से उपाध्याय धर्मसागरजी की

करने से यही ज्ञात होता है कि ७-८ सिद्धसेनों में से १४३३ में होने वाले अथवा १५१३ वर्ष वाले सिद्धसेन इन दो में से कोई एक हो सकते हैं, ये दोनों आचार्य चैत्यवासी थे और इनका गच्छ 'माणकीय' अथवा 'माणावास'' कहलाता था। अन्तिम श्लोक में 'नमस्कार-माहात्म्य'' की रचना सिद्धपुर नगर में होने का उल्लेख किया है इसके अतिरिक्त अपने समय का अथवा गच्छ का कोई परिचय नहीं दिया।

विक्रम स० १६५८ के वाद और १६७१ के पहले की होनी चाहिए, क्योकि विजयदेव सूरिजी १६५८ मे गच्छ के नेता वनाए गए थे और विक्रम स० १६७१ मे आचार्य श्री विजयसेन सूरि स्वर्गवासी हुए थे। इन दो घटनाओ के वीच के १३ वर्षो मे किस समय यह घटना घटी होगी यह कहना तो कठिन है, परन्तु प्रस्तुत "माहात्म्य" के एक सर्ग मे विजयदेव सूरिजी की तपस्याओ का वर्णन किया है। वहाँ लिखा है कि आचार्य देवसूरिजी ने यह तप करना विक्रम स० १६६१ के वर्ष से शुरू किया था। इससे अनुमान होता है कि गच्छ-भेद इसके पहले हो गया होगा और इस समय वे अपने गुरू से जुदे विचरते होगे।

देवसूरिजी के तप और त्य.ग ने उनके मित्र का काम किया :

आचार्य विजयदेव सूरिजी ने जो तपस्या शुरू की थी, उसने गृहस्थ-वर्ग के मनो पर ही नही, गच्छ के श्रमण-वर्ग पर भी अपूर्व प्रभाव डाला, जो श्रमण गच्छ भेद के समय मे उनकी आज्ञा के विरुद्ध नये आचार्य की आज्ञा मे चलने लगे थे। उनमे से भी अधिकाँश विद्वान् साधु धीरे धीरे विजयदेव सूरिजी की आज्ञा मे आते रहते थे। इस बात को एक उदाहरण ले समझाया जा सकता है, जब विजयदेव सूरि के विरुद्ध नया आचार्य बनाया गया था, तब उपाध्याय श्री विनयविजयजी नये आचार्य के पक्ष मे थे, जो सवत् १६९६ तक उसी पार्टी मे बने रहे। परन्तु विनयविजयजी ने वाद मे बनाये हुए अपने ग्रन्थो मे विजयदेव सूरिजी को गच्छ-पति के रूप मे याद किया है। इसी प्रकार दूसरे भी अनेक विद्वान् श्रमण धीरे धीरे विजयदेव सूरिजी को अपना आचार्य मानने लगे थे। यह सब उनके तप का फल था, ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा।

विजयदेव सूरिजी का विशेष विहार मारवाड, मेवाड, दक्षिण तथा सौराष्ट्र की तरफ हुआ है। अधिकाश प्रतिष्ठाएँ, दीक्षाएँ, तीर्थ-यात्राएँ इसी प्रदेश से निकली हैं। जालोर के दीवान जयमलजी मुणोयत इनके अनन्य भक्त थे, इनकी बात विजयदेव सूरिजी ने कभी अमान्य नही की।

तरफ से विजयदेव सूरिजी को एक पत्र लिखा गया था जिसमें अपन को गच्छ में लिवाने की सिफारिश की थी। उस पत्र के उत्तर में विजयदेव सूरिजी ने लिखा था कि 'जब तक गुरु-महाराज विद्यमान हैं तब तक मैं इस विषय में कुछ नहीं कर सकता' देवसूरिजी का यह पत्र किसी सागर-विरोधी के हाथ लगा और आगे से आगे यह पत्र आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के पास पहुंचा। आचार्य ने अपने गच्छ के खास खास गीतार्थ उपाध्यायों पन्यासों को इकट्ठा करके देवसूरि के इस पत्र की उनके सामने चर्चा की और इसका वास्तविक भाव पूछा। इस पर सागरों के विरोधी उपाध्यायों, पन्यासों आदि ने बाल की खाल निकालते हुए कहा— 'विजयदेव सूरि सागरों के पक्ष में हैं भले ही आपके जीवन काल में ये कुछ न करें परन्तु उनको सार्वभौम सत्ता मिलते ही सागरों का खुल्लमखुल्ला पक्ष लेंगे और गच्छ में दो दल पड़कर सागर-विक्षेप निरंकुश बन जायेंगे'। इन बातों को सुनकर श्री विजयसेन सूरिजी महाराज ने अपने गच्छ के सब विद्वान् साधुओं की राय माँगी कि अब इसके लिए क्या किया जाय? गीतार्थों का एक मत तो नहीं हुआ परन्तु उपाध्याय सोमविजयजी आदि अधिक गीतार्थ नया आचार्य पट्टधर बनाकर विजयदेव सूरिजी तथा सागरों की शान ठिकाने लाने के पक्ष में रहे, तब कतिपय गीतार्थ साधुओं ने श्री विजयदेव सूरि पर विश्वास रखने का अभिप्राय भी व्यक्त किया। आखिर बहुमत की चली और एक साधु को आचार्य पद देकर उनको 'विजयतिलक सूरि' के नाम से जाहिर किया। तत्काल भले ही सागरों के विरुद्ध बहुमत होने से नया आचार्य स्थापित हो गया और गच्छ के कुछ भाग ने उनकी आज्ञा में रहना भी स्वीकार कर लिया पर पिछली घटाओं से मालूम होता है कि गच्छ के इस भेद ने धीरे धीरे उग्र रूप धारण किया। विजयदेव सूरिजी के सम्बन्ध में जो अविश्वास की बात सोची गई थी वह वास्तविक नहीं थी। परन्तु सागरों के विरोधियों ने सागरों के साथ साथ इस तपस्वी आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी को भी बदनाम करने में उज्र नहीं रखा।

भविष्य में जिस गच्छ-भेद की आशंका की थी वह तुरन्त उनके समय में ही खड़ी पड़ गई। जहाँ तक हमारा ख्याल है यह घटना

विक्रम स० १६५८ के वाद और १६७१ के पहले की होनी चाहिए, क्योकि विजयदेव सूरिजी १६५८ मे गच्छ के नेता बनाए गए थे और विक्रम स० १६७१ मे आचार्य श्री विजयसेन सूरि स्वर्गवासी हुए थे। इन दो घटनाओ के वीच के १३ वर्षो मे किस समय यह घटना घटी होगी यह कहना तो कठिन है, परन्तु प्रस्तुत "माहात्म्य" के एक सर्ग मे विजयदेव सूरिजी की तपस्याओ का वर्णन किया है। वहाँ लिखा है कि आचार्य देवसूरिजी ने यह तप करना विक्रम स० १६६१ के वर्ष से शुरू किया था। इससे अनुमान होता है कि गच्छ-भेद इसके पहले हो गया होगा और इस समय वे अपने गुरू से जुदे विचरते होगे।

देवसूरिजी के तप और त्य.ग ने उनके मित्र का काम किया :

आचार्य विजयदेव सूरिजी ने जो तपस्या शुरू की थी, उसने गृहस्थ-वर्ग के मनो पर ही नही, गच्छ के श्रमण-वर्ग पर भी अपूर्व प्रभाव डाला, जो श्रमण गच्छ भेद के समय मे उनकी आज्ञा के विरुद्ध नये आचार्य की आज्ञा मे चलने लगे थे। उनमे से भी अधिकाँश विद्वान् साधु धीरे धीरे विजयदेव सूरिजी की आज्ञा मे आते रहते थे। इस बात को एक उदाहरण ले समझाया जा सकता है, जब विजयदेव सूरि के विरुद्ध नया आचार्य बनाया गया था, तब उपाध्याय श्री विनयविजयजी नये आचार्य के पक्ष मे थे, जो सवत् १६९६ तक उसी पार्टी मे बने रहे। परन्तु विनयविजयजी ने वाद मे बनाये हुए अपने ग्रन्थो मे विजयदेव सूरिजी को गच्छ-पति के रूप मे याद किया है। इसी प्रकार दूसरे भी अनेक विद्वान् श्रमण धीरे धीरे विजयदेव सूरिजी को अपना आचार्य मानने लगे थे। यह सव उनके तप का फल था, ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा।

विजयदेव सूरिजी का विशेष विहार मारवाड, मेवाड, दक्षिण तथा सौराष्ट्र की तरफ हुआ है। अधिकाश प्रतिष्ठाएँ, दीक्षाएँ, तीर्थ-यात्राएँ इसी प्रदेश से निकली हैं। जालोर के दीवान जयमलजी मुणोयत इनके अनन्य भक्त थे, इनकी बात विजयदेव सूरिजी ने कभी अमान्य नही की।

नगर जालोर में इनके हाथ से अथवा इनके आज्ञाकारी जयसागर गणी के हाथ से जयमलजी द्वारा कोई ४ अंजन-शलाकाएँ हुई थीं। इनके पट्टधर आचार्य विजयसिंह सूरि को सं० १६८४ में गच्छानुज्ञा भी जयमलजी ने ही करवाई थी। इतना ही नहीं तीन वर्षा-चातुर्मास्य विजयदेव सूरिजी ने जालोर में किये थे। इसी प्रकार मेड़ता, पाली जोधपुर, सिरोही आदि नगरों में आपके चातुर्मास्य हुए और प्रतिष्ठादि अनेक धर्म-कार्य हुए थे। यह सब होते हुए भी गच्छ-भेद होने के बाद आपने गुजरात सौराष्ट्र मेवाड़ वगैरह अनेक देशों में विहार कर अनेक राजाओं तथा राजकर्मचारियों को अपना अनुयायी बनाया था।

गच्छ-भेद होने के उपरान्त आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के साथ श्री विजयदेव सूरिजी के विहार की बात नहीं आती। इससे ज्ञात होता है कि आप को गच्छानुज्ञा होने के बाद अपने गुरु आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी से जुदा विहार करने का प्रसंग आया होगा क्योंकि 'विजयदेव माहात्म्य' में आप अपने गुरु के साथ सं० १६६८ के बाद कहीं दिखाई नहीं देते। इसका कारण यही हो सकता है कि आपको गच्छनायक बना लेने के बाद थोड़े ही समय में गच्छ में बखेड़ा खड़ा हुआ और गुरु शिष्य का विहार जुदा पड़ा। कुछ भी हो हमारी राय में विजयदेव सूरिजी ने विपरीत प्ररूपणा करने वाले सागरों का कभी पक्ष नहीं लिया। यही नहीं जहाँ कहीं प्रसंग आया है वहाँ आप सागरों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए भी तय्यार हुए हैं। अहमदाबाद के नगर सेठ श्री शान्तिदास जो सागरों के पक्के भक्त थे और दोनों पार्टियों के नेताओं को मिलाकर शास्त्रार्थ द्वारा इस मतभेद का निराकरण कराना चाहते थे उन्होंने अपनी तरफ से कतिपय सद्गृहस्थों को अपना पत्र देकर श्री विजयदेव सूरिजी के पास मेड़ता नगर भेजा और आपसी दो पक्षों का निर्णय करने के लिये जालोर तक पधारने की प्रार्थना की। उधर सागर-गच्छ के उस समय के मुख्य विद्वान् मुक्तिसागरजी को भी विजयदेव सूरिजी के साथ चर्चा कर गच्छ में शान्ति स्थापित करने की प्रार्थना की। आचार्य विजयदेव सूरिजी ने सेठ शान्तिदास की विनती को मान देकर

प्रसन्नता पूर्वक जालोर आने का निश्चय कर विहार किया और जालोर पहुच भी गए।

उधर शान्तिदास सेठ ने सर्व प्रथम अपने गुरु से देवसूरिजी के साथ शास्त्रार्थ करने की बात कही, तब उन्होने स्वीकार किया था, कि विजयदेव सूरिजी अपने स्थान से शास्त्रार्थ करने के भाव से थोडे बहुत इधर आ जाएँगे तो मैं भी उनके पास जाकर शास्त्रार्थ कर लूंगा। विजयदेव सूरिजी को बुलाने जाने वाले शान्तिदास के मनुष्यो ने अहमदाबाद जाकर सेठ को कहा—श्री विजयदेव सूरिजी शास्त्रार्थ करने के लिए जालोर आ पहुचे हैं और आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अत. आप श्री मुक्तिसागरजी को साथ मे लेकर जालोर पधारिये। सेठ शान्तिदास ने अपने गुरू श्री मुक्तिसागरजी को शास्त्रार्थ करने के लिये आने को लिखा, पर उन्होंने उसका कोई उत्तर नही दिया और न अपने स्थान से कही गए। इस वृत्तान्त से सेठ शान्तिदास तथा अन्य विरुद्ध-प्ररूपक सागरो के भक्त निराश हुए और धीरे धीरे उनका साथ छोड कर देवसूरिजी की आज्ञा मानने वाले सागर साधुओ का गुरू के रूप मे अपनाया।

उपाध्याय श्री धर्मसागरजी के अप्रामाणिक ग्रन्थो का प्रचार करने के कारण उपाध्यायजी के परवर्ति शिष्य-प्रशिष्यादि ने अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा स्थापित कर ली थी। यद्यपि उनमे कोई आचार्य नही था। धर्मसागरजी की तरह उनके शिष्य भी उपाध्याय ही कहलाते रहे, परन्तु विजय-परम्परा मे विजयदेव सूरि, विजय आनन्द सूरि के नाम से दो परम्पराएँ प्रचलित हुईं। उसी समय मे सागरो ने भी अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा उद्घोषित की और उसका सवन्ध विजयसेन सूरिजी से जोडा। विजयसेन सूरिजी के समय मे वास्तव मे सागर-नामक कोई आचार्य ही न था, उपाध्याय परम्परा ही चल रही थी। परन्तु विजयशाखा के आपसी कलह के कारण पिछले सागरो ने अपनी आचार्य परम्परा प्रचलित कर स्वतन्त्र वना ली।

विजयसेन सूरिजी के बाद राजसागर सूरिजी उनके पट्टधर वृद्धिसागर सूरिजी आदि के नाम कल्पित करके सागरों ने अपनी शाखा सदा के लिए कायम कर ली। इस शाखा में प्रारम्भ में धर्मसागर के ग्रन्थों को प्रामाणिक मानने वाले सागरों की ही टोली थी। अधिकांश सागर-शाखा के साधु विजयहीर सूरि विजयसेन सूरि विजयदेव सूरि आदि आचार्यों की आज्ञा में रहने वाले थे। उ० धर्मसागरजी की परम्परा के अधिकांश साधु विजय-शाखा के आचार्यों की आज्ञा के बाहर थे। अहमदाबाद में नगर सेठ शान्तिदास का कुटुम्ब तथा अन्य कतिपय गृहस्थ इनकी परम्परा को मान देते थे परन्तु विजयदेव सूरि से शास्त्रार्थ करने में पीछे हटने से इन सागरों पर से अधिकांश भक्तों की श्रद्धा हट गई। परिणामस्वरूप धर्मसागरजी के ग्रन्थों के अनुसार अनागमिक प्ररूपणा करना बन्द हो गया। बाद में अन्य शाखाओं की भाँति सागर शाखा भी चलती रही परन्तु प्ररूपणा में कोई भेद नहीं रहा। आज विजय-शाखा में संविग्न पाक्षिक साधुओं की परम्परा विस्तृत रूप में फली हुई है। आचार्यों द्वारा चलाई जाने वाली विजयदेव तथा विजयआनन्द सूरि की मूल परम्पराएँ अस्तित्व में नहीं हैं इसी प्रकार धर्मसागरजी उपाध्याय की शिष्य परम्परा ने चलाई हुई सागर परम्परा भी आज विद्यमान नहीं है। आज सागर नाम के साधुओं की जो शाखा चल रही है वह भी क्रियोद्धारक-संविग्न-पाक्षिक साधुओं की है। इस प्रकार विजयान्त नाम वाले साधुओं की मूल दो परम्पराएँ और सागर की मूल परम्परा कभी की विच्छिन्न हो चुकी हैं।

उपाध्याय धर्मसागरजी जिन ग्रन्थों के प्रचार के अपराध में गच्छ बाहर हुए थे और उनकी परम्परा के सागर साधुओं को भी उन्हीं ग्रन्थों के प्रचार करने के अपराध में तपागच्छ के आचार्यों की आज्ञा के बाहर ठहराया गया था उन्हीं ग्रन्थों का आज संविग्न शाखा के कतिपय सागर नामधारी प्रचार कर रहे हैं। परन्तु हमारी संविग्न शाखा के कहलाने वाले आचार्यों द्वारा इसका कोई प्रतीकार नहीं होता

यह आज के हमारे आचार्यों की कमजोरी का प्रमाण है। यदि इसी प्रकार हमारी सविज्ञ शाखा के आचार्य तथा श्रमण-गण प्रतिदिन निर्बल बनते जायेंगे, तो पूर्वकालीन "श्री पूज्य" नाम से पहचाने जाने वाले आचार्यों और "यति" नाम से परिचित हुए साधुओ की जो दशा हुई थी वही दशा आज के आचार्यों तथा साधुओ की होगी, इसमे कोई शका नही है।

विजयदेव सूरिजी का उपदेश :

"विजयदेव-माहात्म्य" के पढने से ज्ञात होता है, कि विजयदेव सूरिजी के समय मे धर्मोपदेश का मुख्य विषय जैन-मन्दिरो का निर्माण प्राचीन जैन-मन्दिरो के जीर्णोद्धार करवाना, जैन-मूर्तियो का बनवाना और तीर्थयात्राओ के लिए सघ निकलवाना इत्यादि मुख्य था। यद्यपि मुनि-धर्म, गृहस्थ-धर्म आदि के उपदेश भी होते रहते थे, फिर भी उपर्युक्त तीनो विषयो का उपदेश विशेष रहता था। आज के उपधानो, उद्यापनो, अष्टोत्तरी तथा शान्तिस्नात्र आदि के उपदेश महत्त्व नही रखते थे। ये कार्य भी होते अवश्य थे, परन्तु बहुत ही अल्प प्रमाण मे। विजयदेव सूरिजी ने अपने जीवन मे हजारो प्रतिमाओ का अजन-विधान करके उन्हे पूजनीय बनाया। सैकडो प्रतिमाओ को जिनालयो मे प्रतिष्ठित करवाया, अनेक रगो द्वारा भिन्न-भिन्न तीर्थों की यात्राएँ कीं। परन्तु सारे ग्रन्थ मे "उपधान" का नाम एक ही बार आया है, तब उद्यापन कराने का प्रसग कही भी दृष्टिगोचर नही हुआ।

विजयदेव सूरिजी का जन्म-स्थान ईडर नगर था। इनके पिता का नाम सेठ "स्थिरा" और माता का नाम "रूपा" था। इनका खुद का गृहस्थावस्था का नाम "वासकुमार" था। इनकी दीक्षा शहर अहमदावाद मे हाजा पटेल की पोल मे श्री विजयसेन सूरिजी के हाथ से वि० स० १६४३ के माघ शुक्ला १० के दिन हुई थी और दीक्षा नाम 'विद्याविजय' रखा गया था। इनकी माता रूपा की दीक्षा भी इसी दिन इनके साथ ही हुई थी। विद्याविजयजी का 'पण्डित-पद'

महमदाबाद के उपनगर श्री शकन्दर में श्रावक महुमा पारिक के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर सं० १६५२ के मार्गशीर्ष शुक्ला ५ के दिन आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी के हाथ से हुआ था ।

विजयदेव सूरिजी का आचार्य पद खंभात में हुआ । खंभात वासी श्रीमल्ल नामक श्रावक की विज्ञप्ति स्वीकार कर आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी खंभात पधारे । श्रीमल्ल ने बड़ा उत्सव किया, दश-देश आमन्त्रण-पत्रिकाएँ भेज कर संघ को बुलाया । आचार्य विजयसेन सूरिजी ने विक्रम सं० १६५७ के वैशाख शुक्ला चतुर्थी के दिन पण्डित विद्याविजयजी को सूरि मन्त्र प्रदान पूर्वक आचार्य पद दिया और संघ समक्ष उन्हें 'विजयदेव सूरि' इस नाम से प्रसिद्ध किया ।

विजयदेव सूरि को गच्छानुज्ञा दिलाने के लिए पाटण निवासी श्रावक सहस्रवीर ने बहुत धन खर्च कर 'नंदमहोत्सव' इस नाम से बड़ा भारी उत्सव किया । इसी उत्सव में आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी ने आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी को सं० १६५८ के पोष कृष्ण ६ गुरु के दिन 'गच्छानुज्ञा' कर उन्हें वन्दन किया ।

पाटण से गुरु शिष्य दोनों आचार्य अपने परिवार तथा श्रावकों के साथ श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा के लिए गए और उसके बाद मारवाड़ की तरफ विहार किया ।

"विजयदेव माहात्म्य" के लेखक उपाध्याय श्रीवल्लभ :

प्रस्तुत 'विजयदेव माहात्म्य' के कर्ता कवि श्री श्रीवल्लभ उपाध्याय बृहद् खरतरगच्छीय आचार्य श्री जिनराज सूरि सन्तानीय पाठक श्री ज्ञानविमलजी के शिष्य थे । आपका तपागच्छाधिराज श्री विजय हीर सूरिजी तथा उनके शिष्य श्री विजयसेन सूरिजी तथा श्री विजय देव सूरिजी पर बड़ा गुणानुराग था । यही कारण है कि उपाध्याय श्रीवल्लभ जैसे विद्वान् ने तपागच्छ तथा इस गच्छ के आचार्यों की यह जीवनी लिखी है ।

कवि इस विषय मे स्वय कहते हैं—

"यदन्यगच्छप्रभव कविः किं, मुक्त्वा स्वसूरिं तपगच्छसूरेः ।
कथ चरित्र कुरुते पवित्र, शकेयमार्यैर्न कदापि कार्या ॥२००॥

आत्मार्थसिद्धि. किल कस्य नेष्टा, सा तु स्तुतेरेव महात्मना स्यात् ।
आभाणकोऽपि प्रथितोऽस्ति लोके, गगा हि कस्यापि न पैतृकीयम् ॥२०१॥

तस्मान्मया केवलमर्थसिद्ध्यै, जिह्वा पवित्रीकरणाय यद्वा ।
इति स्तुत. श्री विजयादिदेव, सूरिस्सम श्री विजयादिसिंहै. ॥२०२॥

आचन्द्र-सूर्यं तपगच्छधुर्यो, वृतो परेणापि परिच्छदेन ।
जीयाच्चिर स्तान्मम सौख्यलक्ष्म्यै, श्री वल्लभ पाठक इत्यपाठीत् ॥२०३॥"

अर्थात्—

अन्यगच्छीय कवि अपने आचार्य को छोडकर, तपागच्छ के आचार्य का पवित्र चरित्र क्यो बनाता है, इस प्रकार की शका सज्जन पुरुषो को कदापि नही करनी चाहिए । आत्मार्थ-सिद्धि सभी को इष्ट होती है और वह महात्माओं की स्तुति से ही प्राप्त होती है । लोगो मे कहावत प्रसिद्ध है कि "गगा किसी के बाप की नही है", इसीलिए मैंने केवल अपनी अर्थ सिद्धि के लिए अथवा जिह्वा को पवित्र करने के लिए आचार्य श्री विजय-सिंह सूरि के साथ श्री विजयदेव सूरि की ऊपर मुजब स्तुति की है । चन्द्र सूर्य की स्थिति पर्यन्त तपागच्छ के धुरन्धर आचार्य श्री (विजयदेव सूरि) अपने परिवार से परिवृत्त होकर विजयी हो और मेरे लिए सुख लक्ष्मी के देने वाले हो ऐसा पाठक श्रीवल्लभ का कहना है । २००–२०३ ।

कवि श्रीवल्लभ पाठक विजयदेव सूरि को चिरविजयी रहने की आशसा करते हैं और इस काव्य को रचना द्वारा जिह्वा पवित्र करने के अतिरिक्त गुणी के गुणगान करने से जो आत्मिक लाभ होता है, उसी की वे प्रार्थना करते हैं । कवि ने तपागच्छ के आचार्यों की ही स्तुति नही गाई किन्तु तपागच्छ की भी दिल खोलकर प्रशसा की है । वे लिखते हैं—

'एषतां श्री तपागच्छो दीप्यतां सवितेव च ।
तेजसा सूरिमन्त्रस्य त्वदीयस्य च सर्वदा ॥१५॥
महीयान् श्री तपागच्छ', सर्वगच्छेषु सर्वदा ।
सवदा सर्वदाता च पर्वतात्सर्वकाम्क्षितम् ॥१६॥
राजान इव विद्यन्ते, श्रावका यत्र सर्वदा ।
नन्दतात्श्रीतपागच्छ' सततं स ततक्षण' ॥१७॥
यत्र त्वमीदृश सूरि वर्तसे गच्छनायक ।
स्तूयते चेति विद्वद्भि' पातिसाह्यादिभिर्नृप ॥१८॥'

अर्थ—

श्री तपागच्छ वृद्धिमत हो और तुम्हारे (विजयदेव सूरि) सूरि मन्त्र के तेज से सूर्य की तरह सदा देदीप्यमान रहो। श्री तपागच्छ सर्व गच्छों में सदा महान् है और वह सदा सर्व पदार्थों को देने वाला है। जसे पर्वत से सर्वकाम्क्षित प्राप्त होते हैं जिसमें श्रावक राजाओं के जैसे समृद्धिमन्त हैं और जिस गच्छ में निरन्तर उत्सव होते रहते हैं ऐसा तपागच्छ सदा समृद्धिमन्त हो जिसमें तुम्हारे जैसे गच्छनायक हैं जो विद्वानों द्वारा तथा बादशाह आदि राजाओं द्वारा सदा स्तुति गोचर किये जाते हैं। १५–१८।

विजयदेव सूरिजी के समय में प्रचलित कुछ रीतियाँ

१ कवि श्रीवल्लभ ने श्री बालकुमार के जन्म के दसवें दिन उनके पिता सेठ स्थिरा द्वारा अपने मित्र सम्बन्धियों को आमन्त्रित कर भोज देकर पुत्र का नामकरण करवाया है। इतना ही नहीं किन्तु नवजात बालक को वर्धमान देवमन्दिर ले जाने की बात भी कही है। इससे मालूम होता है कि उस समय जैनों में दसवें दिन पुत्र जन्म-सम्बन्धी सूतक पूरा हो जाता था।

२ आचार्य श्री विजयदेव सूरिजी त्यागी और त्यागियों के गुरु होते हुए भी नगर-प्रवेश के समय रेशमी अथवा सूती वस्त्र जो भक्तों द्वारा मार्ग में बिछाये जाते थे उन पर चलते थे।

३ उस समय ग्राचार्यों को भक्त गृहस्थो ग्रथवा सघ के ग्रागेवानो का वडा लिहाज रखना पडता था। जहाँ वे चातुर्मास्य मे ग्रथवा शेपकाल मे स्थिरता करते थे, वहाँ से विहार करने के पहले खास भक्त ग्रथवा सघ की ग्राज्ञा मानते। जव तक वे ग्राज्ञा नही देते, तव तक वे वहाँ से विहार नही करते थे। एव वार विजयदेव सूरिजी जालोर मे थे, तव मेडता से ग्रमुक गृहस्थ सघ के ग्रागेवानो के साथ मेडता मे जिन-प्रतिष्ठा करने के लिए ग्राचार्य को मेडता पधारने की विनती करने ग्राए, परन्तु उन्हे विश्वास था कि जव तक जयमल्लजी मुणोत जो सूरिजी के परम भक्त थे, ग्राचार्य को विहार की ग्राज्ञा नही देगे, तव तक ग्राचार्य जालोर नही छोडेंगे। इसीलिए वे प्रथम जयमल्लजी से मिले ग्रौर उनसे प्रार्थना की जो निम्न श्लोक से ज्ञात होगी—

"मन्त्रिरण जयमल्ल ते, मिलित्वा चावदन्निदम्।
सूरीन्द्र मुञ्च धर्मात्मन्नेति यत् त्वद्वचो विना ।।४२।।" (दशम सर्ग)

ग्रर्थात्—

'मेडता के सघ के ग्राने वाले ग्रग्रेसर मन्त्री जयमल्लजी को मिलकर यह वोले—हे धर्मात्मन् जयमल्लजी! ग्राचार्य विजयदेव सूरिजी को हमारे वहाँ भेजो, क्योकि ग्रापके कहे विना वे नही ग्रायेगे।

४ उस समय ग्राचार्य सोने रूपे से ग्रपनी नवाग पूजा करवाते थे, जो रीति चैत्यवासियो के द्वारा प्रचलित हुई थी। परन्तु इसकी उत्पत्ति का पूरा ज्ञान न होने के कारण इस प्रकार की पूजा कोई कोई सुविहित साधुओ के लिए भी विहित मानते हैं, यह वात योग्य नही कही जा सकती। क्योकि ग्रागमो की पचागी मे इसका कोई विधान नही मिलता।

"विजयदेव माहात्म्य" के ग्रन्तिम उन्नीसवें सर्ग मे उपाध्याय श्रीवल्लभ कवि ने तपागच्छ की तत्कालीन कुछ शाखाग्रो का उल्लेख किया है, जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं—

'विजया १, सुन्दरा २ (सुन्दरी), मधुमा ३ हसा ४ विमला ५, कमला ६ कुशला ७ रवि ८ सागरा ९, सौभाग्या १० हर्षा ११ सफला १२ उदया १३ आनन्दा १४। उक्त शाखाओं के अतिरिक्त सामा' आदि अन्य शाखाएँ भी प्रचलित थीं। कवि ने इनका सामान्य अर्थ भी निरुक्त के रूप में दिया है परन्तु इसकी चर्चा कर हम विषय को बढ़ाना नहीं चाहते।

ग्रन्थ के कवि श्री श्रीवल्लभ उपाध्याय की योग्यता

अपने गच्छ के आचार्यों की प्रशस्तियां तो सभी लिखते हैं, परन्तु अन्य गच्छ तथा उसके आचार्यों की प्रशस्ति लिखने वाले श्रीवल्लभ पाठक जैसे शायद ही कोई विद्वान् हुए होंगे। श्रीवल्लभ की इस अन्य गच्छ-भक्ति से इतना तो निर्विवाद है कि ये गुणानुरागी पुरुष थे इसमें कोई शंका नहीं।

कवि श्रीवल्लभ ने अपनी इस कृति को "महाकाव्य" के नाम से उल्लिखित किया है यह ठीक नहीं जँचता। क्योंकि इसमें रस रीति अलंकार आदि काव्य लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते। इतना ही नहीं अनेक स्थानों पर छन्दोभंग आदि साहित्यिक अशुद्धियां भी प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत में आती हैं। इस परिस्थिति में लेखक इसको "महाकाव्य" न कहकर 'चरित' कहते तो अच्छा होता।

पाठक श्रीवल्लभ कवि की इस कृति से यह भी मालूम हुआ कि उनका प्राथमिक ज्ञान बहुत कच्चा होना चाहिए। बालकुमार भी केवल नौ वर्ष की अवस्था में कवि उनसे यौवन तथा परिणयन की बातें करता है। 'वर्तमान चतुर्विंशति के २२ तीर्थंकरों ने भी विवाह करने के उपरान्त दीक्षा ली थी, तो तुम्हें भी पहले गृहस्थाश्रम स्वीकार कर पिछले जीवन में प्रव्रज्या लेना चाहिए' ऐसा उनके माता-पिताओं के मुख से कहलाता है। काव्य के मूल शब्द निम्नोद्धृत हैं—

"धर्मोविंशतिरर्हन्तः परिणीतवरस्त्रियः।
हंजानानेचपुत्रास्च प्रान्ते प्रापु शिवश्रियम् ॥१०॥

वर्धमानजिन पूर्वं; विजहाररतरा निशि ।
प्रागदीक्षितसच्छिष्य', शिष्यसन्ततिहेतवे ॥३१॥" (द्वितीय सर्ग)

अर्थात्—

तेईस जिन उत्तम स्त्रियो का पाणिग्रहण कर अनेक पुत्रो के पिता वनकर अन्त मे मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त हुए । पूर्वकाल मे वर्धमान जिन ने सत् शिष्य नही किये थे, इसलिये शिष्य-सन्तति के लिए रात्रि मे विहार किया । ३०–३१ ।

पाठक श्रीवल्लभजी को जैन शास्त्रानुसार यह लिखना चाहिए था कि वर्तमान चौबीसी के २२ तीर्थङ्करो ने गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के उपरान्त दीक्षा ग्रहण को थी । क्योकि जैन शास्त्र के इस विषय के दो मतो मे से एक भी मत श्रीवल्लभ के उक्त मत का समर्थन नही करता । "समवायाग-सूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति" के कथनानुसार १६ तीर्थङ्कर गृहस्थाश्रम से प्रव्रजित हुए थे और वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान ये पाच तीर्थङ्कर कुवारे ही दीक्षित हुए थे । तब "दशाश्रुत-स्कन्ध" के कल्पाध्ययन के अनुसार २२ तीर्थङ्कर गृहस्थाश्रम से प्रव्रजित हुए थे और मल्लिनाथ तथा नेमिनाथ ये दो जिन ब्रह्मचारी अवस्था से ही दीक्षित हुए थे, परन्तु श्रीवल्लभ पाठक के कथनानुसार तेईस तीर्थङ्करो ने गृहस्थाश्रम से दीक्षित होने का कोई शास्त्रीय प्रमाण नही मिलता । मालूम होता है, श्री पाठकजी की यह अनाभोगजनित स्खलना मात्र है ।

तीर्थङ्कर वर्धमान के पहले शिष्य न करने और वाद में शिष्य-सन्तति के लिए रात्रि मे विहार करने का कथन 'वासकुमार' के प्रसंग के साथ किसी प्रकार की सगति नही रखता । 'वासकुमार' दीक्षा ग्रहणार्थ परिणयन का निषेध करते हैं, तव तीर्थङ्कर वर्धमान ज्ञान-प्राप्ति के वाद रात्रि के समय चलकर मध्यमा नगरी के महासेन वन पहुचते हैं । इसका कारण शिष्य-सन्तति का लोभ नहीं, किन्तु उपकार का सम्भव जानकर तीर्थङ्कर नाम कर्म खपाने की भावना से विहार कर वहाँ पहुचते हैं ।

'वासकुमार' की दीक्षा के साथ भगवान् महावीर के इस विहार का क्या सम्बन्ध और साम्य, यह बात पाठक श्रीवल्लभ ही समझ सकते हैं।

श्रीवल्लभ पाठक ने 'विजयदेव-माहात्म्य' में कोई दस-बारह स्थान पर वर्ष सूचक शब्द प्रयोग किए हैं। वे सब के सब भ्रान्तिकारक हैं। वे प्रत्येक संवत्सर निवेदन के अवसर पर सोलहवें शतक के अमुक वर्ष में इस प्रकार का शब्द प्रयोग किया है जो ठीक नहीं। आचार्य श्री विजयदेव सूरि सोलहवें शतक के व्यक्ति नहीं किन्तु सत्रहवीं सदी के थे। अतः सोलहवें के स्थान पर सर्वत्र सत्रहवें ऐसा शब्द प्रयोग करना चाहिए था। आपके काल-सूचक शब्द प्रयोगों के एक दो उदाहरण नीचे देकर इस विषय को स्पष्ट करेंगे—

चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे षोडशस्य शतस्य हि।
पौषे मासे सिते पक्षे त्रयोदश्यां दिने रवौ ॥१८॥

नक्षत्रे रोहिणी नाम्नि सम्यग्योगसमन्विते।
सर्वास्वाशासु सौम्यासु, निष्पन्नाशालिनीषु च ॥॥१९॥

स्थिरे वारे शुभे लग्ने शोभमाने शुभैर्ग्रहैः।
उच्च-स्थानस्थितै सर्वै स्व-स्वस्वामिनिरीक्षितै ॥२०॥

परिपूर्णे तथा सार्धे नवमासावधौ शुभे।
पुत्रं प्रासूत सा पूत-ज्ञानज्योतिस्सनूदयम् ॥२१॥ (प्रथम सर्ग)

ऊपर के चार श्लोकों में स्थिरा सेठ के पुत्र 'वासकुमार' के जन्म के लग्न और लग्न स्थित ग्रहों की स्थिति का वर्णन करने के साथ जन्म का निरूपण किया है। इसमें 'षोडशस्य शतस्य चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे' यह कथन भ्रान्तिकारक है क्योंकि षष्ठ्यन्त षोडश शत के साथ चतुस्त्रिंशत्तमे वर्ष का सम्बन्ध जोड़ने से इसका सीधा अर्थ 'पन्द्रह सौ चौंतीस' होगा

जो आपत्तिजनक है। पाठकजी को यहाँ "षोडशस्य शतस्य" के स्थ.न "सप्तदश शतस्य" ऐसा लिखना चाहिए था, जिससे यथार्थ अर्थ उपस्थित हो जाता। "षोडश' यह शब्द पूर्ण प्रत्यान्त है, इसलिए इसके साथ "चतुर्स्त्रिश" शब्द जोडने से सोलह सौ चौत्रीस के स्थान पन्द्रह सौ चौत्रोस ऐसा अर्थ होगा, १६३४ नही। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ सवत्सर दिखाने का प्रसग आया, वहाँ सभी जगह "षोडशस्य शतस्य' यही शब्द प्रयोग किया है, जो पाठकजी के अनाभोग का परिणाम ही कहा जा सकता है।

पाठक श्रीवल्लभ कवि ने अपनी इस कृति का निर्माण समय नही दिया। इससे निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि "विजयदेव-माहात्म्य" निर्माण का समय क्या है, परन्तु कवि के अन्तिम सर्ग के कई श्लोको से यह ध्वनित अवश्य होता है, कि पाठकजी ने इस ग्रन्थ का निर्माण श्री विजयदेव सूरिजी की विद्यमान अवस्था मे ही नही, किन्तु इनकी जीवनी के पूर्व-भाग मे ही इस ग्रन्थ का निर्माण हो चुका होगा। विजयदेव सूरिजी अठारहवी सदी के प्रथम चरण तक विद्यमान थे। तव श्रीवल्लभ ने अपने इस ग्रन्थ मे अठारहवी सदी का एक भी प्रसग नही लिखा। इससे निश्चित है कि सत्रहवी सदी के चतुर्थ चरण मे ही इस ग्रन्थ की समाप्ति हो चुकी थी। मुद्रित "विजयदेव-माहात्म्य' की आधार भूत प्रति के अन्त मे लेखक की पुष्पिका निम्न प्रकार की मिलती है—

"लिखितोऽय ग्रन्थ श्री ५ श्रीरगसोमगणि-शिष्य-मुनिसोमगणिना। स० १७०६ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी तिथौ बुधौ (धे) लिखित। श्री राजनगरे तपागच्छाधिराज भ० श्री विजयदेवसूरीश्वरविजयराज्ये।"

ऊपर की पुष्पिका से इतना निश्चित हो जाता है कि स० १७०६ के वर्ष तक विजयदेव सूरि तपागच्छ के गच्छपति के रूप मे विद्यमान थे। तब 'विजयदेव-माहात्म्य" इसके पूर्व लगभग बीस से पच्चीस वर्ष पहले बन चुका था और इससे यह भी जान लेना चाहिए, कि "विजयदेव-माहात्म्य" में आचार्य श्री विजयदेव सूरि का पूरा जीवन चरित्र नही है।

'विजयदेव-माहात्म्य' में जिस प्रकार ग्रन्थ-कर्ता की अनेक स्खलनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, इससे भी अधिक भूलें इसके सम्पादक मुनि जिनविजयजी के अनाभोग अथवा अज्ञान की इसमें दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थ के सम्पादन में सम्पादकीय भूलों का रहना बहुत ही अखरता है। यदि इस ग्रन्थ का शुद्धि-पत्रक बनाया जाय तो लगभग एक फॉर्म का मेटर बन सकता है परन्तु ऐसा करने का यह योग्य स्थल नहीं है।

卐 卐

: १२ :

गुरुतत्त्व-विनिश्चय

❖

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी विरचित

उपाध्याय श्री यशोविजयजी विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के प्रखर विद्वान् थे। आपने छोटे वडे १०८ न्याय के ग्रन्थ वनाये, तव काशी के विद्वानो ने आपको "न्यायाचार्य" का पद दिया था। आप नैयायिक होने के अतिरिक्त कवि और जैन सिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता भी थे। "वैराग्य कल्पलता" जो "सिद्धर्षि" की "उपमित भव प्रपचा" कथा का पद्य रूप है, आपके प्रौढ कवित्व का प्रमाण देती है। "यतिलक्षण-समुच्चय" आदि आपके अनेक ग्रन्थ आपको जैन-सिद्धान्तज्ञ के रूप मे प्रमाणित करते हैं। इस प्रकार के सैद्धान्तिक ग्रन्थो मे आपकी "गुरुत्त्व-विनिश्चय" नामक कृति सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है।

"गुरुतत्त्व विनिश्चय" ग्रन्थ की रचना प्राकृत गाथाओ मे की गई हैं, जिनकी गाथा सख्या ६०५ है। इस वृहद् ग्रन्थ पर आपने एक टीका भी वनाई है, जिसका श्लोक प्रमाण ८००० के लगभग होगा। इस ग्रन्थ को आपने चार 'उल्लासो' मे विभक्त किया है। प्रत्येक उल्लास मे क्या-क्या विषय है, जिसका आभास नीचे की पक्तियो से हो सकेगा—

१ प्रथम उल्लास मे निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से गुरुत्तत्व का निरूपण २०८ गाथाओ मे किया है।

२ द्वितीय उल्लास मे उपाध्यायजी ने "व्यवहार, वृहत्कल्प, निशीथ, महानिशीथ, जीतकल्प" आदि छेद सूत्रो के आधार से श्रमण-श्रमणियों को दिये जाने वाले प्रायश्चितो का सग्रह और उनके देने का व्यवहार भी

बताया है। इस सम्बन्ध में जीत-कल्प तथा व्यवहार-सूत्र के आधार से दो तीन यन्त्रक भी दे दिये हैं। छेद सूत्र पढ़ने के पहले यह उल्लास पढ़ा जाय तो छेद सूत्रों की दुर्गमता कुछ सुगम हो सकती है। इस उल्लास में आपने ३४३ गाथाओं में प्रायश्चित्तों का निरूपण किया है।

३ "गुरुतत्त्व विनिश्चय" के तृतीय उल्लास में आपने सुविहित साधुओं की पहिचान कराने के साथ पार्श्वस्थ अवसन्न कुशील संसक्त और यथाच्छन्द नामों से शास्त्र में प्रसिद्ध पांच प्रकार के कुगुरुओं का निरूपण करके उनसे दूर रहने की सलाह दी है। इस उल्लास में आपने १८८ गाथाएँ रोकी हैं।

४ "गुरुतत्त्व विनिश्चय" का चतुर्थ उल्लास जैन सिद्धान्तोक्त पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों के वर्णन में रोका है। पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक नामक पांच निर्ग्रन्थों के निरूपण के साथ इनके साथ सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी बातों का स्पष्टीकरण किया है। इस उल्लास में १६६ गाथाएँ बनाकर आपने इस ग्रन्थ की समाप्ति की है।

उपाध्यायजी ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक उल्लास के अन्त में अपने प्रगुरु गुरु, गुरुभाई आदि का स्मरण किया है परन्तु आश्चर्य तो यह है कि इतने बड़े ग्रन्थ के अन्त में कोई प्रशस्ति नहीं दी और न अपने गच्छ के आचार्य का नामोल्लेख ही किया है। मालूम होता है कि विजयसेन सूरिजी के पट्ट पर विजयदेव सूरिजी के विरोध में नया आचार्य स्थापित करने से तपागच्छ की परम्परा में जो गच्छभेद हुआ था उस समय की यह कृति है। उस समय तपागच्छ के अधिकांश गीतार्थ श्रमण वर्ग नये आचार्य के पक्ष में उतर गया था परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी तथा इनके गुरु आदि अन्त तक आचार्य विजयदेव सूरिजी के ही अनुयायी रहे। सम्भव है ऐसे मतभेद के समय में अपनी कृति में किसी आचार्य का उल्लेख कर खुल्ला न पड़ने की भावना से आपने ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति भी नहीं लिखी।

卐 卐

: १३ :

पाध्याय श्री यशोविजयजी कृत
स्वोपज्ञ टीका सहित

अध्यात्म-मत-परीक्षा

"अध्यात्म-मत-परीक्षा" उपाध्याय यशोविजयजी की एक प्रौढ कृति है। ग्रन्थ की मूल गाथाएँ एक सौ चौरासी हैं और इन पर उपाध्यायजी की स्वोपज्ञ विस्तृत टीका है, जो लगभग चार हजार से अधिक श्लोकों के परिमाण की होगी।

ग्रन्थ का नाम "अध्यात्म-मत-परीक्षा" रखने का खास कारण यह है कि उपाध्यायजी के समय मे (विक्रम की १७वी सदी मे) दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार आदि ग्रन्थो के पढने से अध्यात्म मार्ग की तरफ झुक कर कुछ श्वेताम्बर और कुछ दिगम्बर श्रावको ने एक मण्डल कायम किया था, जो "आध्यात्मिक-मण्डल" के नाम से प्रसिद्ध हुआ था और इस मण्डल के प्रमुख "श्री बनारसीदासजी" एव "कुमारपाल" आदि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक थे। इस मण्डल मे अन्य भी श्वेताम्बर श्रावक मिले थे, इसलिये उपाध्याय यशोविजयजी, उपाध्याय मेघविजयजी आदि तत्कालीन श्वेताम्बर विद्वानो ने इस मत के खण्डन मे प्रवृत्ति की थी। उपाध्यायजी की "अध्यात्म-मत-परीक्षा" और उपाध्याय मेघविजयजी का "युक्ति प्रबोध" इसी मत के खण्डन मे लिखे गए हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वानो की तरफ से इस विषय का कोई ऊहापोह हुआ हो, ऐसा ज्ञात नही होता। इसका कारण यही है कि इस मण्डल ने जो कुछ प्रचार किया, उसका मूलाधार दिगम्बर ग्रन्थ थे। अत दिगम्बरो को आपत्ति उठाने का कोई कारण नही था। जब इस मण्डल की प्रवृत्तियो से तत्कालीन दिगम्बर भट्टारको की टीका-टिप्पणियाँ होना शुरू हुआ तो दिगम्बर भट्टारक चौकन्ने हो गये। अपने भक्तो को इन आध्यात्मियो

की मन्दमती से सतर्क रहने की प्रेरणा करने लगे। दिगम्बर सम्प्रदाय में आज जो तेरह पन्थी कहलाते हैं उन्हें इन्हीं आध्यात्मियों के अवशेष समझने चाहिए।

इन आध्यात्मियों का मुख्य सिद्धान्त साधु को बस्त्री वस्त्र पात्र रखना केवली का कवलाहार करना और स्त्री का उसी भव में मोक्ष जाना इन तीन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से विरोध करना था। उपाध्यायजी ने इन तीनों बातों का समर्थन किया है। प्रारम्भ में आध्यात्म की व्याख्या करके उक्त बनारसीदास को नाम अध्यात्मी माना है और अनेक तार्किक युक्तियों से जैन श्रमणों को आवश्यक संयम के उपकरण रखने पर भी मोक्ष प्राप्ति होना बताया है। केवली का परमौदारिक शरीर मानने पर भी कवल आहार के बिना वह शरीर टिक नहीं सकता यह बात प्रमाणित की है। ग्रन्थ के अन्त भाग में श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार स्त्री को चारित्र पालने से उसी भव में मुक्ति प्राप्त हो सकती है इसमें कोई बाधक नहीं है।

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों का सविस्तार प्रतिपादन करके उपाध्यायजी ने अपने ग्रन्थ को समाप्त किया है।

卐 卐

: १४ :

युक्ति-प्रबोध

(वाणारसीय-दिगम्बर मत खण्डन)

❖

महामहोपाध्याय मेघविजयजी कृत स्वोपज्ञवृत्तियुत ।

उपाध्याय यशोविजयजी के "अध्यात्म-मत-परीक्षा खण्डन" ग्रन्थ के बाद बनारसीय मत खण्डन मे लिखा हुआ उपाध्याय मेघविजयजी का यह "युक्ति-प्रबोध" ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के लेखक ने अपनी इस कृति को नाटक का नाम दिया है, परन्तु ग्रन्थ मे नाटक का कोई भी लक्षण नही है। मालूम होता है, उपाध्यायजी ने दिगम्बराचार्य अमृतचन्द्र ने जिस प्रकार अपनी टीका मे "कुन्दकुन्द के प्राभृतो" को नाटकीय रूप देकर सटीक ग्रन्थ का नाम नाटक दिया है, उसी प्रकार बनारसीदासजी ने अपनी हिन्दी कति "समयसार" का नाटक नाम रखा है, उसी प्रकार उनकी देखादेखी उपा० मेघविजयजी ने भी अपने "युक्ति-प्रबोध" को नाटक के नाम से प्रसिद्ध किया है, परन्तु उक्त सभी ग्रन्थों के नामो के साथ "नाटक" शब्द देखकर किसी को भ्रम मे नही पडना चाहिये, वास्तव मे ये सभी ग्रन्थ खण्डन-मण्डन के है, थियेटर मे खेलने के नाटक नही।

उपाध्याय मेघविजयजी ने तीन विषयो पर मुख्य चर्चा की है, (१) स्त्रीनिर्वाण की, (२) केवली कवलाहार की और (३) वस्त्रधारी श्रमण के मोक्ष की। आपने युक्तियो और शास्त्र प्रमाणो से विषय का निरूपण किया है और आप इसमे सफल भी हुए हैं। कुन्दकुन्द के "प्राभृत" नेमिचन्द्र के "गोम्मटसार" तथा अन्यान्य दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थो का प्रमाण देकर विषयो का सफलता पूर्वक प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त जिन-जिन श्वेताम्बर मान्य बातो का बनारसीदास के अनुयायी विरोध करते थे उन सभी बातो का उपाध्यायजी ने सप्रमाण उत्तर दिया है, बनारसीदास

के अनुयायी श्वेताम्बर सम्प्रदाय प्रसिद्ध चौरासी बातों का खण्डन करते थे उनमें से कुछ तो उनके अज्ञान से उत्पन्न हुई बातें थी जैसे "मुनिसुव्रत भगवान् के चौदा गणधर होने की बाहुबलीजी के मुसलमान होने की बात' इत्यादि कई बातें श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं हैं उन्हें होना बताकर लोगों को बहकाते थे जिनका उपाध्यायजी ने सप्रमाण खण्डन करके बनारसी के अनुयायियों को निरुत्तर किया है।

टीका की समाप्ति में आपने एक प्रशस्ति दी है जिसमें आचार्य विजय हीरसूरिजी विजयसेनसूरिजी विजयदेवसूरिजी और विजयसिंहसूरिजी का गुणगान किया है। इससे इतना ज्ञात होता है कि उपाध्यायजी की यह कृति विक्रम सं० १६८८ के पहले की है क्योंकि आचार्य श्री विजयसिंहसूरिजी को गच्छानुज्ञा १६८४ में हुई थी और उसके बाद आप ४ वर्ष में ही स्वर्गवासी हो चुके थे इससे निश्चित होता है कि यह ग्रन्थ विजयसिंहसूरिजी के जीवन-काल में ही बना था।

उपाध्याय यशोविजयजी की 'आध्यात्म-मत-परीक्षा' में बनारसीदास जी और उनके अनुयायी कुमारपाल का नाम निर्देश किया गया है तब उपाध्याय मेघविजयजी ने इस विषय में विशेष प्रकाश डाला है। आपने बनारसीदास के मत की उत्पत्ति का स्थान उनका समय और उनके अनुयायियों के नाम लिखकर इस नवीन सम्प्रदाय वालों का विशेष परिचय कराया है। इनके कथनानुसार बनारसीदास 'आगरा' के रहने वाले थे ये जातिके तथा श्रीमाली थे और सम्प्रदाय की दृष्टि से प्रतिक्रमण पौषधादि धार्मिक क्रिया करने वाले खरतरगच्छ के श्रावक थे। एक बार चऊविहार उपवास के साथ पौषध लिये धर्मशाला में रहे हुए थे रात्रि के समय उनके मन में खाने पीने की इच्छा ने सताने के कारण मानसिक कल्पना उत्पन्न हुई कि तपस्या वगैरह धार्मिक विधान करते हुए श्रावक के मन में खाने-पीने की इच्छा हो जाय तो उसको तपोनुष्ठान का फल मिल सकता है या नहीं। इस मानसिक शंका को बनारसीदासजी ने दूसरे दिन अपने गुरुजी से पूछा तो भविष्य तथा गुरु के मुख से निकला कि मन के परिणाम बदलने से अनुष्ठान का फल नहीं मिलता। मानसिक भावनाएं तो हर हालत में शुद्ध रहनी चाहिए, बस

वनारसीदासजी को निश्चय मार्ग पकडने का सहारा मिल गया-"उन्होने निश्चय किया कि आत्मिक भावनाओ की शुद्धि से ही आत्मा शुद्ध होता है, वाह्य क्रिया-अनुष्ठानो से नही" आपने इस निर्णय को अपने धर्म-मित्रो के सामने प्रकट किया, परिणाम स्वरूप वनारसीदासजी का साथ देने वाले कुछ गृहस्थ मिल गए, जिनके नाम-रूपचन्द्र पण्डित, चर्तुभुज, भगवतीदास, कुमारपाल और धर्मदास। इन पाचो ने वाह्यक्रिया-वगैरह का त्याग कर धार्मिक ग्रन्थो का पठन-पाठन करने और उनमे से जो वात अपने दिल मे न जँचे उनका खण्डन करने का काम प्रारम्भ किया। परिणाम स्वरूप दिगम्वर भट्टारको के पास रहने वाले धार्मिक उपकरण मोरपिच्छी, कमण्डलु, पुस्तक रखने का भी विरोध किया और श्वेताम्वर सम्प्रदाय की हजारो वातो मे से चौरासी वातें ऐसी निकली जिसका वे खण्डन किया करते थे।

वनारसीदास का प्रस्तुत अध्यात्म-मत विक्रम स० १६८० मे चला। इसके प्रचार के लिए वनारसीदास ने हिन्दी कवित्त मे अमृतचन्द्राचार्य कृत "समयसार" की टीका के आधार पर "समयसार" नाटक की रचना की, जो विक्रम स० १६९३ मे समाप्त हुई थी।

वनारसीदासजी स्वय निस्सतान थे, अत उनकी मृत्यु के वाद उनके मत की वागडोर कुमारपाल ने ग्रहण की और इस मत के अनुयायियो को अपने मत मे स्थिर रखने के लिए इस मत का प्रचार करता रहा।

उपाध्याय श्री मेघविजयजी

उपाध्याय मेघविजयजी पूर्वावस्था मे लुकागच्छ के आचार्य श्री मेघजी ऋषि के प्रशिष्य थे। आपकी दीक्षा आचार्य श्री विजयसेनसूरिजी के हाथ से विक्रम स० १६५९ मे हुई थी, आपके गुरु का नाम श्री कृपाविजयजी था, आप अच्छे विद्वान और ग्रन्थकार थे, आपने इस युक्ति-प्रवोध का निर्माण-समय नही वताया, परन्तु प्रशस्ति मे आपने लिखा है—यह "युक्तिप्रवोध" की रचना आचार्य श्री विजयप्रभसूरि और उनके पट्टधर आचार्य श्री विजय-रत्नसूरि के शासनकाल में हुई। इससे ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ

विजयरत्नसूरिजी का आचार्य पद विक्रम स० १७३२ में होन के बाद को है एक स्थान पर ग्रन्थकार लिखते है— यह ग्रन्थ साधु कल्याणविजय के बोधार्थ बनाया यह कल्याणविजय इनकी शिष्यपरम्परा में नहीं थे किन्हीं दूसरे के शिष्य होंगे और उनकी श्रद्धा स्थिर करने के लिए उपा० मेघविजयजी ने इस ग्रन्थ को बनाया होगा ।

: १५ :

श्री-धर्म-संग्रह

उपाध्याय मानविजयजी कृत स्वोपज्ञ टीका, उ० यशोविजयजी कृत संस्कृत-टिप्पणी युक्त ।

"धर्मसंग्रह" एक संग्रह-ग्रन्थ है, इसमे अनेक ग्रन्थो के आधार से गृहस्थधर्म और साधुधर्म का निरूपण किया है। ग्रन्थकार ने प्रारम्भ से ही ग्रन्थ को एक संग्रह का रूप देकर इसकी रचना की है। परिणाम यह हुआ कि संग्रह का जितना कलेवर बढा है, उतना विषय का स्पष्टीकरण नही हुआ। उपाध्यायजी ने अपनी शैली ही ऐसी रखी है कि विषय का सरल निरूपण करने के स्थान पर अपना स्वतन्त्र निरूपण न करके आधार भूत ग्रन्थो के आधारो का संस्कृत मे अक्षरानुवाद किया है और बाद मे जिनके आधार से आपने संस्कृत मे विषय का निरूपण किया है, उन्ही आधार प्रमाणो के, चाहे वे पद्य हो, गद्य हो संस्कृत हो या प्राकृत, ज्यो के त्यो उद्धरण दे दिये है, इससे ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ गया है। ग्रन्थकार स्वयं ग्रन्थ के अन्त मे कहते हैं—"धर्मसंग्रह" अनुष्टुप श्लोको के परिमाण से चौदह हजार छ सौ दो (१४६०२) संख्यात्मक हो गया है। उपाध्यायजी की शैली और इच्छा ग्रन्थ का शरीर बढाने की थी, अन्यथा "धर्मसंग्रह" मे जितने विषयो का स्वरूप निरूपण किया है वह इससे आधे मेटर मे भी प्रतिपादित हो सकता था। प्रसिद्ध सर्वमान्य बातो के वर्णन मे प्रमाण देना आवश्यक नही होता, जो विषय विवादास्पद होता है उसी के लिए शास्त्रीय प्रमाणो के उद्धरण जरूरी होते है, परन्तु "धर्मसंग्रह" के कर्त्ता ने इस बात पर तनिक भी विचार नही किया। यही कारण है कि आपका ग्रन्थ जितना बढा है, उतना विषय नही बढा। इसके अतिरिक्त चैत्यवन्दन सूत्रो, श्राद्धप्रतिक्रमण

सूत्रों श्रमण प्रतिक्रमण सूत्रों को संस्कृत व्याख्या के साथ "धर्मसंग्रह" के अन्तर्गत किया है जिस की कोई आवश्यकता नहीं थी आपने इन सब सूत्रों को ग्रन्थ के अन्तर्गत ही नहीं किया किन्तु इन पर अवचूरि तक लिख डाली है। ग्रन्थ का कलेवर बढ़ने का यह भी एक कारण है।

धर्मसंग्रह' में कुल चार अधिकार हैं—(१) सामान्य गृहि-धर्म (२) विशेष गृहिधर्म (३) सापेक्ष यतिधर्म (४) निरपेक्ष यतिधर्म। "धर्मसंग्रह' के इन चार अधिकारों में से अन्तिम अधिकार केवल १३ पेजों में पूरा हुआ है यह अधिकार यदि तीसरे अधिकार के अन्तर्गत कर दिया जाता तो विशेष उचित होता।

उपाध्यायजी ने विस्तार का लोभ न कर विषयों का निरूपण करते समय ग्रन्थ को सुगम बनाने का ध्यान रखा होता तो पढ़ने वालों के लिए विशेष उपयोगी होता आज इसका एक भी अन्तर्गत विषय ऐसा नहीं है जो इसके पढ़ने वालों को इस ग्रन्थ के आधार से समझकर उसे क्रियान्वित कर सके उदाहरण स्वरूप 'संस्तारक पौरुषी' को ही लीजिये। इनके समय में सचागा पौरुषी का क्या स्वरूप था इसको कोई जानना चाहे तो जान नहीं सकता। इसी प्रकार अधिकांश बातें विस्तार के आटोप के अंधकार में आवृत हो गई हैं जो सामान्य पढ़ने वाला निश्चित सफल कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

ग्रन्थ में उपाध्याय श्री यशोविजयजी के परिष्कार कहीं-कहीं दिये गए हैं। इन परिष्कारों को इसके अन्तर्गत करने की आवश्यकता थी ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता क्योंकि ऐसा एक भी परिष्कार हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ कि जिसके न देने पर ग्रन्थ का वह स्थल अशुद्ध अथवा तो अस्पष्ट रहता न्यायाचार्यजी के संशोधन के उपरान्त भी ग्रन्थ के कोई-कोई शब्द जो खास पारिभाषिक हैं उनका अर्थ यथार्थ नहीं हुआ यह दुःख का विषय है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने मैत्र्यादि चार भावनाओं का जो अपने परिष्कार में अर्थ किया है वह हमारी राय में वास्तविक नहीं है क्योंकि मैत्र्यादि भावना-चतुष्टय मूल में जैनों के घर की चीजें नहीं हैं किन्तु ये चारों भावनाएँ परिव्राजकों और बौद्धों के घर की मानी हैं आचार्य श्री

हरिभद्रसूरिजी के समय मे इन भावनाओ की तरफ लोकमानस अधिक झुका था, इसलिए पूज्य हरिभद्रसूरिजी ने भी इन भावनाओ की व्यवस्था जैन सिद्धान्त के अनुरूप करके अपने ग्रन्थो मे स्थान दिया। आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि आदि पिछले लेखको ने भी अपने ग्रन्थो मे इन भावनाओ की चर्चा की है, परन्तु श्री यशोविजयजी महाराज ने इन भावनाओ की व्याख्या की है, वह किसी ग्रन्थ से मेल नही खाती, उदाहरण स्वरूप आचार्य श्री हेमचन्द्र मैत्री-भवना की व्याख्या निम्न प्रकार से करते है —

"मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दु खित.।
मुच्यंता जगदप्येषा, मति-मैत्री निगद्यते ।"

अर्थात् —कोई भी पाप न करे, कोई भी दु खी न हो, सारा जगत कर्मों से मुक्त हो, इस प्रकार की बुद्धि को "मैत्री भावना" कहते हैं।

अब उपाध्यायजी की मैत्री भावना की भी व्याख्या पढिये
"तत्र समस्तसत्वविपय स्नेहपरिणामो मैत्री"

अर्थात् —"उन भावनाओ मे मैत्री भावना का लक्षण-है तमाम प्राणीविषयक स्नेह-परिणाम ।"

पाठक गण देखेगे कि श्री हेमवन्द्राचार्य कृत मैत्री की व्याख्या मे और उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराज कृत मैत्री की व्याख्या मे दिन रात जितना अन्तर है। उपाध्यायजी मैत्री भावना को "स्नेह" रूप बताते हैं, जो जैन मिद्धान्त मे मेल नही खाता, इसी प्रकार दूसरी भावनाओ के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिए।

विशेष गृही धर्माधिकार के अन्त मे ग्रन्थकार ने "जिन बिम्बप्रतिष्ठा का प्रकरण" दिया है, उसकी समाप्ति मे जो मगल गाथाएँ दी हैं वहा भी उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने "सिद्धाण पइट्ठा" इस पर अपना सशोधन कर "पइट्ठा" के स्थान पर "पसिद्धा" यह शब्द रखा है जो ठीक नही, प्रत्येक "प्रतिष्ठा-कल्प" मे प्रतिष्ठा के अन्त मे किये जाने वाले "मगल

कोष" में 'पइट्ठा' अगर 'पतिट्ठा' शब्द ही आते हैं, "पठिया" नहीं उपाध्यायजी महाराज के दिमाग में कुछ ऐसी बातें जम गई हैं कि सिद्ध आदि की प्रतिष्ठा शाश्वत है जिसकी उपमा अशाश्वत प्रतिष्ठा को नहीं दी जा सकती, परन्तु उपाध्यायजी का उक्त संशोधन वास्तव में संशोधन नहीं बल्कि शुद्ध को 'अशुद्ध करने वाला पाठ" है 'पादलिप्त प्रतिष्ठापद्धति" 'प्रतिष्ठापंचाशक' जैसे प्राचीन प्रतिष्ठा-विधान ग्रन्थों में भी सिद्ध मेरु पर्वत जम्बूद्वीप लवण समुद्र आदि शाश्वत पदार्थों की स्थिति को भी प्रतिष्ठा ही कहा है, यहां पर प्रतिष्ठा का अर्थ स्थापन करना नहीं पर स्थिति' ऐसा मानना चाहिए। *श्रीमान् उपाध्यायजी महाराज प्रतिष्ठा का* परिचय जानते होते तो यह शुद्धि के नाम से अशुद्धि का प्रक्षेप नहीं करते।

उपाध्याय मानविजयजी ने "धर्मसंग्रह' में सैद्धान्तिक निरूपणों के साथ कई स्थानों पर तो अपने समय की अनेक बातों का वर्णन किया है, जिनकी सैद्धान्तिक बातों के साथ सङ्गति नहीं होती। आपके इस प्रकार के निरूपणों से 'धर्मसंग्रह' न सैद्धान्तिक ग्रन्थ कहा जा सकता है न सामाचारी और न औपदेशिक। आपने स्थान-स्थान पर भाष्यों चूर्णियों और मूल सूत्रों के अवतरण देकर अपने ग्रन्थ को सैद्धान्तिक बनाने की चेष्टा की है परन्तु आपकी उपदेशप्रियता के कारण ग्रन्थ काय सैद्धान्तिक न रहकर सिद्धान्त उपदेश और सामाचारी की बातों का संग्रह बन गया है। कुछ भी हो परन्तु उपाध्याय मानविजयजी के इस ग्रन्थ निर्माण सम्बन्धी परिश्रम की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते यद्यपि कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दों का अर्थ करने में आप सफल नहीं हुए, फिर भी कार्य की गुरुता देखते ऐसी बातों पर अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है।

ग्रन्थकर्ता-उपाध्याय मानविजयजी

उपाध्याय मानविजयजी ने ग्रन्थ के अन्त में एक बड़ी प्रशस्ति दी है जिसमें अपनी-आचार्य परम्परा तथा गुरुपरम्परा का वर्णन किया है आपकी आचार्यपरम्परा आचार्य श्री विजयसेन सूरिजी से पृथक होती है विजयसेन सूरिजी के पट्टधर विजयतिलकसूरि तिलकसूरि के पट्टधर विजय आनन्दसूरि और आनन्द सूरि

पट्टपर विजयराजसूरि विद्यमान थे, तब विक्रम स० १७३१ की साल मे "धर्मसग्रह" को समाप्त किया था। आपने अपनी गुरुपरम्परा निम्न प्रकार की बताई है—श्री विजयानन्दसूरि के विद्वान शिष्य शान्तिविजयजी हुए, जो बडे विद्वान् विनीत और अपने गच्छ की व्यवस्था करने वाले थे, उन शान्तिविजयजी के शिष्य उपाध्याय मानविजयजी ने "धर्मसग्रह" ग्रन्थ का निर्माण किया। इसमे जो कुछ भूल रही हो उसे सुधारने की ग्रन्थकार की विद्वानो को प्रार्थना है।

: ११ :

उपदेश-प्रासाद

श्री लक्ष्मी-सूरि

उपदेशप्रासाद अपने नाम के अनुसार औपदेशिक ग्रन्थ है। इसके कर्ता आचार्य श्री विजयलक्ष्मी सूरिजी आनन्दसूरीय परम्परा के उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के आचार्य हैं इन्होंने अपना यह ग्रन्थ वि० सं० १८४३ के कार्तिक शुक्ला पंचमी को खंभात में समाप्त किया है। कर्ता के कथनानुसार अपने शिष्य प्रेमविजयजी के लिए इसे रचा है। सचमुच यह ग्रन्थ लेखक के कथनानुसार सामान्य साधुओं के लिए ही उपयोगी हो सकता है। विद्वान् वाचकों के लिए *इसका विशेष उपयोग नहीं हो सकता* इसकी रचना भी शिथिल और व्याकरण के दोषों से रहित नहीं है। विषय के निरूपण में भी अनेक पुनरुक्तियां हुई हैं। कर्ता ने ग्रन्थ का नाम प्रासाद" और उसके अध्यायों का नाम 'स्तम्भ' रखा है। प्रत्येक स्तम्भ के पन्द्रह पन्द्रह व्याख्यानों को स्तम्भ की अस्त्रियां' होना लिखा है इस कथन से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि ग्रन्थ कर्ता श्री विजयलक्ष्मी सूरि शिल्प-शास्त्र का एकड़ा तक नहीं जानते थे। अगर ऐसा न होता तो प्रत्येक स्तम्भ की पंचदश अस्त्रियां नहीं बताते क्योंकि प्रासाद के स्तम्भ चतुरस्र अष्टास्र षोडशास्र और वृत्त होते हैं विषम अस्त्रिवाला कोई स्तम्भ नहीं होता।

उपदेशप्रासाद ग्रन्थ का आधार जैन शास्त्र में प्रचलित कथायें हैं। पूर्वार्ध में विशेषतः गृहस्थोपयोगी बातें हैं—जैसे कि सम्यक्त्व द्वादश व्रत उन प्रत्येक के साथ दृष्टान्त हैं। उत्तरार्ध में कुछ साधु-धर्म की भी चर्चा की है। गृहस्थों के योग्य प्रायश्चित्तादि बातें दी हैं। अन्त में ग्रन्थकार ने ही 'हीर सौभाग्य' के अन्त की गुर्वावली और दूसरी गुर्वावलियों के

श्लोको से दो व्याख्यान पूरे किये है। भिन्न भिन्न ग्रन्थो के श्लोक तथा पक्तिया उद्धृत करके आचार्य श्री हीर सूरि का परिचय देने मे एक व्याख्यान पूरा किया है। अन्त मे अपनी सक्षिप्त प्रशस्ति दी है और "प्रासाद" का विशेष परिचय देने मे एक अन्तिम व्याख्यान और पूरा किया है। इस प्रकार कुल व्याख्यानो की सख्या ३६१ दी है, जब कि आप प्रत्येक व्याख्यान की समाप्ति मे "इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशसग्रहाख्याया उपदेशप्रासाद-ग्रन्थ वृत्तौ" इस प्रकार की पुष्पिकाओ मे "अब्द परिमित दिन" शब्द का उल्लेख करते हैं, इससे जाना जाता है—इनका आशय प्रकर्म सवत्सर दिन परिमित व्याख्यान रचने का है। इस परिस्थिति मे व्याख्यानो की सख्या ३६१ की बताना असगत प्रतीत होता है।

: १७ :

कृत्रिम कृतियाँ

यों तो सभी ग्रंथ किसी न किसी द्वारा निर्मित होने से कृत्रिम ही होते हैं परन्तु यहाँ कृत्रिम शब्द का अर्थ कुछ और है। कोई ग्रंथ-सन्दर्भ बनाकर किसी प्रसिद्ध विद्वान् के नाम पर चढ़ा देना अथवा अन्य की कृति को अपने नाम से प्रसिद्ध करना उसका नाम हमने "कृत्रिम कृति" रखा है। इसके अतिरिक्त जिस पर कर्ता का नाम नहीं और उसका विषय कल्पित है अथवा आपत्तिजनक है वह भी हमारी राय में कृत्रिम कृति' ही है। इस प्रकार की "कृत्रिम-कृतियाँ" आज तक हमारी दृष्टि में अनेक आई हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) महानिशीथ

कृत्रिम कृतियों में विशेष ध्यान देने योग्य वर्तमान "महानिशीथ-सूत्र' है। यद्यपि नन्दी-सूत्र' तथा 'पाक्षिक-सूत्र' में महानिशीथ का नामो ल्लेख मिलता है तथापि नन्दी-सूत्र" के निर्माण काल में मौलिक "महानिशीथ' विद्यमान होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। नन्दि-सूत्र' में अन्य भी अनेक सूत्रों अध्ययनों के नाम लिखे गए हैं जो 'नन्दि-सूत्र' के रचना समय के पहले ही विच्छेद हो चुके थ। विद्यमान 'महानिशीथ' विक्रम की नवम् शताब्दी में चैत्यवासियों द्वारा निर्मित नया सूत्र सन्दर्भ है। इसका विषय बहुधा जैन आगमों स विरुद्ध पड़ता है। हमने इसे तीन बार पढ़ा है और दो बार इसका नोट भी लिया है। ज्यों ज्यों इसके विषय की विचारणा की गहराई में उतरे त्यों त्यों इसकी कृत्रिमता हमारे

सामने मूर्तिमती हो गई। इसका विशेष विवरण प्रमाणो के साथ एक स्वतन्त्र लेख मे दिया है। पाठक "महानिशीथ की परीक्षा" प्रबन्ध पढे।

(२) सबोध-प्रकरण :

"सब्रोध-प्रकरण" एक सग्रह ग्रन्थ है। यह प्रकरण हरिभद्र सूरि कृत माना जाता है। इसका सम्पादन प्रकाशन करने वालो ने भी इसे हरिभद्र सूरि की कृति माना है, पर वास्तव मे यह बात नही है। "सबोध-प्रकरण" प्राचीन मध्यकालीन तथा अर्वाचीन अनेक ग्रन्थो की गाथाओ का एक "बृहत्सग्रह" है। सग्रहकार ने अनेक गाथाएँ तो दो दो बार लिखकर ग्रन्थ का कलेवर बढाया है। "धर्मरत्न, चैत्यवन्दन महाभाष्य" आदि मध्य-कालीन ग्रन्थो की गाथाओ की इसमे खासी भरमार है। अर्वाचीनत्व की दृष्टि से लुकामत की उत्पत्ति के बाद की अर्थात् विक्रम की सोलहवी शती तक की गाथायें इसमे उपलब्ध होती हैं। इन बातो के सोचने से इतना तो निश्चय हो जाता है कि इस कृति से श्री हरिभद्र सूरिजी का कोई सम्बन्ध नही है। यद्यपि इसके पिछले भाग में दिए गए एक दो छोटे प्रकरणो मे आचार्य हरिभद्र का सूचक "भवविरह" शब्द प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ये प्रकरण भी हारिभद्रीय होने मे शका है। क्योकि इन प्रकरणो का स्वतन्त्र अस्तित्व कही दृष्टिगोचर नही होता, तब इस सग्रह मे इनका होना कैसे सभवित हो सकता है? हरिभद्र सूरि ने अन्यत्र जो आलोचना विधान का निरूपण किया है, उससे उक्त प्रकरणो का मेल नही मिलता। अत कहना चाहिए कि सग्राहक ने ही "भव विरह" शब्दो का प्रक्षेप करके सारे सग्रह-ग्रन्थ को "हारिभद्रीय" ठहराने की चेष्टा की है। अन्तिम पुष्पिका मे "याकिनी महत्तराशिष्या मनोहरीया के पठनार्थ इस ग्रन्थ को आचार्य हरिभद्र सूरि ने बनाया" यह पक्ति जो लिखी है, इससे भी यही प्रमाणित होता है कि "सबोध-प्रकरण" हरिभद्र सूरि की कृति नही है। हमारे अनुमान से यह कृत्रिम कृति किसी खरतर गच्छीय विद्वान् की हो तो आश्चर्य नही।

(१) श्री शत्रुञ्जय-माहात्म्य

वर्तमान 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' के उपोद्घात में राजगच्छ-विभूषण श्री धनेश्वर सूरि के मुख से कहलाया है कि वलभी के राजा शिलादित्य के आग्रह से आचार्य धनेश्वर सूरि ने पूर्व ग्रन्थ के आधार से विक्रम सं० ४७७ में इस संक्षिप्त 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' की रचना की।

'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' के उपर्युक्त कथनों पर हमें कुछ विचार करना पड़ेगा। प्रथम तो विक्रम संवत् ४७७ में राजगच्छ का अस्तित्व होने में कोई प्रमाण नहीं है दूसरा उस समय में धनेश्वर सूरि नामक आचार्य हुए थे ऐसा किसी भी ग्रन्थान्तर से प्रमाणित नहीं होता। इस दशा में 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' के उक्त कथनों पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है? इस बात का निर्णय पाठक स्वयं करलें इसके अतिरिक्त उस समय में शीलादित्य के जैन होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता। वलभी के उपलब्ध ताम्रपत्रों और शिलालेखों के पढ़ने से वलभी के शासक कुल तीन शीलादित्यों का पता चलता है जो सभी जैनेतर धर्मों के अनुयायी थे। इस दशा में शीलादित्य के अनुरोध से धनेश्वर सूरि द्वारा शत्रुञ्जय माहात्म्य' की रचना होने की बात कहाँ तक ठीक हो सकती है इस बात पर भी पाठक-गण विचार करेंगे तो असलियत समझ में आजाएगी।

प्रस्तुत शत्रुञ्जय-माहात्म्य' में इसके उद्धार करने वालों की नामावलि दी गई है जिसमें अन्तिम नाम समराशाह' का मिलता है। समराशाह का सत्ता समय विक्रम की १४वीं शताब्दी है तब विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के माने जाने वाले धनेश्वर सूरि की कृति 'शत्रुञ्जय माहात्म्य' में यह नाम आना इस ग्रन्थ की नवीनता प्रमाणित करता है या नहीं इस बात पर भी विचारक सोचेंगे तो समस्या पर अवश्य प्रकाश पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक आन्तर प्रमाण ऐसे मिलते हैं, जिनसे पर्याप्त रूप में यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रस्तुत शत्रुञ्जय माहात्म्य' किसी चैत्यवासी विद्वान् की कृति है जो शिथिलाचारी श्रमणों की तरफदारी करके उनके पालन-पोषण का समर्थन करता है। यदि यह कृति किसी सुविहित आचार्य की होती तो इसमें सिद्धान्त यतियों का इतना पक्षपात नहीं किया जाता।

(४) व्यवहार-चूलिका :

उक्त नाम की एक लघु कृत्रिम कृति भी हमारे समाज में अस्तित्व धराती है। "उपदेश-प्रासाद" नामक अर्वाचीन ग्रन्थ के एक व्याख्यान मे यह चूलिका उपलब्ध होती है, जिसमे देवद्रव्यादि भोगने वालो की चर्चा है। दूसरी भी अनेक वर्तमान प्रवृत्तियो का इसमे उल्लेख मिलता है। मालूम होता है कि बारहवी शती मे प्रकट होने वाले नवीन गच्छो के प्रवर्तको मे से किसी ने चूलिका का निर्माण करके चैत्यवासियो को नीचा दिखाने की चेष्टा की है।

(५) वंग-चूलिया :

हमारे शास्त्रभण्डारो मे "वग-चूलिया" नामक एक अध्ययन उपलब्ध होता है। "वग-चूलिया" की गणना सूत्रो मे की जाती है, परन्तु प्राचीन हस्तलिखित पोथियो मे "वग-चूलिया" दृष्टिगोचर नही होती। इतना ही नही किन्तु विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी तक की प्राचीन किसी भी ग्रन्थ-सूची मे इसका नामोल्लेख तक नही मिलता। न १७वी शताब्दी तक के किसी ग्रन्थ प्रकरण मे इसके अस्तित्व का प्रमाण ही मिलता है।

"वग-चूलिया" का दूसरा नाम "सुयहीलुप्पत्ति-अज्झयण" लिखा गया है। इसमे वाईस समुदाय के आदि पुरुषो की कल्पित उत्पत्ति का वर्णन चतुर्दश पूर्वधर यशोभद्र सूरि द्वारा भद्रबाहु के शिष्य अग्निदत्त के सामने कराया गया है। वास्तव मे "वग-चूलिया" यह नाम ही कल्पित है। "नन्दी-सूत्र" मे दी गई आगमो की नामावली मे "अग-चूलिया, वंग-चूलिया, विवाह-चूलिया" इत्यादि अध्ययनो के नाम मिलते हैं, परन्तु "वग-चूलिया" अथवा "वक-चूलिका" यह नाम कही भी नही मिलता। मालूम होता है कि विक्रमीय सत्रहवी शती के अन्त मे लुकागच्छ के जिन वाईस साधुओ ने मुहपत्ति बाधी और मलीन वस्त्र धारण-द्वारा लुकागच्छ का पुनरुद्धार किया था, उन्ही क्रियोद्धारक वाईस पुरुषो को लक्ष्य मे रखकर यह कल्पित अध्ययन किसी जैन विद्वान् द्वारा रचा गया है। इसमे

लिखी हुई बातों का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है केवल मूर्तिपूजा के विरोधियों को नीचा दिखाने की नियत से ही यह प्रध्ययन गढ़ा गया है।

(६) आगम अष्टोत्तरी

यह एक सौ आठ संग्रहीत गाथाओं का सन्दर्भ है। संग्रहकार ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों की गाथाओं द्वारा अपने मन्तव्य का समर्थन किया है और इसका कर्ता नवांग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरिजी को बताया है। वास्तव में इस संग्रह के कर्ता कोई अज्ञात विद्वान् हैं। अपने मन्तव्य को प्रामाणिक ठहराने के लिए उसके साथ अन्य प्रामाणिक आचार्य का नाम जोड़ देना ठीक नहीं।

(७) प्रश्न-व्याकरण

जैन-सम्प्रदायमान्य वर्तमान एकादशांग सूत्रों में दशवां नम्बर प्रश्न-व्याकरण" का है।

प्रश्न-व्याकरण' में समवायांग सूत्र' के कथनानुसार प्रश्नोत्तर शत पृष्ठ व्याकरण प्रश्नोत्तर शत अपृष्ट व्याकरण और प्रश्नोत्तर शत पृष्टापृष्ठ व्याकरण पूर्वकाल में वर्णित थे। इसके अतिरिक्त दर्पण (अङ्गुष्ठ) प्रश्न अंगुष्ठ प्रश्न असि प्रश्न मणि प्रश्न आदि अनेक प्रश्न विषयक ज्ञान और उनके अधिष्ठायक देवताओं का निरूपण था। उनके द्वारा त्रिकालवर्ती बातों का पता लगाया जाता था परन्तु ये सब भूतकाल की बातें हैं। आज के 'प्रश्न-व्याकरण' में पांच आस्रवों और पांच संवरों का निरूपण है। इसकी भाषा भी परिमार्जित और काव्यशैली की है। इससे ज्ञात होता है कि 'प्रश्न-व्याकरण का यह परिवर्तन बहुत प्राचीन है। सम्भवतः यह परिवर्तन अन्तिम पुस्तकारूढ़ होने के पहले का है।'

प्राचीन चूर्णिकार इसके मूल विषय का निरूपण करने के बाद कहते हैं—

: प्रश्न-व्याकरण में पहले इस प्रकार का विषय था परन्तु काल तथा मनुष्य स्वभाव का विचार कर पूर्वाचार्यों ने उक्त विषय को हटाकर

उसके स्थान पर वर्तमान "आस्रवसवरात्मक" विषय को कायम करके दसवें अग का अस्तित्व कायम रखा।"

सस्कृत-टीकाकार आचार्य श्री अभयदेव सूरिजी भी उक्त बात का ही सकेत करते हैं। इससे इतना जाना जा सकता है कि "प्रश्नविद्यामय" प्रश्न-व्याकरण सूत्र नष्ट नही हुआ, किन्तु गीतार्थ आचार्यों ने इसका विषय बदल दिया है, जिससे कि भविष्य काल मे इससे कोई हानि न होने पावे।

(८) गच्छाचार-पइन्नय :

विक्रम की चौदहवी अथवा पन्द्रहवी शताब्दी मे किसी सुविहित आचार्य ने महानिशीथ, कल्प भाष्य, व्यवहार भाष्य आदि की गाथाओ का सग्रह करके "गच्छाचार पयन्ना" नामक पइन्नय का सर्जन किया है। इस पइन्नय का निर्माण उस समय के प्राचीन गच्छो मे चलते हुए शिथिलाचार और अनागमिकता का खण्डन करना है। इसमे सग्रहीत भाष्यो की गाथाओ के सम्बन्ध मे तो कुछ कहना नही है, परन्तु "महानिशीथ" से उद्धृत गाथाओ का अधिकाश वर्णन अतिरजित है। कई बातें तो आगमोत्तीर्ण भी दृष्टिगोचर होती हैं। यह सब होते हुए भी यह "पइन्नय" तत्कालीन साधुओ मे शैथिल्य किस हद तक पहुच गया था, इस बात को जानने के लिए एक उपयुक्त साधन है।

तपागच्छ के आचार्य श्री हेमविमल सूरिजी के शिष्य विजयविमल ने जो "वानर्षि" नाम से भी प्रसिद्ध थे, "गच्छाचार पयन्ना" पर एक साधारण टीका बनाई है, इससे भी ज्ञात होता है कि "गच्छाचार पइन्नय" विक्रम की १४वी १५वी शती के लगभग की कृति होनी चाहिए, पहले की नही।

(९) विवाह-चूलिया :

मूर्ति मानने वाले विद्वानो ने मूर्ति नही मानने वाले लुकागच्छ के साधुओ के विरुद्ध "वग-चूलिया" अध्ययन की रचना की, तब किसी स्थानकवासी साधु ने "विवाह-चूलिया" का निर्माण कर "वग-चूलिया"

का उत्तर दिया। 'विवाह-चूलिया' में चैत्य मानने वाले तथा उपधा आदि तपोविधान कराने वाले साधुओं का खण्डन किया है। 'विवाह चूलिया' हिन्दी भाषान्तर के साथ छपकर प्रकाशित हुए कोई पचास वर्ष हुए होंगे, फिर भी स्थानकवासी वर्गों में इसका सार्वजनिक प्रचार नहीं किया पर इनके घरों तथा पुस्तकालयों तक ही 'विवाह-चूलिया" पहुंची है। यही कारण है कि हमारे सम्प्रदाय के विद्वानों तथा लेखकों को उक्त चूलिका प्राप्त न हो सकी।

(१०) धर्म-परीक्षा :

'धर्म-परीक्षा' नामक दो ग्रन्थ हमने पढ़े हैं जो पौराणिक बातों के खण्डन में लिखे गए हैं। पहली 'धर्म-परीक्षा" के लेखक हैं दिगम्बराचार्य "अमितगति" जो विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे। अब रही दूसरी 'धर्मपरीक्षा' इसके कर्ता प्रसिद्ध उपाध्याय धर्मसागरजी के शिष्य श्री पद्मसागर गणी थे। श्री अमितगति की धर्म-परीक्षा' का परिमाण १४०० श्लोक के आसपास है तब पद्मसागरीय "धर्म-परीक्षा का श्लोक परिमाण १२ के आसपास है। दोनों ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। हमने दोनों धर्म-परीक्षाएं' पढ़ी हैं और सावधानी से अन्वेषण करने पर मालूम हुआ है कि पद्मसागर गणी की धर्म-परीक्षा' अमितगति आचार्य की 'धर्म-परीक्षा' का ही संक्षिप्त रूप है। आदि मध्य के तथा ग्रन्थ भर में से भिन्न-भिन्न श्लोकों को निकाल कर गणीजी ने अमितगति आचार्य की कृति को ही अपने नाम पर चढ़ा दिया है। इतना करने पर भी वे इस कृति का दिगम्बरीयत्व नहीं मिटा सके यह आश्चर्य की बात है। पाँच पाण्डवों की दिविध-भक्ति जिनदेव के निर्मूल अष्टापद दोनों में 'क्षुद् अभाव" रूप दोष आदि दिगम्बर सम्प्रदाय सम्मत अनेक बातें आज भी इस पद्म सागर की कृत्रिम कृति में दृष्टिगोचर होती हैं। इस प्रकार पद्मसागरजी ने "परस्य काव्यं स्वमिति ब्रुवाणो विज्ञायते चौरिह काव्यचौरः" इस साहित्यिक उक्ति के अनुसार साहित्यिक चौर्य का अपराध किया है इसमें कोई शंका नहीं।

(११) प्रश्न-पद्धति :

"प्रश्न-पद्धति" नामक एक छोटा ग्रन्थ मुद्रित होकर कुछ वर्षों पहले प्रकाशित हुआ है। इसका कर्ता "हरिश्चन्द्र गणी" को टाइटल पेज पर बताया है। ग्रन्थ के भीतर लेखक अपने आपको "नवाङ्ग वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरिजी का शिष्य बताता है।" "भगवती" आदि सूत्रो के नाम लेकर वह लिखता है—"मेरे गुरु भगवती सूत्र की टीका मे यह कहते हैं" एक जगह ही नही अनेक स्थानो पर इन्होने अपने को अभयदेव सूरि का शिष्य होने की सूचना की है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस पद्धति को पढ़ने पर हमे निश्चय हुआ कि इस पद्धति का लेखक विक्रम की १५वी शती से पहले का व्यक्ति नही है। अमुक व्यक्तियो के नामोल्लेख किये है। उनके नामो के साथ जो गोत्र लिखे हैं, वे १५वी सदी के पूर्व के नही हो सकते। लेखक किस गच्छ का है, यह निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। फिर भी भगवान् महावीर के गर्भापहार के सम्बन्ध मे अपना जो अभिप्राय व्यक्त किया है, उससे इतना निश्चित कहा जा सकता है कि "प्रश्नपद्धतिकार खरतरगच्छीय" नही था। "पद्धति' मे अनेक प्रश्नो के उत्तर "अनागमिक" होने से जाना जाता है कि लेखक योग्य विद्वान् नही था और न "प्रश्न-पद्धति" ही प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने वालो ने कोई उपयोगी कार्य नहीं किया है, ऐसी हमारी मान्यता है।

(१२) पूजा-प्रकीर्णक (पूजा पइन्नय)

एक शहर के पुस्तक भण्डार में रहा हुआ "पूया पइन्नय" नामक प्राकृत गाथाबद्ध प्रकरण हमने देखा। उसमे लिखा गया है कि सवत् १६२ के ज्येष्ठ शुक्ला ५ वार शुक्र को राजा चन्द्रगुप्त ने प्रतिष्ठा करवाई। इस जाली लेख से हमारा कुतूहल बढ़ा और प्रकरण की सब गाथाएँ पढ़ ली। "प्रकीर्णक" की प्राकृत भाषा क्या है, प्राकृत पदो को खीचतान कर गाथाओ का रूप दिया है। महाकवि बाणभट्ट की "हठादाकृष्टाना कतिपयपदाना रचयिता" इस उक्ति को चरितार्थ किया है।

पूजा के प्रसंग पर लेखक ने जाई जूही चमेली गुलाब आदि वर्तमान कालीन पुष्पों की एक बड़ी सी नामावलि लिख दी है। प्रतिष्ठा विधि' के साथ 'वार' शब्द का प्रयोग पुष्पावलि में "गुलाब' आदि नामों का प्रयोग इत्यादि बहुत सी बातों को देखकर हमारे हृदय में यही निर्णय हुआ कि किसी साधारण पढ़े लिखे आदमी ने इन शब्दों का सन्दर्भ बना दिया है जिसमें विद्वत्ता का तो अभाव है ही साथ में ऐतिहासिक ज्ञान का भी लेखक ने अपने ही शब्दों से अभाव सूचित कर दिया है। इस 'पइन्नय के सम्बन्ध में हमारा निश्चित मत है कि किसी बीसवीं सदी के व्यक्ति ने इस 'पइन्नय' द्वारा मूर्ति-पूजा विरोधियों को मूर्ति-पूजा मनाने की चेष्टा की है जो सफल नहीं हुई।

(१३) वन्दन प्रकीर्णक (वन्दरण-पइन्नय)

'वन्दन पइन्नय' भी कतिपय प्राकृत गाथाओं का सन्दर्भ है। इसके लेखक ने इसको भद्रबाहु स्वामी की कृति बताया है पर वास्तव में 'पूजा पइन्नय" और 'वन्दरण-पइन्नय" ये दोनों एक ही लेखक के सन्दर्भ है ऐसा इनके निरूपण से प्रतीत होता है। 'देववन्दरण पइन्नय' में लेखक ने देव वन्दन की विधि का निरूपण किया है इसमें से चतुर्थ स्तुति का प्रसंग हटा दिया है। इससे ज्ञात होता है कि यह पइन्नय" किसी 'त्रिस्तुतिक' लेखक की कृति होना चाहिए।

"पइन्नय' की भाषा बिल्कुल लचर और खींचतान कर जोड़े हुए पदों का भान कराती है। वास्तव में यह 'पयन्ना' तथा इसके पहले का 'पूयापयन्ना' ये दोनों बीसवीं शताब्दी की कृतियां हैं जिन्हें प्राचीन ठहराने की गरज से श्रुतधर श्री भद्रबाहु स्वामी के नाम पर चढ़ाकर लेखक ने उनका अपमान किया है।

(१४) जिनप्रतिमाधिकार २

'जिनप्रतिमाधिकार नामक दो ग्रन्थ हमारे शास्त्रसंग्रह में संग्रहीत हैं। दोनों हस्तलिखित हैं। एक का पोथी नं ११ है और दूसरे का

न० ३११। इनमे से पहले प्रतिमाविकार के पत्र १९५ हैं तब दूसरे के पत्र १५५ है। पहले ग्रन्थ की श्लोक सख्या १२००० से भी अधिक है, तब दूसरे प्रतिमाधिकार की श्लोक सख्या ७००० के आसपास है। पहले ग्रन्थ की प्रति विक्रम सवत् १५८७ मे लिखी हुई प्राचीन प्रति के ऊपर से हमने स० १९९४ मे लिखवायी है, तब दूसरे प्रतिमाधिकार की प्रति पूज्य पन्यासजी महाराज श्री सिद्धिविजयजी (आचार्य विजयसिद्धि सूरिजी महाराज) द्वारा जोधपुर के एक यतिजी के भडार की प्रति के ऊपर से स० १९९५ मे एक सत द्वारा लिखवायी हुई है।

पहले प्रतिमाधिकार मे ५७१ कुल अधिकार हैं, जो सब के सब जिन प्रतिमापूजा से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रतिमाधिकार का लेखक कोई पश्चात्-कृत जैन श्रावक था, जो निम्नलिखित श्लोक से जाना जाता है—

"पश्चात् कृत द्रव्यलिंग, रामेण हि धर्माथिना।
तेनोद्धृतमिद शास्त्र, सर्वज्ञोक्त निरन्तरम् ॥१॥"

इस श्लोक मे लेखक ने स्वय अपने को पश्चात्कृत कहा है और अपना नाम 'राम' बताया है। खम्भात की प्रति हमने स्वय देखी है। इसके अन्त मे लेखक की पुष्पिका निम्न प्रकार से है—

"श्री सवत् १५८७ वर्षे अद्येह श्रीस्तम्भतीर्थ श्रीउसवसीय सोनी सोमकरी, सो 'सललित' सो सिंघराज लिखापित। लोकाना भव्याना बोधिलाभाय। शोध्य तदेतद्बुधै ॥"

ऊपर की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की प्रथम प्रति कर्त्ता श्री राम ने स्वय लिखाई है, इसीलिए विद्वानो को इसके सशोधन की प्रार्थना की गई है।

प्रथम प्रतिमाधिकार मूर्ति-पूजा की सिद्धि मे लिखा गया हैं। अतः इसकी चर्चा फिर कभी की जायगी।

द्वितीय प्रतिमाधिकार का विषय भी मुख्यतः मूर्ति-पूजा सम्बन्धी ही है, फिर भी इसमें उसके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों की चर्चा की गई है। इस प्रतिमाधिकार के लेखक ने अपना नाम कहीं भी सूचित नहीं किया है और इसमें दिये हुए सूत्र पाठ भी कई कल्पित मालूम हुए हैं। इस कारण से हम पहिले द्वितीय प्रतिमाधिकार के सम्बन्ध में ही कुछ लिखना उचित समझते हैं।

प्रतिमाधिकार नं० २ के लेखक ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी अपना नाम निर्देश नहीं किया। फिर भी इसके पढ़ने से इतना निश्चित हो सकता है कि यह सन्दर्भ वि० की १७वीं शती के पूर्व का नहीं है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम 'जिनप्रतिमाधिकार' है फिर भी इसमें अनेक बातों की चर्चा की है और उन्हें प्रमाणित करने के लिए अनेक सूत्र ग्रन्थों के पाठ दिये हैं। ग्रन्थकार ने जिन-जिन बातों की इस ग्रन्थ में चर्चा की है उनकी सूचना ग्रन्थ के प्रारम्भ में नीचे लिखे शब्दों में दी है—

श्रीजिनपूजा १ प्रतिमा २ प्रासाद ३ साधु-स्थापना ४ दान ५ साधर्मिक-वात्सल्य ६ पुस्तक-पूजा ७ श्री पर्युषण पर्व ८ मारात्रिक ९ मंगल प्रदीप १० प्रतिक्रमणाक्षराणि ११ श्री मूल सिद्धान्तोक्तानि लिख्यन्ते ॥

उक्त प्रकार से ग्रन्थकार ने ग्यारह बातों को सिद्ध करने के लिए शास्त्र के पाठ लिखने की प्रतिज्ञा की है। फिर भी इन बातों के उपरान्त भी अनेक विषयों की चर्चा की है परन्तु लेखक स्वयं एक भेदी-लेखक रहना चाहते हैं। इसका कारण यह मालूम होता है कि इस ग्रन्थ में अनेक प्रमाण ऐसे दिये गये हैं जो बताए हुए सूत्रों में नहीं हैं। केवल कल्पित प्रमाण तैयार करके इस संग्रह में लिख दिये हैं। लिखने वाले ने किसी प्रकार से स्वयं खुला न पड़ जाय इस बात की पूरी सावधानी रखी है। पढ़ने वालों को आभास यही हो कि लेखक कोई तपागच्छीय साधु है। लोगों की दृष्टि में अपनी इस होशियारी को सच्चा ठहराने के लिए प्रचित्त जल आदि की चर्चा में तपागच्छ के पक्षकार के रूप में खरतर

गच्छ वालो की मान्यताओ का खण्डन किया है। अचल-गच्छ वालो को जमालि-परम्परा मे बताया है। कतिपय तपागच्छ की मान्यताओ का समर्थन भी किया है। इतनी होशियारी करने पर भी इस सग्रह के विषयो की गहराई मे उतर कर वास्तव मे लेखक किस गच्छ-सम्प्रदाय को मानने वाला है, इसका पता लगाया जा सकता है। प्रस्तुत सग्रहकार ने अपने सग्रह का नाम "जिनप्रतिमाधिकार" दिया है, फिर भी यह सग्रह हमारी दृष्टि मे भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के पाठो का सग्रह मात्र बना है, ग्रन्थ के रूप मे व्यवस्थित नही। प्रारम्भ की पक्तियो मे लेखक ने जिन-जिन विषयो का निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है, उनमे से प्रथम विषय जिन-पूजा की चर्चा ग्रन्थ के २६मे पत्र में पूरी होती है। तब साधु-स्थापना, दान स्थापना, साधर्मिक वात्सल्य स्थापना, और पर्युषणा–इन चार विषयों का थोडा-थोडा निरूपण करके इन्हे जिन-पूजा के अन्तर्गत ही कर दिया है। इतना ही नही बल्कि दूसरी भी पचासो बातो की चर्चा की है, जिनका प्रारम्भिक सूचन मे निवेदन नही है। इतना ही नही, परन्तु प्रारम्भ मे सूचित विषयो के साथ सम्बन्ध तक नही है, अस्तु।

अब हम प्रारम्भ मे सूचित विषयो के सम्बन्ध मे कुछ ऊहापोह करेगे। लेखक ने जिन विषयो के समर्थन मे सूत्रो के प्रमाण देने की प्रतिज्ञा की है, उनमे श्री जिनपूजा, जिनप्रतिमा, जिनप्रासाद, दान, साधर्मिक वात्सल्य, पुस्तक पूजा और पर्युषणा पर्व, इन सात बातो को लोकाशाह मत के अनुयायी प्रारम्भ मे नही मानते थे, इसलिए मुख्यतया लोकामत के खण्डन मे प्रस्तुत पाठ सग्रह किया है। १. आरात्रिक, २ मगल प्रदीप और ३ श्रावक प्रतिक्रमण इन बातो को अचलगच्छ वाले उस समय नही मानते थे, तब साधु-सस्था को न मानने वाले कडुवाशाह के अनुयायी थे। लोका तथा कडुआ मत की स्थापना विक्रम की सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे हुई थी, तब आचलगच्छ जो विधि-पक्ष के नाम से भी परिचित था और विक्रम सवत् ११६९ मे स्थापित हुआ था। इनके सस्थापक आचार्य आर्यरक्षित थे, कि जिनका जन्म आबु पर्वत की दक्षिण-पश्चिमीय तलहटी से लगभग आठ माइल पर अवस्थित "दताणी" गाव

में हुआ था। आर्यरक्षितजी के अनुयायियों ने 'दताणी' का नाम 'दताणी' यह अपने लेखों में दिया है। प्रस्तुत संग्रह अचलगच्छ, लुंका गच्छ और कडुआगच्छ इन तीन गच्छों की मान्यता का खण्डन करने वाला होने से इस ग्रन्थ का लेखक उक्त तीन सम्प्रदायों का अनुयायी नहीं है यह निश्चित मान लेना चाहिए।

संग्रहकार ने एक स्थान पर श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराने का खंडन किया है और लिखा है कि श्रावक प्रतिष्ठा नहीं करा सकता। पौर्णमिक गच्छ वालों का मन्तव्य है कि जिन प्रतिष्ठा द्रव्यस्तव होने के कारण साधु नहीं कर सकता' यह कर्त्तव्य श्रावक का है परन्तु प्रस्तुत प्रतिमाधिकार में श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराने का खण्डन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'प्रतिमाधिकार' ग्रन्थ पौर्णमीयक विद्वान् की भी कृति नहीं है। अब रहे तपागच्छ और खरतरगच्छ, इन दो में से किस गच्छ के अनुयायी की यह कृति होनी चाहिए। इसका निर्णय इसमें लिखे हुए विषयों की परीक्षा करने से ही हो सकता है। प्रारम्भ में लेखक ने जिन विषयों का नामोल्लेख किया है उनके अतिरिक्त अनेक बातों की चर्चा इसमें भरी पड़ी है और प्रमाण के रूप में ग्रन्थों के पाठ भी अनेक दिये हैं। इन पाठों की जांच-पड़ताल से लेखक का निर्णय होना कोई बड़ी बात नहीं है।

जिनप्रतिमाधिकार नं॰ २ के पत्र १५ में निम्न प्रकार की अंचल गच्छ के आचार्यों की पट्टपरम्परा दी है—

'अमास्यगमये १२१४ आर्यरक्षित १ जयसिंह २ धर्मघोष ३ महेन्द्रसिंह ४ सिंहप्रभ ५ अजितसिंह ६ देवेन्द्रसिंह ७ धर्मप्रभ ८ सिंहतिलक ९, महेन्द्रप्रभ १ मेरुतुंग ११ जयकीर्ति १२ जयकेसरी १३। स्तमिकगणनीया' ॥

उक्त पट्टावली के आचार्यों को अमासि के अन्वय में लिखने के कारण अन्त में 'स्तमिक गणनीया'" ये शब्द लिखने पड़े हैं जिनका अर्थ है— इनको आंचलिक गिनना चाहिए। अन्तिम आचार्य जयकेसरी का स्वर्गवास

विक्रम सवत् १५४२ मे हुआ था। इससे जाना जाता है कि यह पट्टावली श्री जयकेसरी सूरि की विद्यमानता मे लिखी होगी। फिर भी इस पर हम अधिक विश्वास नही कर सकते, क्योकि इसी ग्रन्थ के पत्र ६ठे मे "सवत् १५८० वर्षे वैशाख वदि १३ सौमे" विना प्रसग के इस प्रकार सवत् लिखा हुआ मिलता है और उपर्युक्त अचलगच्छ की पट्टावली भी इसी प्रकार विना सम्बन्ध और प्रसग के लिखी गई है। सभवत लेखक ने अचलगच्छ के आचार्यों को जमालि के वशज खिलने से अचलगच्छ वालो का "तपागच्छ" वालो पर शक जायगा, क्योकि पहले भी तपागच्छ के विद्वानो ने 'श्राद्धविधि-विनिश्चय' आदि ग्रन्थो मे पौर्णमिक, आचलिक, आगमिक, खरतर आदि गच्छो की उत्पत्ति लिखकर उनका खडन किया है। उसी प्रकार इस सग्रह के लेखक को तपागच्छ का विद्वान् मानकर अपना रोष उगलेंगे और खरा लेखक अज्ञात ही रहेगा। परन्तु लेखक की यह होशियारी गुप्त रहने के स्थान पर प्रकट हो गयी है, क्योकि तपागच्छ के प्राचीन विद्वानो ने अचलगच्छ के सम्बन्ध मे जहाँ कही लिखा है, वहाँ सर्वत्र अचलगच्छ का प्रादुर्भाव सवत् ११६९ मे ही होना लिखा है। केवल उपाध्याय धर्मसागरजी ने इसके विपरीत स० १२१४ का उल्लेख किया है। खरतरगच्छीय ने जिस भी पट्टावली मे अचलगच्छ की उत्पत्ति लिखी है, वहाँ सर्वत्र समय १२१४ लिखा है, जो प्रस्तुत पट्टावली लिखने वालो ने लिखा है। इस परिस्थिति मे प्रस्तुत "जिन-प्रतिमाधिकार" लिखने वाला व्यक्ति तपाच्छीय हो सकता हैं अथवा खरतरगच्छीय इस बात का पाठक स्वय विचार कर सकते हैं।

"प्रतिमाधिकार" के पत्र ३६ मे काञ्जिक आदि जल लेने न लेने की वडे विस्तार के साथ चर्चा की है और खरतरगच्छ वाले काँञ्जिक जलादि न लेने की जो बात कहते हैं उस बात का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। उनके ग्रन्थ के शब्द नीचे दिये जाते हैं—

"ये तु श्री आगममध्यस्थानप्रोक्तकाजिकजलग्रहणेऽनतकायविराधनामुद्भावयति ते आगममार्गपराङ्मुखा जिनाज्ञाविराधका. सर्वथा साद्धूरपकर्णनीया इति, तथा केचिच्च काजिकादिजलग्रहणाशक्तौ जिनकल्पिकानामे-

तानि पानीयानि इति प्ररूपयंति परं ते वितथप्ररूपका प्रमाण्यवचनमाश्रितत्त्वात्। दशवैकालिक-श्रीकल्पादौ स्थविरकल्पिकानां कांजिकनीरविधेस्पष्टमेव सुतरां भणनात्।

ऊपर का कथन तपागच्छ वालों की मान्यता को लक्ष्य में लेकर किया गया है। विक्रम की १४वीं शताब्दी में तपागच्छ और खरतरगच्छ के बीच साधुओं के ग्राह्य-पेय अचित्तजलों के सम्बन्ध में बड़ा संघर्ष चल पड़ा था। सूत्रोक्त धावन जल धीरे धीरे अदृष्ट हो गए थे। उस समय तपागच्छ के आचार्यों का उपदेश था कि शास्त्रोक्त धावन जल मिल जाये तो लेना अच्छा ही है। परन्तु आजकल इस प्रकार के प्रासुक जल प्रायः दुर्लभ हो गए हैं। अतः अचित्तभोजी श्रावक श्राविकाओं को उष्ण किया हुआ ही जल पीना चाहिए और साधुओं को भी शुद्ध उष्ण जल ही देना चाहिए। इसके सामने खरतरगच्छ वालों का कहना यह था कि पानी उबालने में छः जीवनिकाय का आरम्भ होता है। अतः साधु को इस प्रकार का उपदेश न देना चाहिए और न जैन श्रावक को अपने लिये भी जल उबालने का आरम्भ करना चाहिए। कत्थे का चूर्ण तथा त्रिफलादि का चूर्ण जल में डालने से जल अचित्त हो जाता है तो अग्निकाय का आरम्भ कर त्रसादि छः काय की विराधना क्यों करना चाहिए? 'तपोटमत कुट्टन' प्रकरण में आचार्य जिनप्रभ सूरि ने उक्त प्रकार की युक्तियों से गर्म पानी का जोरों से खण्डन किया है।

हमारा यह कथन कोई निराधार न समझ ले इसलिए हम यहाँ नीचे 'तपोटमतकुट्टन' तथा 'प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत् शतक' नामक दो ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत करते हैं। 'तपोटमतकुट्टन' में आचार्य जिनप्रभ सूरि लिखते हैं—

> 'वर्णान्तरादिप्राप्तं सत् प्रासुकं यत् श्रुते स्मृतम्।
> त्यक्त्वारि वारि शिशिरं तदपि प्रतिषेधिनाम् ॥३२॥
> अप्कायमात्रहिंसोत्थं निरस्य प्रासुकोदकम्।
> प्राकपि गृहिणामुष्णं वा षट्कायोपमर्दजम् ॥३३॥"

अर्थात् शास्त्र मे वर्णान्तरादि प्राप्त जल को प्रासुक कहा है, परन्तु तपोटो ने व्रती तथा गृहस्थो के लिए उसका निवारण किया और अप्काय-मात्र की हिंसा से जो जल प्रासुक होता था, उसके स्थान मे छः जीव-निकाय के उपमर्दन से तैयार होने वाले उष्ण जल की गृहस्थो के सामने प्ररूपणा की। आचार्य जिनप्रभ का सत्ता समय विक्रम की १४वी शती है, परन्तु उसके सैकडो वर्षो के पहले से खरतरगच्छ के उपदेशक उष्ण जल का विरोध और काथकसेलकादि से अचित्त होने वाले जल की हिमायत करते रहे हैं। देखिये श्री उ० जयसोम गणी विरचित "प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत् शतक" का निम्नलिखित पाठ—

"अम्हारइ सम्प्रदायि उन्हा पाणी ना मेल थोडा, गृहस्थ फासु वर्णान्तर प्राप्त पाणी सहू पीयई, अनइ यति पण अेहना अे फासूजि पाणी पीयई, एहजि ढाल छई, इम कनता जइ यति उन्हा पाणी पीता हवई तउ अम्हारइ काजि 'अपउल दुपउल' नामइ उन्हा करीनइ गृहस्थ यतिनइ उन्हा पाणि आपतजि, पर इणजि मेलि चित्तमाहि निरवद्य उन्हा पाणि यतिनइ दोहिला जाणीनइ अम्हारिगीतार्थे जे सचित्त परिहारी गृहस्थ पीयइ तेहजि प्रासुक पाणी यतिनइ वावरिवा भणी प्रवर्तीयउ ते भणी उन्हा पाणी त्रिदण्डोत्कालित-अणसणमाहि समाधि निमित्त वर्णान्तर प्राप्तजि पाणी पाईयइजि॥"

उपर के लेख मे अनशन करने वाले साधु गृहस्थ को भी वर्णान्तर प्राप्त शीतल जल पाने की बात कही है। परन्तु अनशन किये हुए यति गृहस्थ को वर्णान्तर प्राप्त पानी पाना हमारी समझ मे अच्छा नही होता, क्योंकि तीन उपवास के ऊपर के विकृष्ट तप करने वाले साधु को भी केवल उष्ण जल पीने की कल्प-सूत्र मे आज्ञा दी है, तब अनशन करने वाले साधु गृहस्थो को वर्णान्तर प्राप्त जल पीना शास्त्रीय दृष्टि से ठीक है या नही, इस बात पर खरतरगच्छ के विद्वानो को अवश्य विचार करना चाहिए।

उस समय खरतरगच्छीय साधु लोग अपने अनुयायी श्रावक श्राविकाओ को कषायले पदार्थों से अचित्त पानी पीने का नियम कराते थे।

इसका परिणाम यह आया कि जहाँ खरतरगच्छ के साधु-साध्वी विचरते थे, उस मारवाड़ के प्रदेश की तरफ तपागच्छ के साधुओं को गर्म जल मिलना दुर्लभ हो गया और जल सम्बन्धी कष्ट को ध्यान में लेकर तपागच्छ के आचार्य श्री सोमप्रभ सूरिजी को अपने गच्छ के साधु साध्वियों को मारवाड़ में विहार न करने की आज्ञा निकालनी पड़ी। कई वर्षों तक तपागच्छ के साधु साध्वियों का विहार मारवाड़ में नहीं हुआ। इस प्रकार की पानी सम्बन्धी परिस्थिति को ध्यान में रखकर पाठकगण उपर्युक्त फिकरा पढ़ेंगे तो सामान्य आभास यही मिलेगा कि इसका लेखक कोई तपागच्छीय व्यक्ति है परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। लेखक तपागच्छीय न होने पर भी तपागच्छीय का रूप धारण कर अंचल खरतर आदि गच्छों के विपरीत लिख रहा है। इसका कारण मात्र यह है कि *इसमें कतिपय खरतरगच्छीय मान्यताओं को प्रामाणिक मनाने के भाव से* जो कल्पित शास्त्रपाठ प्रमाण के रूप में दिये हैं वे सत्य मान लिये जाएँ। परन्तु होशियारी करते हुए भी लेखक के हृदय के उद्‌गार कहीं कहीं प्रकट हो ही जाते हैं। इस प्रासुक जल सम्बन्धी प्रकरण में ही देखिए। शर्करा द्वारा अचित्त किया हुआ जल और काथ-कसेलक इन दो पानियों के मुका बिले में निम्न प्रकार से अपना आशय व्यक्त करते हैं—

'सितापानीयं स्वल्पसितामध्यक्षेपणेन कल्पते किंतु बहुसितास्वाद संभवे एव तच्च जनैः पित्तोपघातये बहुसितायोगेनैव विधीयते अन्यथा पित्तोपशमनकार्यासिद्धेः काथकसेल्लकादि नीरं स्वल्पचूर्णेनापि क्रियते जनैः ।। भावेन बाहुल्येन क्रियते अतो न तयोः साहस्य ।।

ऊपर के फिकरे में लेखक ने शर्करा जल और काथ कसेल्लादि जलों में शर्करा जल को छोड़कर काथ कसेल्लकादि जल को सुलभ प्रार स्वाभाविक मानकर इसको महत्त्व दिया है। परन्तु यह भावना खरतरगच्छ के *अनुयायी की ही हो सकती है तपागच्छ के अनुयायी की नहीं,* क्योंकि तपागच्छ के आचार्य काथ-कसेल्लकादि जल का प्रथम तो प्रासुक मानने में ही शंक थे क्योंकि काथ कसेल्लकादि चूर्णों की अल्प मात्रा से भी जल का वर्ण बदल सकता है। परन्तु इतनी अल्प मात्रा जल को प्रासुक करने

मे समर्थ हो सकती है या नही इस विषय मे तपागच्छ के आचार्य निश्शक नही थे। क्योकि शास्त्र मे लिखा है कि मधुर रस वाला पदार्थ जल को देरी से अचित्त बनाता है और वह जल जल्दी सचित्त बन जाता है। इस दशा मे क्वाथ कसेल्लाकादि के जल की तरफदारी करने वाला लेखक तपागच्छ का हो सकता है या खरतरगच्छ का? इस बात का पाठकगण स्वय निर्णय करले।

जल के सम्बन्ध मे ही लेखक आगे एक प्रश्न करके जल सम्बन्धी चर्चा को आगे बढाता है—

"ननु तडुलादिधावन किमिति निशिर्न पीयते? उच्यते-पूर्वपरम्पराप्रामाण्यात्, न पुनरत्र जलत्वेन यथा हि खरतराणा शर्कराजलेक्षुरसो, आचलिकाना च तक्र भुक्त्वोत्थितै साध्वादिभि प्रत्याख्यानेऽपि कारणे सति दिवा पीयते निशि न, तथा धावनमपि दिवा पीयमानमपि निशि न पीयते इति ब्रूम, निशि हि मुख्यवृत्या श्राद्धानामपि चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानमेवोक्तमस्ति, यदि च जातु ते तत् कर्तु न शक्नुवन्ति तदा तेषा पूर्वाचार्यैरेकमुष्णोदकमेवानुज्ञात कारणे ॥"

ऊपर के फिकरे मे लेखक खरतर तथा अचलगच्छ के अतिरिक्त अन्य गच्छीयपन का ढोग कर प्रश्न करता है कि जब तुम तन्दुलादि धावन की हिमायत करते हो तो रात्रि के तिविहार-प्रत्याख्यान मे तन्दुलादि धावन जल क्यो नही पीने देते और उष्ण जल पीने का उपदेश क्यो करते हो? इसके उत्तर में वह कहता है, इसमे पूर्वाचार्यों की परम्परा ही प्रमाण है। जिस प्रकार खरतरगच्छ मे शक्कर का पानी तथा इक्षु रस और अचलगच्छ मे छाछ भोजन कर उठने के बाद साधु आदि प्रत्याख्यान मे भी कारणवश दिन मे पीते हैं, रात्रि मे नही। इसी प्रकार दिन मे पिया जाता तन्दुल धावन भी रात्रि मे नही पिया जाता है। श्रावको को भी मुख्य वृत्ति से रात्रि मे चतुर्विधाहर का प्रत्याख्यान करना कहा है, फिर भी जो चतुर्विधाहार का प्रत्याख्यान कर न सके तो उसके लिए पूर्वाचार्यों ने कारण विशेष मे एक उष्ण जल पीने की आज्ञा दी है।

उपर्युक्त फिकरे में खरतरगच्छ और अंचलगच्छ के साधुओं का दृष्टान्त देकर लेखक ने अपने आप को उपर्युक्त दो गच्छों से भिन्न किसी गच्छ का अनुयायी बताने की चाल चली है परन्तु इस चाल से भी अपने गच्छ को गुप्त नहीं रख सकेगा क्योंकि इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे कल्पित पाठों के प्रमाण दिये हैं, जो लेखक के गच्छ को प्रकट किये बिना नहीं रहेंगे।

'प्रतिमाधिकार' के ५८वें पत्र में महानिशीथ का एक पाठ दिया है जो नीचे लिखा जाता है—

'बारवईए नयरीए अरिट्ठ नेमिसामी समोसरिओ तत्थ कण्हो वागरेइ भयवं तिन्निसयसट्ठाणं दिवसाणं मज्झे एगं उक्किट्ठ दिवसं साहेह, गुरुणा कहा ? मगसिर सुदिएकारसी दिवसं पन्नासजिणकल्लाणगाणं दिणं भण्णइ, तम्हा समणेण वा समणीइ वा सावएण वा साविआइ वा तंमि दिणे विसेसओ धम्माणुट्ठाणं कायव्वं' —श्री महानिशीथे ॥

उपर्युक्त प्राकृत पाठ "महानिशीथ" में होने का लिखा है परन्तु यह पाठ महानिशीथ में नहीं है। महानिशीथ को हमने दो बार अच्छी तरह पढ़ा है। महानिशीथ में उपर्युक्त पाठ के विषय की सारे सूत्र में सूचना तक नहीं है न इस पाठ की भाषा ही महानिशीथ की है। किन्तु ३०० ४०० वर्ष के भीतर की यह भाषा स्वयं बता रही है कि उक्त पाठ किसी ने नया बनाकर इस सग्रह में रख दिया है।

इसी प्रकार 'प्रतिमाधिकार' के ६४वें पत्र में आचार्य साधु और महत्तरा प्रवर्तिनी के प्रायश्चित्त का परिमाण महानिशीथ के ५वें अध्ययन में होना लिखा है जो गलत है। महानिशीथ में से निम्नोद्धृत पाठ लिखा है—

से भयवं आयरियाणं केवइयं पायच्छित्तं भवेज्जा ? जमेगस्स साहुणो तं आयरिय-महत्तरा-पवित्तिणीए सत्तरसगुणं, अहेणं सीलक्खलिए

भवन्ति तम्रो तिलक्खगुरा, तम्हा सव्वहा सव्वपयारेहिं ण आयरिम्र महत्तर-पवत्तणीहिं अखलिअसीलेहिं भव्वेअव्व"—महानिशीथ ५ अ० ॥

अर्थात्—"गणधर श्री गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं—हे भगवन् ! आचार्यो महत्तरो प्रवर्तनी को कितना प्रायश्चित्त हो ? एक साधु के लिए जो प्रायश्चित्त होता है, वही आचार्य, महत्तर और प्रवर्तनी इन तीनो के लिए १७ गुना प्रायश्चित्त होता है। यदि आचार्यादि तीन शील व्रत मे दोष लगाते है, तो साधु से तीन लाख गुना प्रायश्चित्त होता है। इस वास्ते सर्वथा और सर्व प्रकारो से आचार्य, महत्तरा और प्रर्वतिनी को अस्खलितशील होना चाहिए।

उपर्युक्त प्रायश्चित्त विषयक महानिशीथ का पाठ महानिशीथ के पचम अध्ययन मे नही आता। महानिशीथ के सातवें आठवें अध्ययनो मे कुछ प्रायश्चित्त अवश्य मिलते हैं, उन्ही मे उक्त प्रायश्चित्त है। शेष सभी अध्ययनो मे उपदेश और साधु-साध्वियो के दृष्टान्त भरे पडे हैं, प्रायश्चित्त नही।

जिनप्रतिमाधिकार न० २ के पत्र ७६ मे लेखक ने "पौषध" शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"पौषध पर्वदिनानुष्ठान तत्रोपवासोऽवस्थान पौषधोपवास. एषो द्वन्द्व, तैर्युक्ता इति गम्य चाउद्दसेत्यादि ॥"

अर्थात्—'पौषध' पर्वदिन के अनुष्ठान का नाम है, उसमे रहना उसका नाम है "पौषधोपवास" यहाँ पदो का आपस मे द्वन्द्व समास समझना चाहिए। यहाँ "पौषधोपवास" चतुर्दशी, अष्टमी आदि मे होता है इत्यादि ॥

जिनप्रतिमाधिकार का लेखक यदि "तपागच्छीय" होता तो "पौषधको" पर्वदिन का अनुष्ठान और चतुर्दशी अष्टमी आदि मे करने का अनुष्ठान नही लिखता, क्योकि तपागच्छ मे लगभग ५०० वर्षो से भी

पहले की मान्यता चली आती है कि पौषध पर्व अपर्व सभी दिनों में किया जा सकता है। तब खरतरगच्छीय मान्यता के अनुसार पौषध अष्टमी चतुर्दशी पूर्णिमा आदि पर्व तिथियों में ही किया जाता है अन्य तिथियों में नहीं। इस परिस्थिति में जिनप्रतिमाधिकार" का कर्ता खरतरगच्छीय होना चाहिए या तपागच्छीय इसका निर्णय पाठकगण स्वयं कर लेंगे।

जिनप्रतिमाधिकार' के ८५वें पत्र में लेखक ने सर्वार्थसिद्ध विमान में ६४ मन का मोती एक ३२ मन के चार इत्यादि मोतियों का वर्णन लिखा है और आगे जाकर बताया है कि पवन की लहर से पृथक-पृथक होकर ये मोती एक साथ मुख्य मोती से टकराते हैं तब वह विमान मधुर स्वर के नाद से भर जाता है और उस विमान में रहने वाले देव उस नाद में लीन होकर बड़े आनन्द के साथ ३३ सागरोपम का आयुष्य व्यतीत करते हैं। इस प्रकार की हकीकत 'सिद्धप्राभृत" प्रकीर्णक के नाम से लिखी गई है, वह मूल पाठ नीचे दिया जाता है—

सर्वार्थसिद्ध विमाने ? मुक्ताफलं ६४ मण प्रमाणं मलयाकारेणं ४ मुक्ताफलानि ३२ मण प्रमाणानि पुनरपि ८ मुक्ताफलानि १६ मण प्रमाणानि पुनरपि ४र्थ वलये ८ मण प्रमाणानि १६ पुनरपि ५म वलये ३२ मुक्ताफलानि ४ मण प्रमाणानि पुनरपि ६ष्ठ वलये ६४ मुक्ताफलानि २ मण प्रमाणानि पुन ७म वलये १२८ मुक्ताफलानि १ मण प्रमाणानि यदा वायुलहर्या पृथग् भूत्वा समकालं यथोक्तरीत्या मुख्य मुक्ताफले आस्फाल यंति तदा तद्विमानं मधुरस्वरनादाद्वैतमयं जायते तद्विमानवासिदेवास्त आदलीना अतीव सुखेन ३३ सागरायुषो गमयन्ति इति सिद्धप्राभृत प्रकीर्णक ॥

लेखक ने मुक्ताफलों वाली बात सिद्धप्राभृत" में से ली है ऐसा ग्रन्थ में सूचित किया है। परन्तु हमने सिद्धप्राभृत" में तो क्या उसकी टीका में भी उक्त मुक्ताफलों का सूचन तक नहीं देखा। जिनप्रतिमाधिकार लेखक ने उक्त हकीकत का अपने पास के 'सिद्धप्राभृत" की टीका में

प्रक्षेप कर दिया हो तो बात अलग है। आज तक हमने जो जैन-साहित्य का अवलोकन किया है, उसमे कही भी उक्त हकीकत दृष्टिगोचर नही हुई। हाँ, प० वीरविजयजी ने वेदनीय कर्म की पूजा मे उक्त हकीकत अवश्य लिखी है, परन्तु उसका मूलाधार आज दिन तक कही दृष्टिगोचर नही हुआ है।

इसमे पवन की लहरो से चलते हुए मोतियो के टकराने से मधुर नाद उत्पन्न होता है यह लिखा है। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि सर्वार्थ-सिद्ध मे इतनी जोरो की हवा चलती होगी क्या ? जो मण से लगाकर ३२ मण तक के वजन वाले मोतियो को हिला डाले और वे बिचले मोती के आस्फालन से मधुर नाद उत्पन्न करें ? शास्त्रो मे तो सामान्य रूप से विमानो को **घनोदधि, घनवात, अवकाशान्तर** प्रतिष्ठित लिखा है और सर्वार्थसिद्ध को **आकाशप्रतिष्ठित** कहा है। तब वहाँ इतना जोरो का पवन कहा से आता होगा, जो मोतियो को टकराकर मधुर नाद उत्पन्न कर सर्वार्थसिद्ध मे आनन्द उत्पन्न करता होगा। शास्त्रज्ञ जैन विद्वानो को इस बात पर गहरा विचार करना चाहिये। हमारी राय मे तो ६४ मण के मोती वाली बात अनागमिक है।

"जिनप्रतिमाधिकार" के ९१वे पत्र मे साधु-साध्वी को स्तव, स्तुति पूर्वक त्रैकालिक चैत्यवन्दन न करने मे प्रथम वार उपवास, दूसरी वार छेद, तीसरी वार उपस्थापना का प्रायश्चित्त लिखा है और अविधि से चैत्यवन्दन करने पर पाराचित प्रायश्चित्त का विधान किया है। इस प्रायश्चित्तविधान का मूल पाठ नीचे लिखते हैं—

"जे केइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पाव-कम्मे दिक्खादि अयहाण्पभतिइओ अणुदिअह जावजीवाभिग्गहेण सत्थे वीसत्थे भत्तिनिब्भरे जजु(हु)त्त विहीए सुत्तत्थमणुसरमाणे अणण्णमाणसेगग्ग-चित्ते तग्गयमाणससुहज्झवसाए थय-थुईहिं न ते कालिअ चेइयाइ वदिज्जा तस्स ण एगाए वाराए खवण पायच्छित्त उवइसिज्जा, बीआए छेअ, तइआए उवट्ठावण, अविहीए चेइआइ वदेतओ पारचिअ, अविहीए वदेमाणे अन्नेसि

मसढ सखएाइ इइ काळण" महानिशीथे शापूनां त्रिसंस्य देववन्दन विचार ॥

ऊपर का सूत्रपाठ लेखक ने महानिशीथ में होना लिखा है। यह पाठ महानिशीथ में उपलब्ध नहीं है और न इसमें सूचित प्रायश्चित्त ही महानिशीथ के अतिरिक्त अन्य किसी सूत्र में लिखा मिलता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ के उसी एकानवे पत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों के वर्णन का सूत्रपाठ दिया है जो यथार्थ नहीं है। तुंगिया नगरी के जैन श्रावकों का वर्णन भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के पांचवें उद्देशक में मिलता है। परन्तु उस वर्णन के और इसके बीच तो रात दिन का अन्तर है। यह वर्णन अधिकांश कल्पित और उपजाया हुआ है। इसमें जो श्रावकों के नाम दिये हैं वे भिन्न-भिन्न गाम-नगरों के रहने वाले थे जो यहाँ सब को इकट्ठा कर दिया है। पाठकों के कौतूहल निवृत्त्यर्थ प्रतिमा धिकार का वह पाठ नीचे लिख देते हैं—

"ते णं कालेणं २ जाव तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासगा परिवसंति-सखे सयगे सिलप्पवाले रिसिदत्ते दमगे पुक्खली निबिद्ध सुप्पइट्ठ भाणुदत्ते सोमिले नरवम्मे आणंदे कामदेवाइणो जे ये अन्नत्थ गामे परिवसंति महादित्ता विच्छिन्नविपुलवाहणा जाव लद्धट्ठा गहियट्ठा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं पालेमाणा निग्गंथाणं निग्गथीण फासुएसणिज्जेण असणं पडिलाभेमाणा चेइयालएसु तिसंझासमए चंदण-पुप्फ-धूप-वत्थाईहिं अच्चणं कुणमाणा जाव जिणहरे विहरंति से तेणट्ठे ण गोयमा जो जिणपडिमं पूएइ सो नरो सम्मद्दिट्ठी जाणियव्वो मिच्छादिट्ठिस्स नाणं न हवइ ॥

प्रतिमाधिकार के लेखक ने ऊपर जो तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन किया है वह कहां का पाठ है यह कुछ नहीं लिखा। इसका कारण यही है कि सूत्र का नाम देने से सूत्र के पाठ के साथ इस पाठ का मिलान कर पाठकगण पोल खोल देंगे। हम भगवती सूत्र के दूसरे शतक के

पचम उद्देशक मे तुगिया नगरी के श्रावको का जो वर्णन दिया गया है, उसे नीचे उद्धृत करते हैं। दोनो का मिलान करके पाठकगण देखे कि लेखक ने तुगिया नगरी के श्रावको के वर्णन मे अपने घर का कितना मसाला डाला है—

"तेण कालेण २ तुगिया नाम नगरी होत्था, वण्णओ, तीसे ण तुगिआए नगरोए वहिया उत्तरपुरिच्छिमे दिसिभाए पुप्फवतिए नाम उज्जाणे होत्था, वण्णओ, तत्थ ण तुगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसति-अड्ढा दित्ता विच्छिण्णविपुलभवण-सयणासणजाणवाहणाइण्णा, बहुधण-बहुजायरूवरयया, आओगपओगसपउत्ता विच्छड्डियविपुलभत्त-पाणा बहुदासीदासगोमहिसगवेलयप्पभूया बहुजणस्स अपरिभूया अभिगय-जीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा आसवसवरनिज्जरकिरियाहिकरण-बधमोक्ख-कुसला, असहेज्जदेवासुरनागसुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किंनर-किंपुरिस-गरुल-गधव्व-महोरगाइएहि देवगणेहि निग्गथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा, निग्गथे पावयणे निस्सकिया निक्कखिया निव्वित्तिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता, अयमाउसो! निग्गथे पावयणे अट्ठे; अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहा, अवगुयदुवारा चियत्ततेउरघरप्पवेसा, बहूहि सीलव्वय-गुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोव-वासेहि चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्न पोसह सम्म अणुपालेमाणा समणे निग्गथे फासुएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण वत्थ-पडिग्गह-कबल-पायपुछणेण-पीढ-फलग-सेज्जा-सथारएण-ओसहभेसज्जेण य पडिलाभे-माणा अहापडिग्गहिएहि तवोकम्मेहि अप्पाण भावेमाणा विहरति ॥१०६॥"

प्रतिमाधिकार के लेखक द्वारा दिये हुए तुगिया नगरी के श्रावको के वर्णन के साथ भगवती सूत्र के पाठ का कुछ भी सम्बन्ध नही है, यह पाठक स्वय समझ लेंगे।

भाष्य चूर्णि मे से निम्नलिखित पाठ दिया है—

"अनिस्सकड विहिचेइअ, आययण, आगमपरततयाए सुगुरूवएसेण सुसावगेहि नायज्जिअवित्तेण सपरहिआए परमपयसाहणनिमित्त आगमविहिणा

कारिम तं आययणं भण्णइ आययणे पुण इमो विही पवत्तइ-न उस्सुत्तजण-बहुमो साया न रयणीए जिणबिंबम्हाण न पइट्ठा न साहूण सम्मतं न चेइहरमज्झे मठाइसु सुसाहुसाहुणीणं निवासो न रत्तीए इत्थिमणप्पवेसो, न जाई-कुल-मइसग्गहो न सावयाणं जिणहरस्स मज्झे तंबोल-दाण-भक्खण न विगहा न कलहो न भरधिसा न रयणीए विलासिणीनट्ट न रत्ति जागरणं न सगुडरासवाणं पुरिसाणं पि न जलकीडा-सिंगार-हेडणाइ, न हिंडोलणो देवयाणं पि न महणं न संकंती न माहमाला न पाण-भोमण-मुत्त पुरीसमिट्ठवण-न्हाण-पायस्थमणाई न हास-कीस-करणं न हुड्डा न जुद्धं न जूमं न देवदव्वमक्खणं न परुप्परमच्छरो न सावयपइट्ठाकरणं न पहरणजुत्तस्स सावयजणस्स पविसणं न मणुचिय-गीय-वाईय-नट्ट च न उम्मग्गदेसणा करणं उम्ममाठियाणं वंदणाइ करणं न वुड्ढ वयणं धम्म पि गड्डरियपवाहपडियं आगम-आयरण-विरुद्ध दोस-बहुलं गुण-भायणं जत्थ न कीरइ तं आययणं गुणवुड्ढिकर तित्थयर-गणहरमयं सग्गापवग्ग कारणं अनाययणं नाण-दसण-चरण-गुणघायणं ठाणं मुक्कत्थि-सुसाहु साहुणि-सावय-साविमाजणवज्जणिज्जं विसुद्धभावेणं न पुण रागदोसेणं। व्यवहारचूर्णौ ।

अर्थ—लेखक ने उपर्युक्त पाठ व्यवहारभाष्यचूर्णि का होना बताया है। व्यवहार-भाष्य और उसकी टीका भी हमने पढ़ी है—

भाष्य में मिस्सकडममिस्सकड-चेइए सव्वहिं थुई तिण्णि ।
बेलं च चेइयाणि च नाउं इक्किक्किया वावि ॥

यह गाथा अवश्य आती है और इस प्रसंग पर निश्राकृत अनिश्राकृत मंगलचैत्य शाश्वत चैत्य आदि का शरीर में टीकाकार ने परिचय बताया है परन्तु आयतन अनायतन के सम्बन्ध में कोई निरूपण नहीं किया। व्यवहारचूर्णि हमारे पास नहीं है न हमने पढ़ी है। फिर भी चूर्णि में आयतन अनायतन के सम्बन्ध में इतना विस्तृत विवरण होता तो टीका कार आचार्य क्षेमकीर्ति सूरि ने भी आयतन की टीका अधिक विस्तार से करते परन्तु वैसा कुछ नहीं किया। दूसरी बात यह भी है कि प्राचीन

चूर्णियो की जो प्राकृत भाषा होती है उसके साथ उक्त पाठ की प्राकृत का कोई मेल नही मिलता। इससे निश्चित है कि व्यवहार-भाष्य की चूर्णि का नाम लेकर लेखक ने इस प्राकृत पाठ के सम्बन्ध मे असत्य भाषण किया है।

उपर्युक्त पाठ मे एक एक शब्द खरतरगच्छ वालो का अपना पारिभाषिक शब्द है। "विधिचेइय" अर्थात् "विधिचैत्य" के सम्बन्ध मे जिनवल्लभ गणि, जिनदत्त सूरि आदि ने जितना लिखा है उतना अन्य गच्छ के किसी भी विद्वान् ने नही लिखा। उस समय मे खरतरगच्छ के श्रावको की तरफ से जो जो जिनमन्दिर बनते थे उन सब को वे "विधि-चैत्य" कहते थे और विधि-चैत्यो मे वर्तन के लिए जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनपति सूरि आदि ने अनेक नियम बना डाले थे और उन नियमो के अनुसार ही खरतरगच्छ के अनुयायी चलते थे। खरतरगच्छ के आचार्यों की मान्यता थी कि जिनायतन आगम के अनुसार न्यायार्जित धन द्वारा श्रावको को बनवाना चाहिए, स्वपरहितार्थ और मोक्षपद के साधननिमित्त जो आगम विधि से बनाया गया हो उसी को "आयतन" कहना चाहिए। आयतन मे इस प्रकार की विधिप्रवृत्ति होती है—

"उसमे उत्सूत्र-भाषक लोगो का चलाया हुआ क्रम चालू नही रहता। वहा रात्रि मे जिनबिम्बो का स्नान नही होता, रात्रि मे प्रतिष्ठा नही होती, जिनचैत्य साधुओ के सुपुर्द नही किये जाते। जिनचैत्यो की हद मे बने हुए मठ आदि मे साधु साध्वी का निवास नही होता, रात्रि के समय मे स्त्री लोगो का मन्दिर मे प्रवेश नही होता, जाति, कुल आदि का दुराग्रह नही होता, जिनघर के अन्दर श्रावक को ताम्बूल नही दिया जाता, न खाया जाता। वहा विकथा नही होती, झगडा नही होता, घरकार्य सम्बन्धी बाते नही होती, मन्दिर मे रात्रि जागरण नही होता। पुरुष भी मन्दिर मे डडियो से नहीं खेलते, जल-क्रीडा नही होती, शृङ्गार तमाशा आदि नही होते। देवो के लिए भी हिंडोले नही होते, ग्रहण की रस्म नहीं होती

जाती, मांसमाला नहीं पहनी जाती जिनमन्दिर में खान-पान पेशाब-टट्टी थूकना स्नान पग धोना मालिश करना नहीं होता। न रहस्यजनक क्रीड़ा होती है न होड़ बदी जाती है न कुश्ती की जाती है न जुगार खेला जाता है न देव द्रव्य खाया जाता है। परस्पर एक दूसरे की ईर्षा नहीं की जाती न श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा कराई जाती है। किसी प्रकार के मानुष के साथ श्रावक चैत्य में प्रवेश नहीं कर सकता। अनुचित गीत वादित्र नृत्य नाटक नहीं होते। शास्त्र-विरुद्ध धर्मदेशना नहीं होती उन्मार्ग स्थित साधुओं को वन्दनादि नहीं किया जाता है विधिचैत्य में दुष्ट वचन नहीं बोला जाता दूसरा भी गड्डरिया प्रवाहपतित आगम और आचरणा से विरुद्ध लोपवर्द्धक और गुणघातक कार्य जहाँ पर न किये जाते हों उसे गुण वृद्धि करने वाला तीर्थङ्कर गणधर-सम्मत स्वर्गापवर्ग जनक 'आयतन' कहते हैं। ऊपर का सारांश खरतरगच्छ वाले ने निम्नलिखित पद्य से लिया है—

> "अत्रोत्सूत्र जनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा
> साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि।
> जाति-ज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि
> त्याज्ञात्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीजैनचत्यालये ॥"

आयतन से विपरीत ज्ञान दर्शन चारित्र के गुणों का घात करने वाला जो स्थानक हो उसको 'अनायतन' समझना चाहिए। मोक्षार्थी सुसाधु सुसाध्वी श्रावक श्राविका वर्गों के लिए अनायतन विशुद्ध भाव से वर्जनीय है, रागद्वेष के कारण से नहीं।

विधिचैत्य में वर्तने के लिए जिनवल्लभ गणी और जिनदत्तसूरिजी ने जो जो नियम संघपट्टक चर्चरी धर्मोपदेश रसायन कालस्वरूप कुलक आदि में लिखे हैं उन्हीं का प्रस्तुत प्राकृत पाठ में समावेश किया गया है। इस विषय में जिन सज्जनों को शंका हो व उक्त ग्रन्थों को पढ़कर के निर्णय कर सकते हैं कि मेरा कथन कहाँ तक ठीक है। इस प्रकार के कल्पित पाठों को अग्राम्य सूत्रों के नाम पर चढ़ाकर जिनप्रतिमाविचार के

सकलनकर्ता ने जो गर्हित प्रवृत्ति की है, इससे उनको कोई लाभ हुआ होगा, यह तो हम नही कह सकते। परन्तु इस प्रकार गुप्त नाम से ग्रन्थकार बनकर अमुक गच्छ वालो की आँखो मे धूल झोकने का प्रपञ्च करके अन्य निर्दोष कृतियो मे भी इसी प्रकार का कोई प्रपञ्च तो नही है? इस प्रकार पाठको को शकाशील बनाने का मार्ग चालू किया है जो जैन सघ मात्र के लिए घातक है। इस प्रकार पर्दे मे रहकर दूसरे गच्छीय बनकर अपने गच्छ की उन्नति देखने वाले केवल स्वप्नदर्शी हैं। ऐसे झूठे प्रपञ्चो से न कोई गच्छ उन्नत होगा, न जीवित ही रहेगा।

अन्त मे जिनप्रतिमाधिकार २ के लेखक ने अपना समय इरादापूर्वक गुप्त रखा है। इतना ही नही, बल्कि एक दो स्थानो पर तो उसने पाठको को भुलावे मे डालने का प्रयत्न भी किया है। वगैर प्रसग के ग्रन्थ के बीच मे अचलगच्छ की पट्टावली देकर आचार्य जयकेसरी तक पूरा करना, तथा एक स्थान पर सवत् १५८० का वर्ष लिखना इसका तात्पर्य यही है कि लेखक इस ग्रन्थ को विक्रम की सोलहवी शती की कृति मनवाना चाहते हैं, परन्तु उनकी यह मुराद पूरी नही होने पाई। कई स्थानो मे प्रयुक्त अर्वाचीन भाषा के शब्दप्रयोग तथा शास्त्रज्ञान की कमी बताने वाली भूलें उनको विक्रम की सोलहवी शती के पूर्व का प्रमाणित नही होने देती। दृष्टान्त के रूप मे एक स्थान पर जिन-जन्म के अधिकार मे "द्रो" शब्द का प्रयोग लेखक का अर्वाचीनत्व बताता है। इसी तरह श्रमण की द्वादश प्रतिमाओ का शीर्षक लिखते समय "समणाण समणीण बारस पडिमा पन्नत्ता" इस प्रकार सूत्रीय शीर्षक लिखा है। परन्तु लेखक को इतना भी मालूम हो नही सका कि जैन भिक्षु की द्वादश प्रतिमा केवल जैन श्रमणो के लिए ही होती हैं, जैन श्रमणियो के लिए नही। फिर भी लेखक ने श्रमण और श्रमणियो की बारह प्रतिमाएँ बताई हैं। यह उसका अज्ञान तो है ही, साथ ही "बारस पडिमा पन्नत्ता" इन शब्दो से इस शीर्षक को किसी आगम का सूत्र मनाने की होशियारी की है, परन्तु श्रमण के साथ श्रमणी शब्द को जोडकर लेखक ने अपनी होशियारी को गुड़ गोबर बना दिया है। इसी प्रकार सख्या-बद्ध प्राकृत पाठो को सूत्रो के ढग से इस

ग्रन्थ में लिखा है। फिर भी प्राकृत भाषा के ऊपर से विद्वान् पाठक समझ ही जाता है कि यह पाठ वास्तव में सूत्र का नहीं, लेखक के अपने घर का है।

अब हम इस ग्रन्थ का एक नकली पाठ देकर इस अवलोकन को पूरा करेंगे। जिनप्रतिमाधिकार के १४१वें पद्य में लेखक ने व्यवहार-क्षेत्र ग्रन्थ के नाम से एक पाठ दिया है जो नीचे उद्धृत किया जाता है—

साहू वंदिता पुच्छंति-कत्थ गंतव्वं सिमा तेण्डुलं अमुगदेसे—संति तत्थ चेइआणि जेहिंतो दंसणसोहिम् भिक्खति कहं च तेहिंतो दंसणसोही पूर्ण च दट्ठु जगबंधवाणं ? सड्ढाणं चेइएसु-जिणपडिमाणं न्हाण-विलेवणाइयाणं च दट्ठूणं सेहस्स धम्मो वित्थरेई चेइआइ सत्तसयगण्णमुहेहिं समणोवासगेहिं भत्तीइ जाइ निम्मिआइ —व्यवहारक्षेत्रग्रन्थे ॥

साधु आचार्य को वन्दना कर पूछते हैं—विहार कर कहां जाना होगा ? आचार्य ने कहा—अमुक देश की तरफ। वहां जिनचैत्य हैं जिनचरणों से दर्शनशुद्धि होगी। उनसे दर्शनशुद्धि कैसे होगी ? आचार्य ने कहा—तीर्थङ्करों की पूजा देखकर श्रावकों का जिनमन्दिरों में जिनप्रतिमाओं का स्नान विलेपनादि करना देखकर नवदीक्षित शिष्य का धर्म विस्तृत होता है। चैत्य-शत, शतकं आदि श्रावकों द्वारा भक्ति से जो बनाए गये है उनके दर्शनादि से धर्मश्रद्धा बढ़ती है।

लेखक साधुओं द्वारा विहार-क्षेत्र पूछता है और आचार्य उसका उत्तर देते हैं कि अमुक देश में विहार होगा। वहाँ जिनचैत्य बहुत हैं दर्शनशुद्धि होगी। साधु पूछते हैं—महाराज उन चैत्यों से दर्शनशुद्धि कैसे होगी ? आचार्य कहते हैं—जगत् के बन्धु जिनभगवन्त की पूजा देखकर श्रावकों द्वारा जिनचैत्यों में जिनप्रतिमाओं का स्नान विलेपादि होता देख कर नव-दीक्ष का धर्म बढ़ता है। क्योंकि वे चैत्य शत शतक प्रमुख श्रावकों के भक्ति से बनाये हुए हैं।

जिनप्रतिमाधिकार के कर्त्ता ने इस पाठ की जो योजना की है वह आधुनिक परिस्थिति को ध्यान में रखकर की है अन्यथा वहाँ मन्दिर हैं

यह आचार्य के कहने की कोई आवश्यकता नही होती। शास्त्र मे साधुओ का विहार मन्दिर और मूर्तियो के दर्शन के लिए नही बताया, किन्तु अपना सयम निर्मल रखने के लिए साधु विहार करते है। भावी आचार्य के लिए देशदर्शनार्थ भी विहार करने की आज्ञा दी है, बाकी सर्वसाधारण के लिए तीर्थयात्रा के लिए अथवा मूर्तियो के दर्शनार्थं इधर-उधर भ्रमण करना साधुओ के लिए निषिद्ध है। इस परिस्थिति मे दर्शनशुद्धि और धर्म-विस्तार की बातें करने वाले साधु जैन सिद्धान्तो के अनभिज्ञ मालूम होते हैं। सत्रहवी शताब्दी के लेखक शख, शतक प्रमुख श्रमणोपासको द्वारा भक्ति से बनाए हुए जिनचैत्यों की बात करके पढ़ने वालो को उल्लू बनाना चाहते थे, परन्तु ऐसा करते हुए वे स्वय अज्ञानियो की कोटि मे पहुच रहे हैं, इस बात का उन्हे पता तक नही लगा।

उपसहार :

प्रतिमाधिकार दो के सम्बन्ध मे हमने जो कुछ लिखा है, वह हमारे खुद के लिए भी सन्तोषजनक नही, खेदजनक है। परन्तु इसके सम्बन्ध मे लिखने की खास आवश्यकता ज्ञात हुई। क्योकि हमने ज्यो-ज्यो प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीनकालीन जैन साहित्य का अवलोकन किया त्यो-त्यो धीरे-धीरे ज्ञात हुआ कि मध्यकालीन और अर्वाचीन जैन साहित्य मे अनेक प्रकार की विकृतियां हो गई है। कई ग्रन्थ तो ऐसे बने हैं जो जैन आगमो के साथ मेल ही नही रखते। कई ग्रन्थो मे अर्वाचीनकालीन पद्धतियो को घुसेडकर उन कृतियो को पौराणिक पद्धतिया बना दिया है। कई ग्रन्थ प्रकरणो में अन्यान्य पाठो का प्रक्षेप निष्कासन करके उनको मूल विषय से दूर पहुचा दिया है, और यह पद्धति आज तक प्रचलित है। ऐसा हमारे जानने मे आया है, अपनी मान्यताओ को प्रामाणिक ठहराने के लिए प्रामाणिक पुरुषो के रचे हुए साहित्य मे इस प्रकार विकृतिया उत्पन्न करना समझदारी नही है। फिर भी इस प्रकार के कार्य सैकडो वर्षों से होते आ रहे हैं। इस परिस्थिति को जानकर यह लेख लिखना पडा है। आशा है, गच्छ मतो के हिमायती महानुभाव अब से इस प्रकार की

प्रवृत्तियों से बाज आयेंगे, अन्यथा इस प्रकार की अनुचित प्रवृत्तियों का भण्डाफोड़ करना पड़ेगा। हमारी आन्तरिक इच्छा है कि इससे आगे एक कदम भी हमें न बढ़ाना पड़े।

आज तक हमारे पढ़े और जाँचे हुए ग्रन्थों में से उपर्युक्त चौदह (१४) ग्रन्थों को 'कृत्रिम कृतियों' के नाम से जाहिर किया है। इन सब के कृत्रिम होने के हमारे पास प्रमाण विद्यमान होते हुए भी हमने उनका उपयोग नहीं किया। क्योंकि यह प्राथमिक अवलोकन लेख है। इसमें सभी प्रमाणों का उपन्यास करने से एक बड़ा प्रबन्ध बन जाने का भय है जो हमको इष्ट नहीं।

: १८ :

तत्त्वन्याय-विभाकर

कर्ता—श्री विजयलब्धि सूरि

❖

उपर्युक्त नाम का ग्रन्थ वीसवी शताब्दी के आचार्य श्री लब्धि सूरिजी ने खम्भात मे रचा है। इसका रचनाकाल १९९४ और मुद्रणकाल १९९५ है। ग्रन्थ को तीन विभागो मे बाटा है—प्रथम विभाग मे नवतत्त्वो का सस्कृत वाक्यो मे निरूपण करके सम्यक्-दर्शन का वर्णन किया है। दूसरे विभाग मे पाच ज्ञानो का वर्णन करके प्रमाणो का निरूपण किया है। तीसरे विभाग मे चारित्र-धर्म का निरूपण करने के साथ चारित्र-सम्बन्धी क्रिया-प्रवृत्तियो का प्रतिपादन किया है।

ग्रन्थ के सस्कृत वाक्य अधिकाश मे भगवान् उमास्वाति के तत्त्वार्थ-सूत्र के सूत्रो मे शाब्दिक परिवर्तन करके तय्यार किये गए हैं। उदाहरण स्वरूप "सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग·" इस सूत्र को परिवर्तित करके "सम्यक् श्रद्धा-सविच्चरणानि मुक्त्युपाया." यह वाक्य रचा है। मेरी समझ में सैद्धान्तिक वातो को इस प्रकार बदलने मे कैसी भूले होती हैं, इस बात पर लेखक ने तनिक भी विचार नही किया। भगवान् वाचकजी के प्रथम सूत्र का अन्तिम शब्द "मोक्षमार्ग." यह एक वचनान्त है, तब विभाकर के कर्ता ने इसके स्थान पर "मुक्त्युपाया:" इस प्रकार मोक्ष के स्थान पर मुक्ति तथा मार्ग के स्थान पर वहुवचनान्त "उपाया" शब्द लिखा है। वास्तव मे यह परिवर्तन बहुत ही भद्दा और अनर्थकारक हुआ है। दर्शन शब्द के स्थान पर श्रद्धा शब्द लिखकर लेखक ने एक सर्वव्यापक अर्थवाची शब्द को हटाकर एकदेशीय अभिलाषा वाचक "श्रद्धा" शब्द

को स्थान दिया है[1]। दर्शन शब्द से दार्शनिक तत्त्व-सम्बन्धी मन्तव्य का जो सर्व दर्शनों में 'दर्शन' शब्द से प्रतिभान होता है, वह 'श्रद्धा' शब्द से नहीं। इसी प्रकार ज्ञान के स्थान पर 'संवित्' शब्द का विन्यास कर लेखक ने 'ज्ञान' शब्द के सार्वभौम अर्थ पर पर्दा सा डाल दिया है। ज्ञान शब्द आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि मनःपर्यव तथा केवल इन पांचों ज्ञानों का प्रतिपादक है। तब 'संवित्' शब्द ज्ञान का पर्याय होते हुए भी सभी ज्ञान का प्रतिभास नहीं करा सकता[2] प्रथम तृतीय चतुर्थ और पंचम ज्ञान का 'संवित्' शब्द से उल्लेख करना निरर्थक है। संवित्' शब्द से शास्त्र श्रवण मनन से जो प्रतिभास होता है उसी को सूचित किया जा सकता है सभी ज्ञानों को नहीं। 'चारित्र' शब्द का स्थान 'चरण' को देना भी अयोग्य है। चारित्र एक आत्मा का मौलिक गुण है तब

---

(१) श्रद्धा शब्द की निष्पत्ति "श्रत्" अव्यय और "धा" धातु से होती है। देखिए सिद्धहेमशब्दानुशासन का निम्नोद्धृत सूत्र "श्रदन्तरोरुपसर्गवत् १ १ २" इसकी बृहद् वृत्ति में "श्रत् श्रद्धाने दीर्घे च। श्रत्करण दधाति करोतीत्यर्थः।" इस वार्तिक से श्रत् को सोपसर्गक अव्यय मानकर धारणार्थक 'धा' धातु के संयोग से "श्रद्धा" शब्द बनाया है, जिसका अर्थ है अभिलाषा।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'श्रद्धा' शब्द निपात से परिगणित है और 'श्रच्छ्रदन्तरोपसंख्यानम्' इस वार्तिक से श्रत् को उपसर्ग मान भावे "दधाति" किया के योग से भी श्रद्धा शब्द की सिद्धि की है और श्रद्धा का अर्थ अभिलाष सूचित किया है।

इस प्रकार के श्रद्धा शब्द के पूर्व में सम्यक् शब्द जोड़कर सम्यग्दर्शन का भाव निकालना कल्पना मात्र है।

(२) संवित् शब्द से ज्ञान मात्र का प्रत्यायन नहीं कराया जा सकता क्योंकि संवित् शब्द की मूल प्रकृति एक ही नहीं है जैसे विद् ज्ञाने-संवित्, विद्-सत्तायाम्-संवित्, विद् विचारणे-संवित्। इस प्रकार ज्ञान के अर्थ में रूढ़ ज्ञान शब्द को हटाकर उसके स्थान पर अनेकार्थ संवित् शब्द की योजना करना ही नहीं भ्रान्तिकारक भी है।

"चरण" शब्द यद्यपि कही कही इसके पर्याय के रूप मे प्रयुक्त होता है, फिर भी "चरण" शब्द चारित्र का पर्याय न होकर चारित्र सम्बन्धी क्रियाओ-आचरणो के अर्थ मे प्रयुक्त होता है[१]। "मोक्ष" शब्द कर्मयुक्त होने के अर्थ मे प्रसिद्ध है, "मुक्ति" शब्द भी "मोक्ष" शब्द का पर्याय अवश्य है परन्तु मोक्ष के जैसा पारिभाषिक नही। "मार्ग" शब्द के स्थान पर "उपाय" शब्द का लिखना भी बिल्कुल अयोग्य है। भले ही श्रद्धा सवित् और चरण मोक्ष के उपाय हो, परन्तु ये मोक्ष का मार्ग नही बन सकते। "मृग्यते मोक्षो अनेन इति मार्गः" अर्थात् दर्शन-ज्ञान चारित्र द्वारा मोक्ष का अन्वेषण किया जाता है और उसे प्राप्त भी किया जाता है। मनुष्य के पास कार्य के साधक उपाय होने पर भी जब तक वह उपेय पदार्थ की प्राप्ति के लिए मार्गणा नही करता, उपेय प्राप्त नही होता। इसीलिए तत्त्वार्थकार भगवान् उमास्वाति वाचक ने मोक्ष शब्द के आगे मार्ग शब्द रखना पसन्द किया है। इन सब बातो के उपरान्त एक विशेष खटकने वाली बात तो इस वाक्य मे यह है कि "उपाय" शब्द का प्रयोग बहुवचन मे किया है। जैन शैली को न जानने वाला मनुष्य तो यही कहेगा कि "श्रद्धा", "सवित्" और "चरण" ये प्रत्येक मुक्ति देने वाले उपाय हैं। परन्तु ऐसा अर्थ करना जैन सिद्धान्त से विरुद्ध माना जायगा, क्योकि जैन-सिद्धान्त "सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान" और "सम्यक्-चारित्र" इन तीनो की सम्मिलित प्राप्ति से ही आत्मा का मोक्ष मानता है, प्रत्येक भिन्न-भिन्न से नही। इसी कारण तो तत्त्वार्थसूत्रकार ने "मार्ग" शब्द मे प्रथमा विभक्ति के एक वचन का उपयोग किया है। इस प्रकार "तत्त्वन्यायविभाकर" के पहले वाक्य मे ही "प्रथमकवले मक्षिका-पात" जैसा हुआ है। इस प्रथम पक्ति की खामियो को पढ़ने से ही सारा ग्रन्थ दृष्टिगोचर करने की मेरी इच्छा हुई और सारी पुस्तक पढी, जिससे ग्रन्थ की योग्यता अयोग्यता का अनुभव हुआ।

---

(१) चरण शब्द भी सवित् की ही तरह अनेकार्थक है। इसका प्रयोग कहीं कहीं चारित्र की क्रिया के अर्थ में होता है, तो कही कही "काठक" "कलापका" दि धर्माम्नायो के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। इस परिस्थिति में चारित्र जैसे सर्वसम्मत शब्द को हटाकर उसका स्थान "चरण" शब्द को देना एक प्रकार की भ्रान्ति फैलाना है।

ऊपर हमने केवल "तत्त्वन्यायविभाकर" के प्रथम सूत्र पर थोड़ी टीका टिप्पणी की है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के अन्यान्य अनेक सूत्र वाक्य दोषपूर्ण हैं और उन पर जितना भी टीका-टिप्पण किया जाय थोड़ा है। परन्तु ऐसा करने में अब कोई लाभ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसके लेखक आचार्य महोदय परलोक सिधार गए हैं और इनके शिष्यगण की तरफ से संशोधन होने की आशा करना निरर्थक है, इसलिए अन्य सूत्रों के ऊपर टीका-टिप्पणी करना छोड़ दिया है।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि श्री लब्धिसूरिजी महाराज ने इस संस्कृत ग्रन्थ के निर्माण में जितना समय लगाया उतना स्त्रियों तथा बालक बालिकाओं के पढ़ने योग्य स्तवनों भजनों के बनाने में लगाते तो अवश्य लाभ के भागी होते।

प्रतिक्रमरण सूत्रों की अशुद्धियाँ

ले० पं० कल्यारणविजयगरणी

❖

१ "प्रतिक्रमरण" शब्द से यहा "श्रावक-प्रतिक्रमरण सूत्र" विवक्षित है। इस सूत्र का अनेक सस्थाओ, पुस्तकप्रकाशको तथा व्यक्तियो ने प्रकाशन किया है। अकेले भीमसी मारणक ने ही इसकी १० से अधिक आवृत्तिया निकाली हैं, फिर भी इसकी माग आज भी कम नही है। इस पर से इतना तो निश्चित है कि प्रतिक्रमरण सूत्र के एक अच्छे संस्कररण की आवश्यकता थी और है। 'प्रबोध टीका' के साथ प्रकाशित "प्रतिक्रमरण-सूत्र" प्रथम के सस्कररणो से अच्छा कहा जा सकता है, फिर भी सर्वांशो मे उपयोगी नही कह सकते।

गुजराती टीकाकार श्री धीरजलाल ने इसमे अपने विशाल वाचन और सर्वतोमुखी प्रतिभा का यथेच्छ उपयोग किया है। जिसके परिरणामस्वरूप ग्रन्थ का यह सस्करण सर्वभोग्य न होने पर भी अध्यापकों और विचारकों के काम का बन गया है। परिरणाम यह आयगा कि इसकी अधिक आवृत्तिया निकालने का सभव कम रहेगा।

हमने इस टीका का मात्र "पिठरी-पुलाक-न्यायेन" अवलोकन किया है। इससे इसकी खूबियो और खामियों के विषय मे लिखना साहस गिना जायगा तथापि ग्रन्थ के मूल का हमने सम्पूर्ण अवलोकन किया है, इसलिए इसकी सपादनशैली और सशोधन के विषय मे कुछ लिखना प्रासगिक गिनते हैं।

सूत्रों के नये नाम

संपादक ने प्रत्येक सूत्र या सूत्रखण्ड को अपने कल्पित नाम से अलंकृत किया है। प्राकृत को प्राकृत और संस्कृत को संस्कृत नाम लगाकर अन्त में सूत्र का प्रचलित नाम दिया है। इसका कारण "एक-वाक्यता" कायम रखना बताते हैं पर हमारी मान्यतानुसार यह कथन निराधार है। प्रतिक्रमण सूत्र सूत्रखण्ड अथवा तदुपयोगी जो संकेत नियत हैं उनके विषय में टीकाकार, संपादक या संशोधक को निराधार नये नाम लगाने का साहस करने की कुछ भी आवश्यकता न थी। यदि सूत्रगत वस्तुव्यंजक शब्द लिखने की इच्छा थी तो टिप्पणी में या टीका में वैसा कोई शब्द लिखकर पूरी कर सकते थे पर प्रत्येक सूत्र तथा सूत्र खण्ड के गले में प्राकृत या संस्कृत नाम की नई घंटियाँ लगाने का संपादक को कोई अधिकार न था 'सात लाख अठार पापस्थानक' जैसे लोक-भाषामय आलोचना पाठों के प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के नये नाम कितने विचित्र लगते हैं? इसमें किस प्रकार की एकवाक्यता है यह हम समझ नहीं सकते।

'तस्स उत्तरीकरणेण' 'अन्नत्थ ऊससिएण' जैसे सूत्रखण्ड जो वास्तव में 'इरियावहिया' के अंश हैं उनके नये नाम लगाकर एक प्रकार की उनमें विकृति ही उत्पन्न की है और कितने ही नये नाम तो मूल वस्तुओं को ढांकने वाले घन घोसी के बाधक बने ऐसे हैं।

अन्तःशीर्षक तथा अन्तर्वचन

कितने ही स्थानों में सम्पादक ने 'अन्तःशीर्षक' तथा विधिगत 'प्रतिवचन' सूत्रों में दाखिल किये हैं यह भी अविचारित कार्य किया है। ऐसे प्रक्षेप कालान्तर में लेखकों के अज्ञान से सूत्रों के अंग बनकर मूल वस्तु को विकृत कर देते हैं कि जिसका संशोधन भी अशक्य बन जाता है।

'वन्दनक सूत्र' तथा 'अब्भुट्ठिओ' आदि में दाखिल किये हुए "गुरुप्रतिवचन" स्वामनिवेदन आदि बातें मनमान स्वय सीखने वालों

को हानिकर और पोथी-लेखको द्वारा सूत्र के अग बनकर मूल वस्तु को विगाडने वाली होगी। यह प्रतिवचन स्थानादिनिवेदन आदि विधि मे शोभने वाली वस्तु है, जिसको मूल मे प्रवेश करवा के सम्पादक ने अक्षम्य भूल की है।

"लघु शान्ति" स्तव मे "विजयादि जगन्मङ्गल कवच, अक्षरस्तुति, आम्नाय, फलश्रुति, अतमगल" आदि शीर्षको के काटे वोकर शान्तिपाठियो का मार्ग दुर्गम वना दिया है। ऐमे सूचन अस्थानीय तथा अप्रासगिक है।

संशोधन :

हम पहिले ही कह चुके हैं कि सशोधन की दृष्टि से यह सस्करण अच्छा है, कितनी ही प्रवाहपतित भूलो का इसमे परिमार्जन हुआ है; फिर भी पूर्व से चलती आई थोकबन्ध अशुद्धियाँ इसमे भी रह गई है। भीमसी माणक के सस्करण की कितनी ही भूलें महेसाना के सस्करण मे सुधरी हैं। वैसे भीमसी माणक की कतिपय भूलें महेसाना वालो ने अपनायी हैं तथा महेसाना का अनुसरण इस सस्करण के सशोधको ने भी किया है। खास कर भाषा की कृतियाँ "पाक्षिकादि अतिचार" "सकल तीर्थ वन्दना" आदि मे भीमसी माणक ने भाषाविषयक परिवर्तन कर मूल कृति मे विकृति की थी। उसी रूप मे महेसाना तथा अष्टाग-विवरणकार ने अपने सस्करणो मे उसकी पुनरावृत्ति की है। खास तौर से ऐसी विकृतियो को प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर सुधारकर भूलो के रूप मे उन्हें प्रकाशित करना चाहिये था। "अजितशान्तिस्तव" मे जैसे प्राचीन टीका के आधार पर शाब्दिक परिवर्तन किया है उसी प्रकार उक्त कृतियो को इसके शुद्ध रूप में उपस्थित किया होता तो योग्य माना जाता।

अजित शान्तिस्तव मे किये गये परिवर्तन :

"अजित शान्तिस्तव" मे कितनी ही ह्रस्व, दीर्घ की भूले सुधारी हैं यह तो ठीक, पर छन्दो के आधार से इसमे कितनी ही जगह गाथाओ का जो अग-भग किया है वह अक्षन्तव्य है। सशोधक ने चाहे जिस

कारण से भी 'अजित शान्तिस्तव' के छन्दों की देखभाल की हो पर उसमें अपनी बुद्धि का ही प्रदर्शन किया है। छन्दशास्त्र' यह कोई कतिपय वृत्तवाहिनी लघुतरंगिणी नहीं पर लाखों वृत्तों का महार्णव' है। इसका विचार किये बिना अजित शान्तिस्तव के हजारों वर्षों के पुराने छन्दों की बात का थाह लेने की चेष्टा भी संशोधक को विचारणीय हो पड़ी है। ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए संशोधक ने अजित शान्तिस्तव के छन्दों की चर्चा कैसे की यह समझ में नहीं आता।

छन्दों का काम बहुत जटिल है। अजित शान्तिस्तव के छन्दों का संशोधन करने वाला संशोधक स्वयं ही भूल-भूलामणी में फंसकर 'उपजाति' को 'इन्द्रवज्रा' तथा 'औपच्छन्दसिक' को 'वैतालीय' जिसने की भूल कर बैठे हैं कि जिसकी इनको खुद का खबर नहीं पड़ती, तब अजितशान्ति के छन्दों की इनकी समालोचना भूल भरी न हो ऐसा कौन कह सकता है।

टीकाकारों का कर्त्तव्य सूत्र के पाठों की शुद्धि करने का था इसलिये आवश्यकनिर्युक्ति भाष्य चूर्णि टीकाओं की पुरानी प्रतियां इकट्ठी कर प्रत्येक सूत्र तथा सूत्रखण्ड को प्राकृत संस्कृत पाठों के साथ अर्थ की दृष्टि से मिलान करने का था। जहां अर्थ-वैषम्य मालूम होता वहां मूल प्रति में तपास कर अशुद्धियां पकड़नी थी। इस कार्य के लिये केवल आवश्यक पंचांगी की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की ही जरूरत थी न कि ११२ जितने आधार-ग्रन्थों की अथवा ३१ जितनी हाथ-पोथियों की खोज-खोज करने की। छन्दों की समालोचना करने की और तात्त्विक तत्त्व का प्रदर्शन करने का कुछ प्रयोजन ही न था। अष्टांग विवरण के स्थान में १ शुद्धमूल पाठ २ संस्कृत छाया ३ गुजराती भाषा में शब्दार्थ ४ अन्वयार्थ तथा ५ तात्पर्यार्थ' इतनी बातों को लक्ष्य में रखकर विवरण करने की जरूरत थी। अर्थ-निश्चय तात्पर्यार्थ में आ जाता है तब आधार इतिहास का सार और छन्द का नाम लक्षण टिप्पण में भी दिया जा सकता था। लेखक ने यदि उपर्युक्त मार्ग ग्रहण किया होता तो कम परिश्रम में और कम खर्च में इसमें भी विशेष अच्छा संस्करण तैयार हुआ

होता और कम मूल्य मे इसका सर्वत्र प्रचार हो जाता, पर जो काम हो चुका है उसके विषय मे अब ज्यादा लिखना आवश्यक नही है।

अब हम अपने 'प्रतिक्रमण सूत्र' मे तथा प्रतिक्रमण मे बोली जाने वाली स्तुतियो स्तवनो आदि मे घुसी हुई तथा आज पर्यन्त चली आती अशुद्धियो की सूची देकर इस चर्चा को समेट लेगे ।

लगभग तीन वर्ष पहिले हमने महेसाना के सस्करण को आधार मानकर आवश्यक सम्बन्धी सूत्रो का एक "शुद्धिपत्रक" तैयार किया था और उसको छपवाकर प्रकट करने का भी विचार किया था, पर इसके बाद थोडे ही समय मे "प्रबोध टीका" के प्रथम भाग के प्रकाशन की खुशी मे बम्बई मे जैनो की सभा हुई और इस कार्य मे लगे हुए कार्यकरो को अभिनन्दन दिये गये। हमे लगा कि इस घटना से "प्रतिक्रमण सूत्र" का शुद्ध सस्करण प्रकाशित होने मे अब विलम्ब न होगा। अब हमे शुद्धिपत्रक प्रकट करने की आवश्यकता ही न रहेगी। हमने प्रबोध टीका वाले सस्करण का प्रथम भाग मगवाकर दृष्टिगोचर किया तब कितनी ही भूले उसमे सुधरी हुई मालूम हुई तब कुछ नई भूलें भी दृष्टिगत हुई। हमने सम्पूर्ण ग्रन्थ छप जाने के बाद ही इसके सम्बन्ध में कुछ लिखने का निर्णय किया। गत चातुर्मास्य मे अन्तिम भाग प्रकाशित होते ही उसे मगाकर ग्रन्थ का मूल पढा और दृष्टि मे आयी हुई भूलो की यादी की।

यहाँ हम "प्रवोध टीका" के सस्करण की "अशुद्धियो" का "शुद्धि-पत्रक" देते हैं जिसमे कितनी प्रचलित भूलें रही तथा कितनी नई भूलें घुसी यह जान सकेंगे।

卐 卐

— शुद्धि पत्रक —

प्रतिक्रमण प्रबोध टीका भाग १ का

—❖—

इरियावही में :

नं०	अशुद्ध—	शुद्ध—
(१)	ईरियावही	इरियावही
(२)	ईरियावहियं	इरियावहियं
(३)	ईरियावहिया	इरियावहिया

संसार-दावानल स्तुति में :

नं०	अशुद्ध—	शुद्ध—
(४)	इन्द्रवज्रा	उपजाति

भवनदेवता स्तुति में

नं०	अशुद्ध—	शुद्ध—
(५)	भुवनदेवता	भवनदेवता
(६)	भुवणदेवया	भवणदेवया
(७)	भुवन-देवी	भवन-देवी

अड्ढाइज्जेसु में

नं०	अशुद्ध—	शुद्ध—
(८)	पनरससु	पन्नरससु
(९)	पडिग्गह धारा	पडिग्गहधरा
(१०)	महव्वय धारा	महव्वयधरा
(११)	सीलंग धारा	सीलंगधरा
(१२)	अक्खयायार	अक्खुयायार

भरहेसर-बाहुबलि-सज्झाय में

नं०	अशुद्ध—	शुद्ध—
(१३)	विसयजंति	विलिज्जंति
(१४)	मयणरेहा	मयणरेह
(१५)	मन्ह जिणाए	मण्ह जिणाए
(१६)	मासासमिई	मासासमिईव
(१७)	सज्जीवकरणाम	जीवकरणाम

अशुद्ध—	शुद्ध—
सकलार्हत् में :	
(१८) भगवान् चतुर्थार-	भगवांश्चतुर्थार-
(१९) प्रदीपानलो	प्रदीपानिलो
(२०) कूटादयः, तत्र	कूटादय-स्तत्र
अतिचारो मे :	
(२१) जे कोई	अनेरो जे कोई
(२२) अणपवेसे	अणपवेये
(२३) मातरु २	मातरियु २
(२४) पीलया	पाली
(२५) सविहु-सर्वपण (टि)	सविहु-सर्वनु (टि०)
(२६) अणपवेसे	अणपवेये
(२७) प्रवेश कर्या विना (टि०)	प्रवेदन कर्या विना (टि०)
(२८) माज्यो	भाज्यो
(२९) अनेरो वीजो	अनेरो अन्यतर
(३०) भक्षित-उपेक्षित-भक्षण करता उपेक्षा कीधी	भक्षित-उपेक्षित भक्षण कर्यु उपेक्षा कीधी
अतिचारो मे :	
(३१) अहवा दशमी	अहिवा दशमी
(३२) अथवा दशमी	अविधवा दशमी
अजित शांति स्तव में :	
(३३) वचिश्र	वचिश्रं
(३४) जसुर	ज सुर
बृहच्छान्ति में :	
(३५) लोकोद्योत	लोकोद्द्योत
(३६) भूमण्डले आयतन	भूमण्डलायतने

अशुद्ध—	शुद्ध—
(३७) साम्यन्तु २	साम्यन्तु
(३८) राजाधिप	राज्याधिप
(३९) गौष्ठिकपुर	गोष्ठीपुर
(४०) राजाधिपानां	राज्याधिपानां
(४१) राज-संन्निवेशा०	राज्यसंनिवेशा०
(४२) श्री राजाधिपानां	श्रीराज्याधिपानां
(४३) श्री राज-संनिवे०	श्रीराज्यसंनिवेशा०
(४४) श्री पौरमुख्याणां०	श्रीपुरमुख्याणां०
(४५) तित्थयरमाया	गोवासयमाया

संतिकरस्तव में :

(४६) मणुअो सुरकुमारो	मणुअसरकुमारो
(४७) वइरुट्ट वुत्त	वइरुट्टवत्त

पच्चखाणों में

(४८) साढ्ढपोरिसी	साढ पोरिसी
(४९) साढ्ढपोरिसिं ४	सढ्ढपोरिसिं ४
(५०) पच्छन्न०	पछन्न
(५१) विगईओ	विगईउ
(५२) बहुवेवेण २	बहुवेण २
(५३) अप्पमत्तट्ठ २	अमत्तट्ठ २
(५४) पाणहार २	पाणाहार २

पौषध-प्रत्याख्यान में :

(५५) चउव्विह	चउव्विहे
(५६) भन्ते	भंते
(५७) चवदवंडिसो	चंदवडंसो

संथारा-पोरिसी में

(५८) कुक्कुडि	कुक्कुड

अशुद्ध—	शुद्ध—
(५९) अतरत	अतरतु
(६०) वोसिरसु	वोसिरिसु
(६१) मणुसासइ	मणुसासए
(६२) मुज्झह वईर न भाव	मज्झह, न वइर भाव

सकल-तीर्थ मे :

(६३) अट्ठलक्ख	अडलख
(६४) अतरिक्ख	अतरीख

इस अशुद्धि-शुद्धि पत्र मे उन्ही अशुद्धियो को लिया है जिन्हें सम्पादको ने अपने शुद्धाशुद्ध पत्रक मे नही लिया। उपरान्त इसके अतिरिक्त भी इन सूत्रो मे अशुद्धियाँ होगी जो हमारी नजर मे नही आई, अथवा तो हमारे लक्ष्य मे नही आयी।

इन सूत्रो मे प्राचीन पुस्तको और ग्रन्थान्तरो मे पाठान्तर भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन पर ऊहापोह करके ग्राह्य हो उन्हे मूल मे दाखिल कर देना चाहिए। उदाहरण के रूप मे—'आयरिअ उवज्झाओ' मे। 'कुल गणे य' 'कुल गणे वा'।

इत्यादि प्रकार के आवश्यक सूत्रो मे अनेक पाठान्तर दृष्टिगोचर होते हैं जो समन्वयापेक्षी हैं। इन सब बातो पर गभीरता पूर्वक विचार कर गीतार्थों को अपने आवश्यक सूत्रो को परिमार्जित कर शुद्ध और सर्वोपभोग्य सस्करण प्रकाशित करना चाहिए।

卐 卐

शुद्धिविवरण और शुद्धिविचारणा

ले० कल्याणविजय

ई० सन् १९५१ के अक्टूबर की ता० १५ के 'जैन सत्यप्रकाश' मासिक में 'प्रापणा आवश्यक सूचना वाली अशुद्धियाँ' इस शीर्षक के नीचे हमारा लेख छपकर प्रसिद्ध हुआ था। इस लेख के सम्बन्ध में कतिपय विद्वान् साधुओं तथा गृहस्थों ने आनन्द-प्रदर्शित किया था पर इसके विरोध में किसी ने एक शब्द भी नहीं लिखा।

नवम्बर महीने में (ता० याद नहीं) एक समय रात को आठ बजने के बाद जैन विद्याशाला में हमारे रूम में दो आदमी आये। पूछने पर उन्होंने कहा—एक तो पंडित लालचन्द भगवान् गांधी और दूसरा हमारे समधी पं० भगवानदास हरखचन्द के छोटे पुत्र। कुछ प्रासंगिक बातों के बाद श्री गांधी ने 'प्रतिक्रमण-प्रबोध टीका' की अशुद्धियों का प्रसंग छेड़ा और बताई हुई अशुद्धियों को प्रमाणित करने वाले प्रमाण पूछे। हमने उनको प्रमाण बताए और कहा—कि प्रत्येक अशुद्धि को प्रमाणित करने वाले प्रमाण हैं और हम शुद्धि-लेख के विवरण के रूप में अवकाश मिलते ही अन्य लेख द्वारा प्रकट करेंगे।

पंडित श्री गांधी की आकुलता से मालूम होता था कि इनको हमारे उक्त लेख से पारावार दुःख हुआ है। ये बात करते करते जोरों से चिल्ला उठते थे। हमने उनको कह दिया था कि हमने अकस्मात् तुम्हारी भूलें नहीं निकाली किन्तु प्रथम संस्था को अशुद्धियों के सम्बन्ध में सूचना भी की थी परन्तु अशुद्धियाँ मंगवाने के बजाय हमको पुस्तकों का सेट भेजकर सम्पादक ने हमारा मुंह बन्द करने का प्रेम भेजा था। उसी के परिणाम

स्वरूप हमको अशुद्धि सम्बन्धी लेख प्रकाशित करने की फरज पड़ी थी। परन्तु श्री गाधी तो हमारी बात सुनने के पहले अपने रोष का सभार बाहर निकालने मे ही अधिक समय पूरा करते थे और सेवाभाव से काम करने वाले साहित्यसेवियो का अपमान मानकर उपालभ दिये जाते थे। हमको ऐसे साहित्य-सेवको के लिए अधिक मान न था। मजदूरी ठहरा के कार्य करने वाले मनुष्य पाश्चात्य सभ्यता की दृष्टि से भले ही सेवक गिने जाये परन्तु भारतीय सस्कृति मे ऐसे साहित्य-सेवको की मान-मर्यादा सीमित होती है। समाज या समाज के व्यक्ति-विशेष के पास से कस कर पारिश्रमिक लेने वाले साहित्य-सेवियो की भूल को भूल कहने का समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार स्वय सिद्ध है। उक्त प्रकार के साहित्यसेवी श्री गाधी के उपालभो की हमारे मन पर कुछ भी छाप नही पड़ी। परन्तु इतना अवश्य मालूम पडा कि श्री गाधी हमारे उक्त लेख के विषय मे अविलब कुछ न कुछ जरूर लिखेगे यह निश्चित है। लगभग घण्टा भर सिरपच्ची करके अन्त मे श्री गाधी "मिच्छा मि दुक्कड" देकर रवाना हुए।

"शुद्धिविवरण" यथाशक्य जल्दी छपवाने का विचार होने पर भी चातुर्मास्य उतरता होने से अन्यान्य कार्यो के दबाव से विवरण नही लिख सके और सन् १९५६ की जनवरी से श्री लालचन्द भाई की "शुद्धि-विचारणा" सत्यप्रकाश मे प्रकाशित होने लगी। इससे हमने हमारा कार्य ढीला छोड "शुद्धिविचारणा" पूरी होने पर "विवरण" तथा "विचारणा" का उत्तर साथ मे ही देने का निर्णय किया। विचारणा के ३ हफ्ते छपने के बाद हमने अहमदाबाद छोडा। जाते समय प्रकाश के व्यवस्थापक को सूचना भी की कि "शुद्धिविचारणा" के अन्तिम भाग वाला अङ्क प्रकाशित होते ही मगवाने पर हमे भेजा जाय, परन्तु हमारी इस सूचना का पालन नही हुआ। ऑफिस पर दो तीन पत्र लिखने पर भी कोई अङ्क नही आया, इससे विलब मे विलब हुआ। अन्त मे एक परिचित मुनिवर्य को लिखने से थोडे समय मे अङ्क मिला, इससे "शुद्धिविवरण" तथा "शुद्धि-विचारणा" विषयक यह दूसरा लेख लिखना योग्य जान पड़ा। प्रतिक्रमण के मुद्रित पुस्तक मे जिस क्रम से सूत्र छपे हैं उसी क्रम से हमने

तद्गत अशुद्धियों का शुद्धिपत्रक दिया है। परन्तु श्री लालचन्द गांधी को शुद्धिविचारणा की इतनी उत्कण्ठा लगी हुई थी कि जो भी अशुद्धियों के प्रतिकार के रूप में हाथ लगा उसी को लिखने लगे। शुरु में ही सब सूत्रों को छोड़कर सर्वप्रथम 'बृहच्छान्ति की शुद्धि-विचारणा' लिखी यह हमारे उक्त कथन की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भले ही श्री गांधी ने चाहे जिस क्रम से लिखा परन्तु हम सूत्र क्रम से ही 'शुद्धिविचारणा की समालोचना' करेंगे।

मूल नं० १-२-३ ये इरियावहि में आती 'इ' कार की दीर्घता सम्बन्धी हैं। प्रत्येक गच्छ के प्रतिक्रमण सूत्र में तथा 'वन्दारुवृत्ति' 'आचारदिनकर' आदि तपागच्छ के आधार ग्रन्थों में इरियावहि का प्रथमाक्षर (इ) ऐसा ह्रस्व माना हुआ है, फिर भी प्रबोध टीका के संशोधकों ने दीर्घ (ई) का प्रयोग किया है जो हमारे मत से 'अशुद्धि' अर्थात् भूल है। बात बात में मुद्रित ग्रन्थों तथा लिखित पोथियों का नाम निर्देश कर श्री गांधी भूलों का बचाव करते हैं। तब इस जगह में सैकड़ों वर्षों की परम्परागत ह्रस्व इ कार के स्थान में दीर्घ 'ई' कार का प्रयोग किस आधार से संशोधकों ने किया यह अज्ञेय बात है। भले ही व्याकरण से वैकल्पिक दीर्घ रूप होता हो फिर भी इस चिर प्रचलित तथा पूर्वाचार्यों से मान्य किये हुए ह्रस्व 'इ' कार को उखाड़ कर दीर्घ 'ई' कार का प्रयोग करना अमर्यादित है। सम्पादकों को अपनी विद्वत्ता बताने के अनेक स्थल थे। सर्वसम्मत प्रयोग को बदल कर पांडित्य बताने की यहां जरूरत न थी।

नं० ४ की अशुद्धि का श्री गांधी ने स्वीकार कर लिया है, इससे विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं।

नं० ५-६-७ इन नम्बरों की तीनों भूलों को श्री गांधी ने 'आचार दिनकर आदि में ऐसा है' यह कहकर बचाव किया है। पर जिन ग्रन्थों के गांधी नाम देते हैं उन ग्रन्थों के निर्माताओं को ये प्रयोग मान्य थे ऐसा वे सिद्ध कर नहीं सकते तब ये भूलें लिपिकारों की क्यों न हों। कारण

कि किसी भी प्रामाणिक शब्दकोषकार ने "भुवन" शब्द 'घर' अगर 'मकान' के अर्थ मे नही लिखा, पर 'जगत्', 'जल' इत्यादि के अर्थ मे लिखा है। इस स्थिति मे 'भुवनदेवता' 'भुवनदेवी' इन नामो को उपाश्रय की अधिष्ठायक देवी मानने की चेष्टा करना निरर्थक प्रयास है। प्राचीन प्रतिष्ठा-कल्पो मे और आवश्यक निर्युक्ति मे 'भवनदेवो' अथवा 'शय्यादेवी' के रूप मे ही इस देवी का नाम देखने मे आता है न कि 'भुवनदेवी'।

न० ८-९-१०-११-१२ ये पाच भूलें 'अड्ढाइज्जेसु' सूत्र की हैं। इनमे की 'पन्नरस' इस भूल के लिए गाधी कहते हैं कि 'पनरस' ऐसा प्रयोग भी होता है। श्री गाधी को मालूम होना चाहिए कि प्राकृत मे एक शब्द के अनेक रूप होते हैं। पर उसे हर जगह प्रयोग मे नही लेते। सूत्र, गद्य वगैरह में 'पन्नरस' इस शब्द का ही प्रयोग होता है, तब छन्दोनुरोध से मात्रा कम करने के लिए सयोगाक्षर को असयुक्त रूप मे भी प्रयोग कर सकते है। "अड्ढाइज्जेसु' यह गद्य सूत्र है, इसलिए इसके मौलिक रूप मे फेरफार नही होता। 'पडिग्गह' आदि शब्दो के अन्त मे 'धार' शब्द का प्रयोग भी यथार्थ नही है, कारण कि आवश्यक चूर्णि मे 'पडिग्गहधरा' इत्यादि तीनो जगह पर 'धर' शब्द का प्रयोग है। उसी प्रकार हरिभद्रीय टीका से भी 'धार' इस शब्द की सिद्धि नही होती। ये भूले लम्बे समय से रूढ हैं, इससे अर्वाचीन ग्रन्थो मे 'धार' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जो प्रामाणिक नही माना जाता। "धार" शब्द भाव वाचक प्रत्यय लगने से बनता है, तब प्राकृत स्थल मे शब्द प्रयोग कर्तृवाचक प्रत्यान्त ही सगत होता है भाववाचक नही। प्राचीन ज्योतिष शास्त्र तथा सूत्रो की चूर्णियो मे 'क्षुत' यह शब्द "अशुभ अर्थ मे" प्रयुक्त है। इससे "अड्ढाइज्जेसु" मे "अक्खुयायार" यह शब्द ही वास्तविक है। तपागच्छ के आचार्य श्री विजयसेन सूरि आदि ने भी "अक्खुयायार" को ही सच्चा प्रयोग माना है।

न० १३-१४ ये भूल 'भरहेसर-बाहुबलि' नामक स्वाध्याय की है। श्री गाधी "विलयजति" इस 'अशुद्ध प्रयोग' को लुप्तविभक्तिक मानकर बचाव करते है, परन्तु लगभग ५०० वर्ष पहले लिखे हुए इस स्वाध्याय के

एक प्राचीन पन्ने में 'विसिरर्जति' ऐसा क्रियापद स्पष्ट लिखा हुआ है। यदि 'सलक्षणसिद्ध' प्रयोग मिल जाता हो तो अलाक्षणिक प्रयोग को पकड़े रखना यह दुराग्रह मात्र कहा जायगा। प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण पुस्तक में स्वाध्याय के 'मयणरहा' शब्द को हम अशुद्ध मानते हैं। इसका कारण यह है कि इस प्रयोग को मान्य रखने से गाथा में मात्रा बढ़ती है और छन्दोभंग होता है, इसलिए 'मयणरेह' यह ही प्रयोग रहना चाहिए। प्राज पहिले के हर पुस्तक में यह प्रयोग ही दृष्टिगोचर होता है। प्राकृत में छन्दोभंग टालने के लिए मात्रा आगे पीछे की जा सकती है।

नं० १५–१६ ये भूलें 'भरह सिणाए' स्वाध्याय की हैं। ऐसे तो अन्य मुद्रित पुस्तकों में ये अधिक हैं परन्तु प्रबोध-टीका में कितनी ही सुधर गई हैं। हमारे पास के हस्तलिखित प्रति जीर्ण पत्र में 'मासासमिईज जीवकरुणा य' ऐसा पाठ है और यही बराबर है। क्योंकि 'स' शब्द कायम रखने से अक्षर बढ़ता और छन्दोभंग होता है। अतः प्राचीन पत्र में लिखा हुआ पाठ ही मूल पाठ गिनना चाहिए। रत्नहंस गणि ने चाहे जो पाठ मान्य किया हो क्योंकि यह मूल कृति उनसे भी बहुत प्राचीन होने से उनके समय से पहले ही यह भूल प्रविष्ट हो गयी होगी और रत्नहंस गणि ने इसको स्वीकार कर लिया होगा तो भी इससे यह पाठ मौलिक है ऐसा नहीं कह सकते।

नं० १७–१८–१९ ये तीन भूलें सकलार्हत् स्तोत्र की हैं। इनमें १७ और १९ नम्बर की भूलें संधि-विषयक हैं। श्री गांधी कहते हैं– 'सुगमता के खातिर संधि नहीं की। पर गांधी को समझ लेना चाहिए था कि पद्य-विभाग में ऐसा करने का कवि सम्प्रदाय नहीं है। प्रथम द्वितीय पाद में तथा तृतीय चतुर्थ पाद में यदि संधि को अवकाश हो तो अवश्य कर लेना चाहिए, ऐसा कवि सम्प्रदाय का दृढ़ नियम है। यह बात सम्पादकों के ध्यान में हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। भूल नं० १८वीं शब्दान्तर विषयक है प्रबोध-टीका में 'मनस' शब्द का प्रयोग है जो सचमुच ही विपरीत है। वास्तव में वायु वाचक 'अनिल' शब्द होना चाहिए, क्योंकि 'दीपक' को बुझाने के लिए वायु ही प्रसिद्ध है न कि मनस'

अर्थात् 'अग्नि', क्योकि 'दीपक' और 'अग्नि' तो एक ही चीज है, इसलिए 'अनल' शब्द यहां किसी काम का नही है। श्री गाधी को यह समझ लेना चाहिए था कि 'उपमा' एकदेशिक होती है और उपमेय के किसी भी एक गुण का स्पर्श करती है, न कि इसके सम्पूर्ण जीवन का। पाप प्रतापक है इसलिये इसको "दीपक" रूप "अग्नि" की उपमा देना सगत है और "वीतराग देव पापनाशक हैं" इसलिए पाप रूप दीपक को बुझाने के लिए समर्थ होने से उनको "वायु" की उपमा बराबर घटित होती है। श्री गाधी का यह दुराग्रह मात्र है कि ऐसी स्पष्ट भूलो का भी बचाव करते हैं।

नम्बर २०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१ अतिचार की बारह भूलो मे से एक भी भूल का श्री गाधी ने बचाव नहीं किया। वैसे भूलो को स्वीकार नही किया, यदि ये भूलें इनको ज्ञात हुई होती तो इनका स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए था और ये भूलें नही हैं यह जानते तो इनका प्रतीकार करने की आवश्यकता थी, क्योकि प्रत्येक भूल के सम्बन्ध मे इन्होने अपना बचाव करने की ही नीति अपनाई है। यह स्थिति होने पर भी गाधी यहा कुछ भी नही बोलते, यह एक अज्ञेय बात है। हमे लगता है कि उक्त भूले श्री धीरजलाल की अथवा श्री गाधी की न होकर सम्पादक मडलान्तर्गत एक पन्यासजी की होनी चाहिए। क्योकि प्रबोध टीका के पहले पालीताना से छपकर प्रकाशित होने वाले एक पच प्रतिक्रमण के पुस्तक मे इन्ही भूलो की पूर्वावृत्ति हुई हमने देखी है। वह पुस्तक भी प्रस्तुत सम्पादक मण्डल मे के एक पन्यास के तत्त्वावधान मे ही छपी है और उन्ही भूलो की इसमे पुनरावृत्ति की हो ऐसा लगता है।

न० ३२-३३ इन अजित शान्ति की दो भूलो मे से पहिली पहिले से चली आने वाली है और दूसरी भूल है प्रेस की। श्री गांधी ने मेहसाना की आवृत्ति मे आते "आसी" इस दीर्घ 'ई' कारात क्रियापद को शुद्ध ठहराने का प्रयत्न किया है। प्राकृत भाषा मे ऐसे ह्रस्व-दीर्घ विषयक प्रयोग होते ही

इत्यादि वाक्यों में ह्रस्व इकार का ही प्रयोग विशेष आता है। "भविता शान्तिस्तव" भी सूत्रकालीन है इसलिए 'ह्रस्व इकारान्त' ही 'भासि' होना चाहिए और प्रबोध टीकाकार ने भी यह ह्रस्व इकारान्त प्रयोग ही स्वीकार किया है। श्री गांधी को इसके सम्बन्ध में इतना लिखने की क्या आवश्यकता पड़ी यह हमारी समझ में नहीं आता।

नं० ३४ से ४४ पर्यन्त की ग्यारह भूलें हमने दिखाई हैं उनका विवरण यह है—'उद्योत' इस शब्द में उत् उपसर्ग और 'द्योत' शब्द होने से 'उद्द्योत' इस प्रकार द्वयम "दकार" होना चाहिए परन्तु छपा एक है। यह व्याकरण की भूल सुधरनी चाहिए। 'भूमण्डल आयतन' निवासी यह पाठ प्रबोध टीका के सम्पादकों का स्वीकृत पाठ है। परन्तु हमारी राय में 'भूमण्डलायतने निवासी' पाठ होना चाहिए। आयतन शब्द जैन-शास्त्र में पारिभाषिक माना है और इसका अर्थ 'धर्मस्थानक' ऐसा होता है अर्थात् 'भूमण्डले आयतन निवासी' यह पाठ खरा माना जायगा तो साधु-साध्वियों तो ठीक पर श्रावक श्राविका का स्थान आयतन नहीं माना गया और इससे इन दोनों का निर्देश निरर्थक ठहरेगा। शान्ति के टीकाकार श्री हर्षकीर्ति सूरि ने आयतन का अर्थ "स्व स्व स्थान" ऐसा जो किया है वह शास्त्र की दृष्टि से भूल भरा है। जैन सिद्धान्त में गृहस्थ के घर को जिसमें वे खुद रहते हों उसको आयतन नहीं माना। "आयतन" का अर्थ "जिन मन्दिर" अथवा 'जैन साधु साध्वियों के रहने के स्थान' ऐसा होता है। आयतन का उक्त अर्थ होने से 'भूमण्डले आयतन निवासी' यह पाठ आपत्तिजनक ठहरेगा इस वास्ते भूमण्डल को ही आयतन मानकर वार्तिककार ने उस पर रहने वाले साधु साध्वी आदि चतुर्विध संघ का नाम निर्देश किया है। "शाम्यन्तु २ इस पाठ का बचाव करते हुए श्री गांधी लिखते हैं कि प्राचीन पोथी में 'शाम्यन्तु शाम्यन्तु' ऐसा पाठ मिलता होने से प्रकाशित किया है। गांधी के इस बचाव को हम विश्वसनीय नहीं मानते कारण कि जिन हर्षकीर्ति सूरि के वचनों पर वे इतना विश्वास रखते हैं वे ही हर्षकीर्ति 'शाम्यन्तु' इस क्रियापद को 'डमरुक न्याय से दो तरफ जोड़ने का उल्लेख करते हैं। यदि उनके पास वाले पुस्तक में 'शाम्यन्तु २

ऐसा द्वित्व पाठ होता तो उनको डमरुक न्याय लगाने की आवश्यकता ही न रहती। इससे जाना जाता है कि प्राचीन पोथी का नाम आगे करके गाधी अपना बचाव मात्र करना चाहते हैं। वादिवेतालीय अर्हदभिषेक विधि का हमने जिस प्राचीन प्रति पर से सम्पादन किया है उसमे—

"श्रीसघजगज्जनपद,—राज्याधिपराज्यसन्निवेशानाम् ।
गोष्ठी-पुर-मुख्याणा, व्याहरणैर्व्याहरेच्छान्तिम् ॥"

—यह आर्या लिखी है, जिसमे राज्याधिप, राज्यसन्निवेश, गोष्ठी, पुरमुख्य, ये शब्द प्रयुक्त होते हैं और उसके पजिकाकार ने भी यही पाठ मान्य रक्खा है। वास्ते राजाधिप, —राजसन्निवेश, गौष्ठिक, पौरमुख्य, इन शब्दप्रयोगो को हमने अशुद्ध बताया है, कारण कि प्रस्तुत शान्ति ही अभिषेककार की है इसलिए उनके शब्द ही शुद्ध माने जाने चाहिए। अब रही 'तित्थयर माया' की वात, सो पहले तो यह गाथा शान्तिकार की कृति नही है, किन्तु पीछे से किसी ने जोडकर शान्ति के पीछे लगा दी है और इसमे आने वाला "तित्थयर" यह शब्द किसी ने घुसेड दिया है, क्योकि स्वर्गस्थित तीर्थङ्कर माता श्री शिवादेवी का इस शान्ति के साथ कोई सम्बन्ध किसी भी प्रमाण से साबित नही होगा। किन्तु आवश्यक चूर्णि मे कही हुई एक घटना पर से इस वस्तु का सम्बन्ध उज्जेणी के राजा "चण्डप्रद्योत" की पट्टरानी "शिवादेवी" के साथ हो सकता है। अभय-कुमार चण्डप्रद्योत के तावे मे था, उस समय की घटना है कि उज्जयिनी मे महामारी फैल गई थी। प्रतिदिन सैंकडो मनुष्य मरते थे, तब इस महामारी की उपशान्ति के लिए अभयकुमार को चण्डप्रद्योत ने उपाय पूछा। अभयकुमार ने कहा—व्यन्तर देवियो का उपद्रव है, जो राजा की मुख्य पट्टरानी शिवादेवी महलो पर की चादनी मे खडी रह कर व्यन्तरियो को अपने हाथ से बलि-क्षेप करे तो महामारी का उपद्रव शान्त हो सकता है। उपर्युक्त अभयकुमार की सलाह के अनुसार वलि तैयार करा कर रानी शिवादेवी महल पर चढ़कर जिस जिस दिशा मे से व्यन्तरी शिवारूप से बोलती रानी उसके मुख मे वलिक्षेप करती और वहा 'अर्हं सिवागोवालय-

माया' ये शब्द बोलती और व्यन्तरी के मुख में प्रक्षेप करती । इस घटना और उस पर बोले गये शब्दों पर से किसी ने—

> मह गोवालयमाया सिवादेवी तुम्ह नयरनिवासिनी ।
> ग्रम्ह सिवं तुम्ह सिवं असिवोवसम सिवं भवतु स्वाहा ॥

यह गाथा जोड़ दी और कालान्तर में यह शान्तिपाठ के अन्त में लिख भी गई । बाद में किसी संशोधक ने उल्लिखित सिवा' को यदु प्रद्योत की पट्टरानी न समझ के नेमिनाथ की माता मानकर 'गोवालय' के स्थान में 'तित्थयर' शब्द जोड़ दिया । श्री गांधी उत्कंठा पूर्वक श्री हर्षकीर्ति की टीका का पाठ लिखकर कहते हैं कि—,हर्षकीर्ति सूरि भी 'तित्थयर' माता लिखते हैं । श्री गांधी को शायद खबर न होगी कि श्री हर्षकीर्ति सूरि कोई श्रुतधर या गीतार्थ आचार्य नहीं थे । किन्तु सत्रहवें सैके के कतिपय यतियों के अग्रेसर आचार्य नामधारी यती थे जो परिग्रह धारी होकर दवा-दारू का व्यवसाय करते थे । इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह प्रमाण है यह मान लेने की आवश्यकता नहीं है । ,हर्षकीर्ति के उक्त कथन से इतना ही प्रमाणित हो सकता है कि तित्थयरमाया' यह भूल हर्षकीर्ति के समय के पहिले की है ।

नं ४५–४६ ये दोनों भूलें संतिकर स्तव' की हैं जो अन्य किसी प्रकार से पाठ-साम्य से किसी ने इसमें यह पाठ ले लिया है । मालूम होता है श्री गांधी भी श्री सोमतिलक सूरि के सप्ततिशत स्थानक' प्रकरण में 'मसुआसर कुमारो' तथा मरुस्तुदत्त'' यह पाठ होना स्वीकार करते हैं तब इसके विरोध में इतना ऊहापोह करने की क्या आवश्यकता थी और १४६७ में लिखी हुई प्राचीन पोथी के अनुसार छपा हुआ पाठ है -ऐसा संस्मरण है । यह सदिग्ध वचन लिखने की क्या जरूरत थी ? यह हम समझ नहीं सकते हमने यह पाठ लगभग पन्द्रहवें सैकड़े के अन्त में या तो सोलहवें सैके की आदि में लिखे हुए एक जीर्ण पत्र के आधार पर सुधारा है । गांधी को यदि चौदह सौ सत्तानवें में लिखी हुई पोथी में यह छपा

हुआ पाठ देखा हो तो निशकता से जाहिर करे। हम भी उनके कथन पर फिर विचार करेंगे।

न० ४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३ ये भूले प्रत्याख्यानो के पाठो की हैं। इनकी सख्या सात लिखी है, पर वास्तव मे सब भूलें गिनने पर १३ होती हैं, क्योकि कोई दो बार और कोई चार बार आई हुई हैं। इन भूलो के सम्बन्ध मे लिखते हुए श्री गाधी कहते हैं कि प्रत्याख्यान मे अनेक पाठान्तर है, पर यह उनकी एक कल्पना मात्र है। ऊपर बताई हुई भूलो मे कोई भी भूल पाठान्तर रूप नही परन्तु वास्तविक अशुद्धि है। 'बहुलेवेण' इस भूल को वे वृत्ति के आवार पर शुद्ध पाठ मानते हैं, परन्तु उस वृत्ति का कर्त्ता कौन और उस वृत्ति का नाम क्या? यह कुछ भी नही लिखा। इससे मालूम होता है कि यह आपने अपने बचाव का उपाय खोजा है। इन भूलो को कोई भी टीकाकार पाठान्तर के रूप मे भी शुद्ध नही मानेंगे, क्योकि पानी के "छ आकारो मे दो दो आकार एक दूसरे के प्रतिस्पर्वी" हैं। "लेवेण, अलेवेण, अच्छेण, बहलेण, ससित्थ, असित्थ" ये दो दो शब्द एक दूसरे पानी की भिन्नता बताते हैं, इसलिए "लेप" शब्द "अलेव" के साथ आ गया है। फिर "बहुलेव" शब्द को इस स्थल पर अवकाश नही रहता और "बहुलेव" वाला पानी प्रत्याख्यान मे कल्प्य भी नही है। अत "बहुलेव" यह शब्द अशुद्ध है। अगर किसी अर्वाचीन भाषान्तरकार ने स्वीकार भी किया हो तो भूल ही मानी जायगी। सूत्रो तथा प्राचीन प्रत्याख्यान सम्बन्धी प्रकरणो मे सर्वत्र "बहलेण" यह ही पाठ दृष्टिगोचर होता है। भाषा मे "साढ" प्रयोग नही हो सकता; "ठ" के द्वित्व वाला "साड्ढ" यह प्रयोग भूल भरा है। प्राकृत मे 'सड्ढ' यह प्रयोग ही शुद्ध है। प्राकृत मे "पच्चक्ख" शब्द लिखने की कुछ भी जरूरत नही होती। सस्कृत भाषा मे ह्रस्व के आगे 'छ' को द्वित्व 'च्छ' करने की जरूरत होती है, प्राकृत मे नही। न० ५० भूल की गाधी ने चर्चा नही की, इससे मालूम होता है कि वह इनको मजूर है। न० ५२ की भूल श्री गाँधी ने स्वीकार करली है, इससे इसके सम्बन्ध मे कुछ भी नही लिखा। न० ५३ की भूल 'पाणहार' को गाधी प्रवाहपतित मानकर

इसका बचाव करते हैं। उपयोगशून्यता से प्रचलित हुई इन भूलों का सुधार न कर बचाव करना यह सचमुच ही जड़ता है।

म० ५४–५५–५६ ये तीन भूलें पौषध प्रत्याख्यान की हैं। इन भूलों का बचाव करते हुए श्री गांधी लिखते हैं कि 'ठामि काउसग्गं' इसमे जैसे 'काउसग्ग' शब्द को द्वितीया विभक्ति लगाई है वैसे 'पोसहं' शब्द को भी द्वितीया विभक्ति लगाकर 'पोसहं' किया यह कुछ गलत नहीं है परन्तु श्री गांधी को शायद यह खबर नहीं है कि 'ठामि काउसग्गं' यह प्रयोग सौत्र है। इसी से टीकाकारों ने अकर्मक 'ठा' धातु को सकर्मक 'कृञ्' धातु के अर्थ में मानकर इस प्रयोग का निर्वाह किया है। पौषध प्रत्याख्यान यह सामाचारीगत प्राकृत पाठ है इसमें द्वितीया लगाकर जानबूझ कर अलाक्षणिक पाठ बनाना अनुचित है 'आचारविधि' "पौषध प्रकरण" आदि में "चउव्विहे पोसहे" ऐसा ही पाठ मिलता है जिसको बिगाड़ कर प्रबोध टीका के संशोधकों ने भूलें खड़ी की हैं। 'भन्ते' पाठ के व्याकरण का वैकल्पिक रूप मानकर गांधी बचाव करते हैं परन्तु वास्तव में सूत्र के प्रकरणों में ऐसा प्रयोग ग्रहण नहीं किया। क्योंकि कितने ही स्वयं पढ़ करके पौषध ग्रहण करते हैं। व्याकरण ज्ञान के अभाव में उनको 'भन्ते' जैसे शब्द अशुद्ध उच्चारण की तरफ ले जाएँगे। अतः 'भन्ते' इसी प्रयोग को स्वीकार करना चाहिए। 'कम्प्रावतसक' का रूप 'चन्दवडिसो' यह भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं माना जाता। कितने ही स्थलों में ऐसे प्रयोग देखने में आते हैं पर वे प्रचलित भूल का परिणाम मात्र हैं। ऐसे प्रयोगों को लाक्षणिक सिद्ध करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः 'चन्दवडसो' यही प्रयोग शुद्ध है यह मानना चाहिए।

म० ५७–५८–५९–६०–६१ इन संथारा पोरिसि की भूलों में से प्रथम भूल के विषय में गांधी अमुक ग्रन्थों का हवाला देकर उसको "कुक्कुडि" ऐसे रूप में शुद्ध ठहराना चाहते हैं परन्तु वास्तव में अर्वाचीन ग्रन्थों में देखा जाता 'कुक्कुडि' यह शब्द प्रयोग शुद्ध नहीं है क्योंकि स्त्री वाचक 'कुक्कुटी' शब्द को मानेंगे तो वह कुक्कुडी ऐसा स्त्री प्रत्ययान्त दीर्घ होने

की आपत्ति आती है और ऐसा होने से छन्दोभग होगा। "श्री तिलकाचार्य कृत सामाचारी" आदि ग्रन्थो मे जहा सथारा पोरिसी की गाथायें दी गई हैं वहा 'कुक्कुड' शब्द का ही प्रयोग किया है। गाथान्तरो मे 'कुक्कुड' अथवा 'कुक्कुडि' शब्द भी हो सकता है, परन्तु प्रस्तुत गाथा मे तो 'कुक्कुड' शब्द प्रयोग ही शुद्ध है। 'कुक्कुडि' का स्वीकार करने से लाक्षणिक भूल आती है और लाक्षणिक भूल को बचाने से छन्दोभग होता है, यह पहिले ही कह चुके हैं। हमारे पास के अतिप्राचीन पन्ने मे लिखी हुई सथारा पोरिसी मे भी "कुक्कुड" ऐसा ही पाठ मिलता है और उसी पन्ने मे "अतरत नही" पर "अतरन्तु" प्रयोग लिखा हुआ है, जो यथार्थ है क्योकि अलाक्षणिक विभक्ति का लोप मानने से भी छन्दोभग टालने के लिए दीर्घ स्वर को ह्रस्व बनाना यह विशेष उचित माना जायगा। यह कर्मणि प्रयुक्त सौत्र क्रियापद है और उन अष्टादश पाप-स्थानो को आत्मा ने छोड़ा उसका इस क्रियापद से सूचन किया है, न कि इस पद से 'बोसिरसु'। आत्मा किसी को पाप-स्थानको के त्याग का उपदेश करता है। अगली गाथा के साथ इस गाथा का सम्बन्ध होने का कथन भी गाधी की कल्पना मात्र है। अगली गाथा मे सूत्रकार आत्मा को अेकत्व भावना मे उतार कर अनुशासन करने का उपदेश करते हैं, इसीलिए "अनुसासइ" नही पर "अणुसासअे" ऐसा विध्यर्थक क्रियापद जोड़ा है। गाधी "मुज्झह वईर न भाव" इस भ्रान्त पाठ का बचाव करते हुए "आचार दिनकर" तथा चौदहवी शती की ताडपत्रीय पोथी की गाथा लिखकर कहते हैं कि इसमे "न मह वइरु न पाओ" "नइ मह वइरु न पावु" ऐसा पाठ होने का सूचन करते हैं, परन्तु इन दोनो गाथाओ के चरण मे "अतिम" शब्द "पाओ" अथवा "पावु" शब्द है, "भाव" शब्द नही। गाधी को अगर यह पाठ यथार्थ लगा होता तो भाव के स्थान पर 'पाव' शब्द को स्वीकार किया होता। केवल अपने शब्द प्रयोगो को खरा ठहराने के लिए अन्यार्थवाचक शब्द का प्रमाण देने से यह पाठ शुद्ध नही ठहर सकता।

न० ६२-६३ सकलतीर्थ मे आते "अडलख" तथा "अतरीख" आदि भाषा के शब्दो को द्वित्व व्यजनो द्वारा भारी बनाने की कुछ भी जरूरत

नहीं थी कारण कि प्राचीन भाषा पर से किसी भी अर्वाचीन भाषा का निर्माण होता है। पर श्री गांधी अर्वाचीन भाषा के प्रचलित शब्दों को प्राचीन भाषा की तरफ खींचकर उलटी गंगा बहाते हैं।

'अपने आवश्यक सूत्रों में बसती हुई अशुद्धियाँ' इस शीर्षक के नीचे हमने बताई हुई अशुद्धियों का विवरण और गांधी लालचन्द भगवान् की 'शुद्धिविचारणा' की मीमांसा ऊपर लिखे अनुसार है। शुद्धिविचारणा में गांधी ने अनेक स्थलों में आन्तर विषयों पर लक्ष्य देकर कुछ वर्णन किया है। उस पर हमें कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है परन्तु कुछ बातें इन्होंने ऐसी लिखी हैं कि जिनका उत्तर देना भी आवश्यक है।

अजितशान्ति के छन्दों के सम्बन्ध में हमारी टीका श्री गांधी को कुछ कटु ज्ञात हुई होगी इससे वे पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टान्त देकर छन्द आदि के संशोधन का सम्पादकों को अधिकार होने की बात करने निकले हैं सो तो ठीक है अधिकारी के लिए अधिकार होना बुरा नहीं। आधुनिक अथवा तो मध्यकालीन छन्दःशास्त्र के छन्दों द्वारा अजितशान्ति के छन्दों की तुलना कर उनमें अशुद्धियाँ बताने का संशोधकों को अधिकार नहीं था। 'प्राकृत छन्दःशास्त्र' में एक ही नाम के भिन्न २ लक्षण वाले छन्द होते हैं। इस स्थिति में नाम सादृश्य का लेकर एक का लक्षण दूसरे उसी नाम के छन्दों में घटाने में भूल का विशेष संभव रहता है। अजितशान्ति के निर्माण-काल में बने हुए किसी प्राकृत छन्द शास्त्र के संशोधकों को हाथ लगने की भी बात इन्होंने कहीं लिखी नहीं है इससे भी छन्दोविषयक हमारी टीका यथास्थान थी। यूरोपियन छन्द आदि की मीमांसा करके उसमें से कुछ तत्त्व निकालते हैं। छन्दों पर से कृति का निर्माण समय अनुमित करते हैं। व्याकरण आदि के प्रयोगों पर से भी वे कृति की प्राचीनता अर्वाचीनता का पता लगाते हैं। प्रबोध टीका के संशोधकों ने ऐसी लाइन से छन्दो-विषयक चर्चा की होती तो हमको कुछ भी कहना नहीं था पर इन्होंने तो अर्वाचीन छन्द शास्त्र के आधार से प्राचीन छन्दों की परीक्षा करके कितने ही स्थलों में गाथाओं का भंग भंग कर दिया है इससे हमें कुछ लिखना पड़ा है।

मूल सूत्रों में अन्तःशीर्षक तथा गुरुप्रति-वचन :

मूल सूत्रो मे अन्त शीर्षको और गुरुप्रति वचनो को दाखिल करने का हमने विरोध किया। उसका बचाव करते हुए श्री गाधी कहते है कि "प्राचीन टीकाकार ऐसा करते आये हैं", यह उनका कथन केवल भ्रान्त है। प्राचीन किसी भी टीकाकार ने अन्त शीर्षक अथवा तो गुरु-प्रति वचन मूल पाठ मे दाखिल नही किये। लेखको की अज्ञानता से मूल टीका के साथ वैसा कही लिखा गया हो तो बात जुदी है, बाकी टीकाकारो का कर्त्तव्य तो टीकाओ मे प्रत्येक सूत्र का रहस्य प्रकट करने का होता है। अष्टाग-विवरणकार की तरह विधि मे लिखने की बात मूल मे मिलाकर विकृति उत्पन्न करने का नही। पूर्व टीकाकारो के नाम लेकर गाधी का यह बचाव बिल्कुल पगु है, इसी प्रकार लघुशान्ति मे दिये हुए अन्त.शीर्षक पुस्तक-पाठियो के लिए असुविधाजनक है। परन्तु जहा लेखको को अपना तान्त्रिक ज्ञान बताने की उत्कठा हो वहा इनको वाचको की सुविधा-दुविधा का विचार न आये यह स्पष्ट है।

उपसहार :

हमारे पूर्व लेख मे "आयरिय उवज्झाए" आदि सूत्रो मे टीकाकारो के दिये हुए पाठान्तर का समन्वय करने की हमने गीतार्थों को विज्ञप्ति की थी। जिसका प्रबोध टीका या उसके सशोधको के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही था, फिर भी अस्थापित-महत्तर बनकर श्री गाधी ने अपने अधैर्य का प्रदर्शन कराया यह अनावश्यक था। गाधी गीतार्थ या गीतार्थों के प्रतिनिधि नही हैं, तब इनको इसमें झुक पडने की जरूरत क्यों पडी? यह हम समझ नही सकते। हम चाहते हैं कि श्री गाधी ऐसी अनधिकृत प्रवृत्तियो मे पडने का मोह छोडेंगे तो अपनी मर्यादा को बचा सकेंगे।

यहाँ भी हम गीतार्थ वर्ग को विज्ञप्ति करते हैं कि ऊपर हमने जो शुद्धि-पत्रक दिया है वह प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण सूत्र के मूल की अशुद्धियो का है। इसकी टीका में जैन शैली के विरुद्ध अनेक भूलें होने

का संभव है इसी प्रकार प्रतिक्रमण सूत्र का विस्तृत विवरण लिखवा कर महेसाणा श्री जैनश्रेयस्कर मण्डल ने बड़े पोथड़े के रूप में प्रकाशित किया है उसमें भी हमने जैन शैली के विरुद्ध कितनी ही भूलें देखी हैं। इसलिए इन दोनों पुस्तकों के भाषा-विवरणों में परिमार्जन करना चाहिए अन्यथा इनमें रही हुई भूलें जैन शैली का रूप धारण करेंगी और पढ़ने वाले भ्रमणा में पड़ेंगे।

परिशिष्ट १

आवश्यक क्रिया के सूत्रों में अशुद्धियाँ

❖

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
लोगस्स मे	
विहुयरयमला	विहूयरयमला
जगचिंतामणि मे :	
समहृण	समणह
मुहरिपास	महुरिपास
दिसिविदिसि	दिसिविदिसिंकेवि
अट्ठकोडिओ	अट्ठकोडीओ
उवसग्गहर मे ·	
भत्तिब्भर	भत्तिभर
जयवीयराय मे	
दुक्खक्खओ	दुक्खखओ
कम्मक्खओ	कम्मखओ
पुक्खरवरदीवड्ढे मे :	
धायईसडे अ	धायइसडे अ
जबुदीवे अ	जबूदीवे अ
जाइजरा	जाईजरा
स्सब्भुअ	स्सब्भूअ
सातलाख मे :	
जीवायोनि	जीवयोनि

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
संतितु में :	
चऊहि	चउहिं
मणुम्मयाण	मणुअयाणं
उवभोग-परीभोगे	उवभोगे-परिभोगे
मज्झ	मज्झं
निविम्मय	निविडं
एवमइ	एवं मइ
दुगछिउं	दुगंछिमं
भवणदेवता स्तुति में :	
भुवन	भवन
भुवण	भवण
भुवम	भवम
अड्ढाइज्जेसु में	
पनरससु	पनरससु
केवि	केइ
साहु	साहू
पडिग्गहधारा	पडिग्गहधरा
°व्वयधारा	°व्वयधरा
मीलंगधारा	सीलंगधरा
लघुशान्ति में	
निवृ ति	निवृ ति
हहिनां	ह्रीनां
चउक्कसाय में :	
गुगुमुरणु	गुगुमुरणु
भरहेसर-बाहुबलि-सज्झाय मे :	
धन्निमहो	धन्नमहो

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
विलयजति	विलिज्जति
थूलिभद्दस्स	थूलभद्दस्स
मन्नहजिणाणं सज्झाय में :	
मण्ह	मण्णह
उज्जुत्तो	उज्जुत्ता
होइ	होह
समिइ	समिई
गुरुथुअ	गुरुथुइ
करूणा	करुणा
सकलार्हत् में :	
मल्ली	मल्लि
राजार्चिताना	राजार्चितानां
प्रदोपानलो	प्रदीपानिलो
स्नातस्या स्तुति	
जिन	जिनः
हसासाहृत	हसासाहृत
अतिचारों मे :	
वच्छल	वच्छल्ल
नाण	ण्हाण
समसलेहण	सम्मसलिहण
पन्नर	पनर
तप	तव
अजितशांति स्तव मे :	
लक्खणोवचि अ	लक्खणोवचि अ
बृहच्छान्ति मे :	
राजाधिप	राज्याधिप

अशुद्ध पाठ—	शुद्ध पाठ—
राजासनिवेशानाम्	राज्यसंनिवेशानाम्
श्री राजाधिपानां	राज्याधिपानां
श्री राजसंनिवेशाना	राज्यसंनिवेशानां
श्री पौर-मुख्याणां	श्री पुरमुख्याणां
मस्तकेशातव्यमिति	मस्तके प्रदद्याविति
भवन्तु लोका	भवतु लोक

प्रतिक्रमण प्रबोध टीका का प्रथम भाग प्रकाशित होने के पूर्व तीसरे वर्ष में यह शुद्धिपत्रक मेहसाना के संस्करण के आधार से तैयार किया था। उक्त शुद्धि-पत्रक की ५६ अशुद्धियों में से कुछ प्रबोध टीका कारों ने सुधारी हैं वैसे कुछ नयी घुसेड़ी हैं। प्रबोध टीका वाले प्रतिक्रमण में कुल ६४ अशुद्धियों का मधु माता है।

निबन्ध-निचय

द्वितीय खण्ड

卐 卐

ऐतिहासिक तथा

समालोचनात्मक लेख संग्रह

卐

: २० :

प्राचीन जैन तीर्थ

❖

लेखक—पं॰ कल्याणविजय गणि

उपक्रम :

पूर्वकाल मे "तीर्थ" शब्द मौलिक रूप मे "जैन प्रवचन" अथवा "चातुर्वर्ण्य संघ" के अर्थ मे प्रयुक्त होता था ऐसा जैन आगमो से ज्ञात होता है। जैन प्रवचनकारक और जैन-सघ के स्थापक होने से ही "जिन-देव" "तीर्थङ्कर" कहलाते हैं।

"तीर्थ" का शब्दार्थ यहाँ "नदी समुद्र से बाहर निकलने का सुरक्षित मार्ग" होता है। आज की भाषा मे इसे "घाट" और "बन्दर" भी कह सकते हैं। जैन शास्त्रो मे "तीर्थ शब्द" की व्युत्पत्ति "तीर्यंते ससारसागरो येन तत् तीर्थम्" इस प्रकार से की गई है। ससार-समुद्र को पार कराने वाले "जिनागम" को और "जैन श्रमण सघ" को "भाव-तीर्थ" बताया गया है। तब नदी-समुद्रो को पार कराने वाले तीर्थों को "द्रव्य-तीर्थ" माना है।

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त जैन आगमो मे कुछ और भी तीर्थ माने गए हैं, जिन्हे पिछले ग्रन्थकारो ने "स्थावर तीर्थो' के नाम से निर्दिष्ट किया है और वे दर्शन की शुद्धि करने वाले माने गए हैं। इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचाराङ्ग, आवश्यक आदि सूत्रो की "निर्युक्तियो" मे मिलता है जो मौर्य राज्यकाल से भी प्राचीन ग्रन्थ हैं।

जैन स्थावर तीर्थों मे अष्टापद (१), उज्जयन्त (गिरनार) (२), गजाग्रपद (३), धर्मचक्र (४), अहिच्छत्रा-पार्श्वनाथ (५), रथावर्त

पर्वत (६), चमरोत्पात (७) शत्रुंजय (८), सम्मेतशिखर (९) और मथुरा का देवनिर्मित स्तूप (१०) इत्यादि तीर्थों का संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन जैन सूत्रों सूत्रों की निर्युक्तियों तथा भाष्यों में मिलता है। अतः इनको हम सूत्रोक्त तीर्थ कहेंगे।

हस्तिनापुर (१), शोरीपुर (२) मथुरा (३) अयोध्या (४) काम्पिल्य (५), बनारस (काशी) (६) श्रावस्ति (७) क्षत्रियकुण्ड (८) मिथिला (९) राजगृह (१०) अपापा (पावापुरी) (११) भद्दिलपुर (१२) चम्पापुरी (१३) कौशाम्बी (१४), रत्नपुर (१५) चन्द्रपुरी (१६) आदि नगरियाँ भी तीर्थङ्करों की जन्म दीक्षा ज्ञान निर्वाण भूमियाँ होने से जैनों के प्राचीन तीर्थ थे, परन्तु वर्तमान समय में इनमें से अधिकांश विलुप्त हो चुके हैं। कुछ कल्याणकभूमियों में आज भी छोटे, बड़े जिन-मन्दिर बने हुए हैं और यात्रिक लोग दर्शनार्थ भी जाते हैं परन्तु इनका पुरातन महत्त्व आज नहीं रहा। इन तीर्थों को आज भी 'कल्याणक भूमियाँ' कहते हैं।

उक्त तीर्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थान जैन तीर्थों के रूप में प्रसिद्धि पाये थे जो कुछ तो आज नामशेष हो चुके हैं और कुछ विद्यमान भी हैं। इनकी संक्षिप्त नामसूची यह है—प्रभास पाटन-चन्द्रप्रभ (१) स्तम्भतीर्थ-स्तम्भनक पार्श्वनाथ (२) भृगुकच्छ अश्वावबोध-शकुनिका विहार मुनिसुव्रतजी की विहारभूमि (३) सूर्पारक (नाला सोपारा) (४) शंखपुर-शंखेश्वर पार्श्वनाथ (५) नागह्रद-पार्श्वनाथ (६) तारंगा हिल-अजितनाथ (७) अर्बुदगिरि (माउंट आबू) (८) सत्यपुरीय-महावीर (९) स्वर्णगिरीय महावीर (जालोर दुर्गस्थ महावीर) (१०) करहेटक-पार्श्वनाथ (११) विदिशा (भिल्सा) (१२) नासिक्यचन्द्रप्रभ (१३) अन्तरीक्ष-पार्श्वनाथ (१४) कुल्पाक-आदिनाथ (१५) दक्षिगिरि (मुक्तेश्वर) (१६) श्रवणबेलगोला (१७) इत्यादि अनेक जैन प्राचीन तीर्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें जो विद्यमान हैं उनमें कुछ तो मौलिक हैं। तब कतिपय प्राचीन तीर्थों को हम पौराणिक तीर्थ कहते हैं। प्राचीन जैन साहित्य में

वर्णन न होने पर भी कल्पो, जैन चरित्र-ग्रन्थो, प्राचीन स्तुति-स्तोत्रो मे इनका महिमा गाया गया है ।

उक्त वर्गो मे से इस लेख मे हम प्रथम वर्ग के सूत्रोक्त तीर्थो का ही सक्षेप मे निरूपण करेंगे ।

सूत्रोक्त-तीर्थ—

आचाराग निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओ मे प्राचीन जैन तीर्थों के नाम निर्देश मिलते हैं—

"दसण-नाण-चरित्ते, तववेरग्गे य होइ उ पसत्था ।
जाय जहा ताय तहा, लक्खण वुच्छ सलक्खण-ओ ॥३२६॥
तित्थगराण भगवओ, पवयण-पावयणि-अइसयड्ढीण ।
अभिगमण-नमण-दरिसण,-कित्तण सपूअणा थुणणा ॥३३०॥
जम्माऽभिसेय-निक्खमण-चरण नाणुप्पया च निव्वाण ।
दियलोअ - भवण - मदर - नदीसर - भोमनगरेसु ॥३३१॥
अट्ठावयमुज्जिते; गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।
पास-रहावत्तनग चमरुप्पाय च वदामि ॥ ३३२ ॥"

अर्थात्—'दर्शन (सम्यक्त्व) ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य विनय विषयक भावनायें जिन कारणो से शुद्ध बनती हैं, उनको स्वलक्षणों के साथ कहूगा ॥ ३२९ ॥

तीर्थङ्कर भगवन्तो के, उनके प्रवचन के, प्रवचन-प्रचारक प्रभावक आचार्यो के, केवल-मन पर्यव-अवधिज्ञान-वैक्रियादि अतिशायि लब्धिधारी मुनियो के सन्मुख जाने, नमस्कार करने, उनका दर्शन करने, उनके गुणो का कीर्तन करने, उनकी अन्न वस्त्रादि से पूजा करने से; दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य, सम्बन्धी गुणो की शुद्धि होती है ॥ ३३० ॥

जन्म-कल्याणक स्थान, जन्माभिषेक-स्थान, दीक्षा स्थान, श्रमणावस्था की विहारभूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति का स्थान, निर्वाण-कल्याणक

भूमि देवलोक, असुरादि के भवन, मेरुपर्वत, नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तर देवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिन प्रतिमाओं को अष्टापद उज्जयन्त, गजाग्रपद धर्मचक्र, अहिच्छत्रास्थित-पार्श्वनाथ रथावर्त पर्वत, चमरोत्पात इन नामों से प्रसिद्ध जैन तीर्थों में स्थित जिन-प्रतिमाओं को वन्दना करता हूं ॥ ३३१ ॥ ३३२ ॥

निर्युक्तिकार भगवान् ने तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म दीक्षा विहार, ज्ञानोत्पत्ति निर्वाण आदि के स्थानों को तीर्थ स्वरूप मानकर वहां रहे हुए जिन-चैत्यों को वन्दन किया है। यही नहीं परन्तु राजप्रश्नीय जीवाभिगम स्थानांग भगवती आदि सूत्रों में वर्णित देवलोक स्थित असुरभवन स्थित मेरु स्थित नन्दीश्वर द्वीप स्थित और व्यन्तर देवों के भूमिगर्भ स्थित नगरों में रहे हुए चैत्यों की शाश्वत जिन-प्रतिमाओं को भी वन्दन किया है।

निर्युक्ति की गाथा तीन सौ बत्तीसवीं में निर्युक्तिकार ने तत्कालीन भारतवर्ष में प्रसिद्धि पाये हुए सात अशाश्वत जैन तीर्थों को वन्दन किया है जिनमें एक को छोड़कर शेष सभी प्राचीन तीर्थ विच्छिन्नप्राय हो चुके हैं फिर भी शास्त्रों तथा भ्रमण वृत्तान्तों में इनका जो वर्णन मिलता है उसके आधार पर इनका यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जायगा।

(१) अष्टापद :

अष्टापद पर्वत ऋषभदेवकालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा में अवस्थित था। भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे और अयोध्यावासी राजा-प्रजा उनकी धर्म सभा में दर्शन-वन्दनार्थ तथा धर्म-श्रवणार्थ जाते थे परन्तु वर्तमान कालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में ऐसा कोई पर्वत आज दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे अष्टापद" माना जा सके। इसके अनेक कारण ज्ञात होते हैं पहला तो यह कि भारत के उत्तरदिग्विभाग में रही हुई पर्वत श्रेणियां उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नहीं थीं जितनी आज हैं।

दूसरा कारण यह है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव, उनके गणधरो तथा अन्य शिष्यो का निर्वाण होने के बाद देवताओ ने "तीन स्तूप" और चक्रवर्ती भरत ने "सिंह निषद्या" नामक जिनचैत्य बनवाकर उसमे चौबीस तीर्थङ्करो की वर्ण तथा मानोपैत प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवा के, चैत्य के चारो द्वारो पर लोहमय यान्त्रिक द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नही, पर्वत को चारो ओर से छिलवाकर सामान्य भूमिगोचर मनुष्यो के लिए, शिखर पर पहुचना अशक्य बनवा दिया था। उसकी ऊँचाई के आठ भाग क्रमश· आठ मेखलायें बनवाई थी और इसी कारण से इस पर्वत का 'अष्टापद' यह नाम प्रचलित हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाण स्थान के दुर्गम बन जाने के बाद, देव, विद्याधर, विद्याचारण लब्धिधारी मुनि और जङ्घाचारण मुनियो के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थ अष्टापद पर नही जा सकता था और इसी कारण से भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्मोपदेश-सभा में यह सूचन किया था कि "जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुचता है वह इसी भव मे ससार से मुक्त होता है।"

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रो ने अष्टापद पर्वत स्थित जिनचैत्य, स्तूप आदि को अपने पूर्वज वंश्य भरत चक्रवर्ती के स्मारको की रक्षार्थ उनके चारों तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गगा के जल प्रवाह से भरवा दिया था। ऐसा प्राचीन जैन कथा साहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त अनेक कारणो से हमारा "अष्टापद तीर्थ" कि जिसका निर्देश आचाराग निर्युक्ति मे सर्वप्रथम किया है, हमारे लिए आज अदर्शनीय और लुप्त बन चुका है।

आचाराग निर्युक्ति के अतिरिक्त "आवश्यक निर्युक्ति" की निम्नलिखित गाथाओ से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है—

"अह भगव भवमहणो, पुव्वाणमणूणग सयसहस्स।
अणुपुव्वी विहरिऊण, पत्तो अट्ठावय सेल ॥४३३॥

अट्ठावयम्मि सेले चउदस भत्तेण सो महरिसीणं ।
दसहि सहस्सेहिं समं निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४३४॥

निव्वाणं चिइगागिई जिणस्स[1] इक्खाग[2] सेसयाणं च ।
सकहा[1] थूभजिणहरे[1] जायग[1] तेणाहिअग्गिमित्ति ॥४३५॥

तब संसार-वृक्ष का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख वर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुँचे और छः उपवास के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए ॥ ४३३ ॥ ४३४ ॥

भगवान् और उनके शिष्यों के निर्वाणानन्तर चतुर्निकायों के देवों ने आकर उनके शवों के अग्निसंस्कारार्थ तीन चिताएँ बनवाई । एक पूर्व में गोलाकार चिता तीर्थङ्करशरीर के दाहार्थ, दक्षिण में त्रिकोणाकार चिता इक्ष्वाकु वंश्य गणधर आदि महामुनियों के शव-दाहार्थ और पश्चिम दिशा की तरफ चौकोण चिता शेष श्रमणगण के शरीरसंस्कारार्थ बनवाई और तीर्थङ्कर आदि के शरीर यथास्थान चिताओं पर रखकर अग्निकुमार देवों ने उन्हें अग्नि द्वारा सुलगाया । वायुकुमार देवों ने वायु द्वारा अग्नि को तेज किया और चर्म मांस के जल जाने पर मेघकुमार देवों ने जल-वृष्टि द्वारा चिताओं को ठण्डा किया । तब भगवान् के ऊपरी बायें जबड़े को शक्रेन्द्र ने दाहिनी तरफ की ईशानेन्द्र ने तथा निचले जबड़े की बायीं तरफ की चमरेन्द्र ने और दाहिनी तरफ की दाढ़ायें बलीन्द्र ने ग्रहण कीं । इन्द्रों के अतिरिक्त शेष देवों ने भगवान् के शरीर की अन्य अस्थियाँ ग्रहण कर लीं तब वहाँ उपस्थित राजादि मनुष्यगण ने तीर्थङ्कर तथा मुनियों के शरीरदहन स्थानों की भस्मी को भी पवित्र जानकर ग्रहण कर लिया । चिताओं के स्थान पर देवों ने तीन स्तूप बनवाये और भरत चक्रवर्ती ने चौबीस तीर्थङ्करों की वर्ण-मानोपेत सपरिकर मूर्तियाँ स्थापित करने योग्य 'जिन-गृह' बनवाये । उस समय जिन मनुष्यों को चिताओं से अग्नि भस्मादि नहीं मिला था उन्होंने उसकी प्राप्ति के लिए देवों से बड़ी नम्रता के साथ याचना की जिससे इस अवसर्पिणी काल में 'याचक' शब्द

प्रचलित हुआ। "चिताकुण्डो मे अग्नि-चयन करने के कारण तीन कुण्डों मे अग्नि स्थापना करने का प्रचार चला और वैसा करने वाले "आहिताग्नि" कहलाये।

उपर्युक्त सूत्रोक्त वर्णन के अतिरिक्त भी अष्टापद तीर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वृत्तान्त सूत्रो, चरित्रो तथा प्रकीर्णक जैन-ग्रन्थो मे मिलते हैं, परन्तु उन सब के वर्णनो द्वारा लेख को बढाना नही चाहते।

(२) उज्जयन्त[१] :

"उज्जयन्त" यह गिरनार पर्वत का प्राचीन नाम है। इसका दूसरा प्राचीन नाम "रैवतक" पर्वत भी है। "गिरनार" यह इसका तीसरा पौराणिक नाम है जो कल्पो, कथाओ आदि मे मिलता है।

उज्जयन्त तीर्थ का नामनिर्देश आचाराग निर्युक्ति में किया गया है जो ऊपर बता आए हैं। इसके अतिरिक्त कल्प-सूत्र, दशाश्रुत-स्कन्ध, आवश्यक सूत्र आदि मे भी इसके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्र मे इस पर भगवान् नेमिनाथ की दीक्षा, केवलज्ञान तथा निर्वाण नामक तीन कल्याणक होने का प्रतिपादन किया गया है। आवश्यक सूत्रान्तर्गत सिद्धस्तव की निम्नोद्धृत गाथा मे भी भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक होने का सूचन मिलता है, जैसे—

"उज्जितसेलसिहरे, दिक्खा नाण निसीहिआ जस्स।
त धम्मचक्कवट्टि, अरिट्ठनेमि नमसामि ॥ ४ ॥"

अर्थात्—'उज्जयन्त पर्वत के शिखर पर जिनकी दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुआ उन धर्मचक्रवर्ती भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार करता हूँ।'

---

१ दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थकारो ने "उज्जयन्त" के स्थान में इसका नाम "ऊर्जयन्त" लिखा है।

सिद्धस्तव की यह तथा इसके बाद की "चत्तारिअट्ठ" ये दोनों गाथायें प्रक्षिप्त मालूम होती हैं। परन्तु ये कब और किसने प्रक्षिप्त कीं यह कहना कठिन है। प्रभावक-चरितान्तर्गत आचार्य 'बप्पभट्टि' के प्रबन्ध में एक उपाख्यान है, जिसका सारांश यह है—

'एक समय शत्रुंजय-उज्जयंत तीर्थ की यात्रा के लिए 'राजा आम संघ लेकर उज्जयंत की तलहटी में पहुँचा। वहाँ दिगम्बर जैन संघ' भी आया हुआ था उसने आम को ऊपर जाने से रोका, तब आम के सैनिक बल का प्रयोग करने को उद्यत हुए। बप्पभट्टि सूरि' ने उनको रुकवाकर कहा—धार्मिक कार्यों के निमित्त प्राणी संहार करना अनुचित है। इस झगड़े का निपटारा दूसरे प्रकार से होना चाहिए। आचार्य ने कहा— दो कुमारी कन्याओं को बुलाना चाहिये। श्वेताम्बरों की कन्या दिगम्बर संघ के पास और दिगम्बर संघ की कन्या श्वेताम्बर संघ के पास रखी जाय। फिर दोनों संघों के अग्रेसर धर्माचार्य कन्याओं को तीर्थ का निर्णय करने का प्रमाण पूछें। दोनों संघों के वृद्धों ने उक्त बात को मान्य किया तब आचार्य बप्पभट्टि सूरि ने श्वेताम्बर संघ की तरफ खड़ी दिगम्बर संघ की कन्या के मुख से अम्बिका देवी द्वारा 'उज्जितसेलसिहरे' यह गाथा कहलायी और तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का स्थापित किया।

परन्तु यह उपाख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान् नहीं है क्योंकि आचार्य बप्पभट्टि विक्रम संवत् ८०० में जन्मे थे और नवमी शताब्दी में उनका जीवन व्यतीत हुआ था। तब आचार्य हरिभद्र सूरिजी जो इनके सौ वर्षों से भी अधिक पूर्ववर्ती थे आवश्यकटीका में कहते हैं—

"सिद्धस्तव की आदि की तीन गाथायें नियम पूर्वक बोली जाती है। परन्तु अन्तिम दो गाथाओं के बोलने का नियम नहीं हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि ये गाथाएँ हैं तो प्राचीन फिर भी हरिभद्र सूरिजी ने ही नहीं इनके परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र सूरिजी आदि ने भी अपने ग्रन्थों में यही आशय व्यक्त किया है। इससे ये गाथायें प्रक्षिप्त ही होनी चाहिए।

"उज्जयन्त तीर्थ" के सम्बन्ध मे अन्य भी अनेक सूत्रो तथा उनकी टीकाओं में उल्लेख मिलते है, परन्तु उन सब का यहा वर्णन करके लेख को बढाना उचित न होगा। आचार्य जिनप्रभ सूरि कृत "उज्जयन्त महातीर्थ-कल्प" तथा अन्य विद्वानो के रचे हुए प्रस्तुत तीर्थ के "स्तव" आदि उपयोगी साहित्य के कतिपय उद्धरण देकर इस विषय को पूरा करना ही योग्य समझा जाता है।

उज्जयन्त पर्वत के अद्भुत खनिज पदार्थों से समृद्धिशाली होने के सम्बन्ध मे आचार्य जिनप्रभ ने अपने तीर्थकल्प मे बहुत सी बाते कही है जिनमे से कुछेक मनोरजक नमूने पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिये जाते हैं–

"अवलोअण सिहरसिला,–अवरेण तत्थ वररसो सवइ।
सुअपक्खसरिसवण्णो, करेइ सुब वर हेम ॥ २७ ॥
गिरिपज्जुन्नवयारे, अबिअआसमपय च नामेण ।
तत्थ वि पीआ पुहवी, हिमवाए धमियाए वा होइ वरं हेमं ॥२८॥"

"उज्जितपढमसिहरे, आरुहिउ दाहिणेन अवयरिउ ।
तिण्णि धणुसयमित्ते, पूइकरज बिल नाम ॥३०॥
उग्घाडिड बिल दिक्खिऊण निउणेन तत्थ गतव्व ।
दडसराणि बारस, दिव्वरसो जबुफलसरिसो ॥३१॥"

"उज्जिते नाणसिला, विक्खाया तत्थ अत्थि पाहाणं ।
ताण उत्तरपासे, दाहिणओ अहोमुहो विवरो ॥३६॥
तस्स य दाहिणभाए, दसधणुभूमीइ हिंगुलयवण्णो ।
अत्थि रसो सयवेही, विंधइ सुल्ब न सदेहो ॥३७॥"

"इय उज्जयन्तकप्प, अविअप्प जो करेइ जिणभत्तो ।
कोहाडिकयपणा (स) मो, सो पावइ इच्छिअ सुक्ख ॥४१॥"

(वि० ती० क० पृ० ८)

अर्थात्—'अवलोकन शिखर की शिला के पश्चिम दिग्विभाग में श्रुक की पांख सा हरे रंग का वेधक रस झरता है जो ताम्र को श्रेष्ठ सुवर्ण बनाता है ॥ २७ ॥

उज्जयंत पर्वत के प्रद्युम्नावतार तीर्थस्थान में अम्बिका आश्रम पद नामक वन (उद्यान) है जहां पर पीत वर्ण की मिट्टी पाई जाती है जिसे तेज आग की आंच देने से बढ़िया सोना बनता है ॥ २८ ॥

उज्जयन्त पर्वत के प्रथम शिखर पर चढ़कर दक्षिण दिशा में तीन सौ धनुष अर्थात् बारह सौ हाथ नीचे उतरना। वहाँ पूतिकरञ्ज नामक एक बिल अर्थात् "भू-विवर" मिलेगा उसका खोलकर सावधानी के साथ उसमें प्रवेश करना अड़तालीस हाथ तक भीतर जाने पर लोहे का सोना बनाने वाला दिव्य रस मिलेगा जो जम्बु फल सदृश रंग का होगा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

उज्जयन्त पर्वत पर ज्ञानशिला नाम से प्रख्यात एक बड़ी शिला है जिस पर अष्ट-चैलों का एक जत्था रहा हुआ है। उससे उत्तर दिशा में जाने पर दक्षिण की तरफ जाने वाला एक अधोमुख विवर (गड्ढा) मिलेगा उसमें चालीस हाथ नीचे उतरने पर दक्षिण भाग में हिंगुल जैसा रक्तवर्ण घन-बंधी रस मिलेगा जो तांबे को वेधकर सोना बनाता है। इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जो जिनभक्त कुष्माण्डी (अम्बिका) देवी को प्रणाम करके मन में धक्का लाये बिना उज्जयन्त पर्वत पर रसायनकल्प की साधना करेगा वह मनोभिलषित सुख को प्राप्त करेगा ॥ ४१ ॥

जिनप्रभ सूरि कृत उज्जयन्त महाकल्प के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कल्प और स्तव उपलब्ध होते हैं जो पौराणिक होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। हम इन सब के उद्धरण देकर लेख को पूरा करेंगे।

'खैतक-गिरि-कल्प सक्षेप' मे इस तीर्थ के विषय मे कहा गया है—भगवान् नेमिनाथ ने छत्रशिला के समीप शिलासन पर दीक्षा ग्रहण की। सहस्राम्रवन की ओर अवलोकन नामक ऊँचे शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।

"खैतक की मेखला मे कृष्ण वासुदेव ने निष्क्रमणादि तीन कल्याणको के उत्सव करके रत्न-प्रतिमाओ से शोभित तीन जिनचैत्य तथा एक अम्बा देवी का मन्दिर बनवाया। (वि० ती० क० पृ० ६)

"खैतक-गिरि कल्प मे कहा है—पश्चिम दिशा मे सौराष्ट्र देश स्थित रैवतक पर्वनराज के शिखर पर श्रीनेमिनाथ का बहुत ऊँचे शिखर वाला भवन था, जिसमे पहले भगवान् नेमिनाथ की लेपमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। एक समय उत्तरापथ के विभूषण समान काश्मीर देश से "अजित" तथा "रतना" नामक दो भाई सघपति बनकर गिरनार तीर्थ की यात्रा करने आए और भक्तिवश केसर चन्दनादि के घोल से कलश भरकर उस प्रतिमा को अभिषिक्त किया। परिणामस्वरूप वह लेपमयी प्रतिमा लेप के गल जाने से बहुत ही बिगड गई। इस घटना से सघपति युगल बहुत ही दु खी हुआ और आहार का त्याग कर दिया। इक्कीस दिन के उपवास के अन्त मे भगवती अम्बिका देवी वहा प्रत्यक्ष हुई और सघपति को उठाया। उसने देवी को देखकर 'जय जय' शब्द किया। देवी ने सघपति को एक रत्नमयी प्रतिमा देते हुए कहा—लो यह प्रतिमा ले जाकर बैठा दो, पर प्रतिमा को स्थल पर बैठाने के पहले पीछे न देखना। सघपति अजित सूत के कच्चे धागे के सहारे प्रतिमा को अन्दर ले जा रहा था। वह प्रतिमा के साथ "नेमि भवन" के सुवर्णवलानक मे पहुचा और बिब के द्वार की देहली के ऊपर पहुचते सघपति का हृदय हर्ष से उमड पडा और देवी की शिक्षा को भूलकर सहसा उसका मुह पिछली तरफ मुड गया और प्रतिमा वहा ही निश्चल हो गयी। देवी ने "जय जय" शब्द के साथ पुष्पवृष्टि की। यह प्रतिमा सघपति द्वारा नवनिर्मित जिन-प्रासाद मे वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को प्रतिष्ठित हुई। स्नपनादि महोत्सव करके संघपति "अजित" अपने भाई के साथ स्वदेश पहुचा। कलिकाल मे मनुष्यो के चित्त की

कल्पयता जानकर अम्बिका देवी ने उस रत्नमयी प्रतिमा की अम-बुसती कान्ति को ढांक दिया। (वि० ती० क० पृ० ६)

इसी कल्प में इस तीर्थ सम्बन्धी अन्य भी ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं जो नीचे दिये जाते हैं—

पुव्वि गुज्जर जयसिंहदेवेण खंगारराय हणित्ता सज्जणो दंडाहिवो ठविप्रो। तेण अ अहिणवं नेमिजिणिंदभवणं एगारस-सय-पंचासीए (११८५) विक्कमरायवच्छरे काराविअं। चोलुक्कचक्किसिरिकुमारपाल नरिंदसंठविअ सोरट्ठदंडाहिवेण सिरिसिरिमालकुलुब्भवेण बारस सयवीसे (१२२०) विक्कम संवच्छरे पज्जा काराविमा। तब्भवेण धवलेण अंतराले पवा भराविमा। पज्जाए चडंतेहिं जणेहिं दाहिणदिसाए लक्खारामो दीसइ। (वि० ती० क० पृ० ६)

अर्थात्—पूर्वकाल में गुर्जर भूमिपति चौलुक्य राजा जयसिंह देव ने जुनागढ के राजा रा खेंगार को मारकर दण्डाधिपति सज्जन को वहां का शासक नियुक्त किया। सज्जन ने विक्रम संवत् ११८५ में भगवान् नेमिनाथ का नया भवन बनवाया। बाद में मालवाभूमिभूषण साधु भावड ने उस पर सुवर्णमय आमलसारकर करवाया।

चौलुक्यचक्रवर्ती श्रीकुमारपाल देव द्वारा नियुक्त श्रीश्रीमाल कुलोत्पन्न सौराष्ट्र दण्डपति ने विक्रम संवत् १२२० में उज्जयन्त पर्वत पर चढ़ने का सोपानमय मार्ग करवाया। उसके पुत्र धवल ने सोपान-मार्ग में प्रपा बनवाई। इस पद्या मार्ग से ऊपर चढ़ने वाले यात्रिक जनों को दक्षिण दिशा में लक्षाराम नामक उद्यान दीखता है।

इन कल्पों के अतिरिक्त उज्जयन्त तीर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक स्तुति-स्तोत्र भी भिन्न भिन्न कवियों के बनाये हुए जैन ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध होते हैं जिनमें से थोड़े से श्लोक नीचे उद्धृत करके इस तीर्थ का वर्णन समाप्त करेंगे।

"योजनद्वयतुङ्गेऽस्य, शृङ्गे जिनगृहावलि ।
पुण्यराशिरिवाभाति, शरच्चन्द्रांशुनिर्मला ॥४॥
सौवर्ण-दण्ड-कलशा-मलसारकशोभितम् ।
चारुचैत्य चकास्त्यस्योपरि श्रीनेमिनः प्रभो. ॥५॥
श्रीशिवासूनुदेवस्य, पादुकात्र निरीक्षिता ।
स्पृष्टाऽर्च्चिता च शिष्टाना, पापव्यूह व्यपोहति ॥६॥
प्राज्य राज्य परित्यज्य, जरत्तृणमिव प्रभुः ।
बन्धून् विधूय च स्निग्धान्, प्रपेदेऽत्र महाव्रतम् ॥७॥
अत्रैव केवल देव, स एव प्रतिलब्धवान् ।
जगज्जनहितैषी स, पर्यणैषीच्च निर्वृतिम् ॥८॥"

अर्थात्—'इस उज्जयन्त गिरि के दो योजन ऊँचे शिखर पर बनवाने वालो के निर्मल पुण्य की राशि सी, चन्द्रकिरण समान उज्ज्वल जिन-मन्दिरो की पक्ति सुशोभित है। इसी शिखर पर सुवर्णमय दण्ड, कलश तथा आमलसारक से सुशोभित भगवान् नेमिनाथ का सुन्दर चैत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। यही पर प्रतिष्ठित शैवेय जिनकी चरणपादुका दर्शन, स्पर्शन और पूजन से भाविक यात्रिक गण के पापो को दूर करती है और यहीं पर जीर्ण तिनखे की तरह समृद्ध राज्य तथा विशाल कुटुम्ब का त्याग कर भगवान् नेमिनाथ ने महाव्रत धारण किये थे और यही पर भगवान् केवल-ज्ञानी हुए, तथा जगत्हित चिन्तक भगवान् नेमिनाथ यही से निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

"अतएवात्र कल्याण - त्रयमन्दिरमादधे ।
श्रीवस्तुपालो मन्त्रीशश्चमत्कारितभव्यहृत् ॥ ९ ॥
जिनेन्द्रबिंबपूर्णेन्द्र - मण्डपस्था जना इह ।
श्री नेमेर्मज्जन कर्तु-मिन्द्रा इव चकासति ॥ १० ॥
गजेन्द्रपदनामास्य, कुण्ड मण्डयते शिर ।
सुधाविधैर्जलै. पूर्ण, स्नाप्यार्हत्स्नपनक्षमै. ॥ ११ ॥

धर्मावयावतारेऽत्र वस्तुपालेन कारिते ।
ऋषभः पुण्डरीकोऽष्टा-पदो नन्दीश्वरस्तथा ॥ १२ ॥
सिंहयाना हेमवर्णा, सिद्ध-बुद्धसुतान्विता ।
कम्राम्रलुम्बिभृत्-पाणि-रत्राम्बा संघविघ्नहृत् ॥१३॥"
(वि० ती क० पृ० ७)

यहां भगवान् के तीन कल्याणक होने के कारण से ही मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने सज्जनों के हृदय को चमत्कृत करने वाला तीन कल्याणक का मन्दिर बनवाया। जिन प्रतिमाओं से भरे इस इन्द्रमण्डप में रहे हुए भगवान् नेमिनाथ का स्नपन करने वाले पुरुष इन्द्र की शोभा पाते हैं। इस पर्वत की चोटी को— गजेन्द्रपद' नामक जो अमृत के से जल से भरा और स्नपनीय जिन प्रतिमाओं का स्नपन करने से समर्थ है—भूषित कर रहा है। यहां वस्तुपाल द्वारा कारित धर्माभावतार विहार में भगवान् ऋषभदेव गणधर पुण्डरीक स्वामी अष्टापद चैत्य तथा नन्दीश्वर चैत्य यात्रिकों के लिए दर्शनीय चीज हैं। इस पर्वत पर सुवर्ण की सी कान्ति वाली सिंहवाहन पर आरूढ सिद्ध-बुद्ध नामक अपने पूर्व भविक दो पुत्रों को साथ लिये कमनीय आम की लुम्ब जिसके हाथ में है ऐसी अम्बादेवी यहां रही हुई संघ के विघ्नों का विनाश करती है।

उज्जयन्त तीर्थ सम्बन्धी उक्त प्रकार के पौराणिक तथा ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुतेरे मिलते हैं, परन्तु उनके विवेचन का यह योग्य स्थल नहीं। हम इसका विवेचन यहीं समाप्त करते हैं।

(३) गजाग्रपद तीर्थ :

गजाग्रपद भी आचारांग निर्युक्ति-निर्दिष्ट तीर्थों में से एक है परन्तु वर्तमान काल में यह व्यवच्छिन्न हो चुका है। इसकी अवस्थिति चूर्णों में दशार्णपुर नगर के समीपवर्ती दशार्णकूट पर्वत पर बताई है। आवश्यक-चूर्णि में भी इस तीर्थ को 'दशार्ण देश' के मुख्य नगर 'दशार्णपुर' के समीपवर्ती पहाड़ी तीर्थ लिखा है और इसकी उत्पत्ति का वर्णन भी दिया है जिसका संक्षेप सार नीचे दिया जाता है—

एक समय श्रमण भगवान् महावीर दशार्ण देश में विचरते हुए अपने श्रमण-सघ के साथ दशार्णपुर के समीपवर्ती एक उपवन मे पधारे। राजा दशार्णभद्र को उद्यानपालक ने भगवान् के पधारने की वधाई दी।

भगवन्त का आगमन जानकर राजा वहुत ही हर्षित हुआ। उसने सोचा "कल ऐसी तैय्यारी के साथ भगवन्त को वन्दन करने जाऊँगा और ऐसे ठाट से वन्दन करूँगा जैसे ठाट से न पहले किसी ने किया होगा, न भविष्य मे करेगा"। उसने सारे नगर मे सूचित्त करवा दिया कि "कल अमुक समय मे राजा अपने सर्व परिवार के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने जायगा और नागरिकगण को भी उसका अनुगमन करना होगा।

राजकर्मचारीगण उसी समय से नगर की सजावट, चतुरगिनी सेना के सज्ज करने तथा अन्यान्य समयोचित तैयारियाँ करने के कामो मे जुट गये। नागरिक जन भी अपने अपने घर, हाट सजाने, रथ-यान पालकियो को सज्ज करने लगे।

दूसरे दिन प्रयाण का समय आने के पहले ही सारा नगर ध्वजाओ, तोरणो, पुष्पमालाओ से सुशोभित था। मुख्य मार्गों मे जल छिडकाव कर फूल बिखेरे गये थे। राजा दशार्णभद्र, उसका सम्पूर्ण अन्त पुर और दास-दासी गण अपने योग्य यानो, वाहनो से भगवान् के वन्दनार्थ रवाना हुए। उनके पीछे नागरिक भी रथो, पालकियो आदि मे बैठकर राज-कुटुम्ब के पीछे उमड पडे।

महावीर की धर्मसभा की तरफ जाते हुए राजा के मन मे सगर्व हर्ष था। वह अपने को भगवान् महावीर का सर्वोच्च शक्तिशाली भक्त मानता था। ठीक इसी समय स्वर्ग के इन्द्र ने भगवान् महावीर के विहार क्षेत्र को लक्ष्य करके अवधि ज्ञान का उपयोग किया और देखा कि भगवान् दशार्णकूट पहाडी के निकटस्थ उद्यान मे विराजमान हैं, राजा दशार्णभद्र अद्वितीय सजधज के साथ उन्हें वन्दन करने जा रहा है। इन्द्र ने भी इस

प्रसंग से मान उठाना चाहा। वह अपने ऐरावण हाथी पर आरूढ़ होकर दिव्य परिवार के साथ भगवान् के पास क्षण भर में आ पहुँचा। उसने तीन प्रदक्षिणा देकर दशार्णकूट पर्वत की एक लम्बी चौड़ी चट्टान पर अपना वाहन ऐरावण हाथी उतारा। दिव्य-शक्ति से इन्द्र ने हाथी के अनेक दांतों पर अनेक बावड़ियां बावड़ियों में अनेक कमल कमलों की कर्णिकाओं पर देव प्रासाद और उनमें होने वाले बत्तीस पात्रबद्ध नाटकों के अद्भुत दृश्य दिखलाकर-राजा की शक्ति और सजावट को निस्तेज बनाकर उसके अभिमान को नष्ट कर दिया। राजा ने देखा—इन्द्र की ऋद्धि के सामने मेरी ऋद्धि नगण्य है। भला सूर्य के प्रकाश के सामने छोटा सा सितारा कैसे चमक सकता है? उसने अपने पूर्व भव के धर्मकार्यों की न्यूनता जानी और भगवान् महावीर का वैराग्यमय उपदेशामृत पान कर संसार का मोह छोड़ वह श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया।

दशार्णकूट की जिस विशाल शिला पर इन्द्र का ऐरावण खड़ा था उस शिला में उसके अगले पगों के चिह्न सदा के लिए बन गये। बाद में भक्तजनों ने उन चिह्नों पर एक बड़ा जिनचैत्य बनवाकर उसमें भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित करवाई तब से इस स्थान का नाम 'गजाग्रपद' तीर्थ के नाम से अमर हो गया।

आज यह गजाग्रपद तीर्थ भूला जा चुका है। यह स्थान भारतभूमि के अमुक प्रदेश में था यह भी निश्चित रूप से कहना कठिन है फिर भी हमारे अनुमान के अनुसार मालवा के पूर्व में और आधुनिक बुंदेलखण्ड के प्रदेश में कहीं होना संभवित है।

(४) धर्मचक्र तीर्थ :

आचारांगनिर्युक्ति में सूचित चौथा तीर्थ 'धर्मचक्र' है। धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण आवश्यकनिर्युक्ति तथा उसकी प्राचीन प्राकृत टीका में नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

"कल्ल सव्विड्ढीए, पूएमहऽदट्ठु धम्मचक्क तु ।
विहरइ सहस्समेग, छउमत्थो भारहे वासे ॥३३५॥"

अर्थात्–भगवान् ऋषभदेव हस्तिनापुर से विहार करते हुए पश्चिम मे बहली देश की राजधानी तक्षशिला[1] के उद्यान मे पधारे। वनपालक ने राजा वाहुवली को भगवान् के आगमन की बधाई दी। राजा ने सोचा–कल सर्व ऋद्धि-विस्तार के साथ भगवान् की पूजा करूगा। राजा वाहुवली दूसरे दिन वडे ठाट-वाट से भगवान् की तरफ गया, परन्तु उसके जाने के पूर्व ही भगवान् वहा से विहार कर चुके थे। अपने पूज्य पिता ऋषभ को निवेदित स्थान तथा उसके आसपास न देखकर वाहुवली वहुत ही खिन्न हुए और वापिस लौटकर भगवान् रात भर जहा ठहरे थे उस स्थान पर एक वडा गोल चक्राकार स्तूप बनवाया और उसका नाम "धर्मचक्र" दिया। भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थावस्था मे एक हजार वर्ष तक विचरे।

आवश्यक-निर्युक्ति की उपर्युक्त गाथा के विवरण मे चूर्णिकार ने धर्मचक्र के सम्बन्ध मे जो विशेषता बताई है, वह निम्नलिखित है—

जहा भगवान् ठहरे थे, उस स्थान पर सर्व-रत्नमय एक योजन परिधि वाला, जिस पर पाच योजन ऊँचा ध्वजदड खडा है, "धर्मचक्र" का चिह्न वनवाया।

"बहली अडबइल्ला, जोणगविसओ सुवण्णभूमीअ ।
आहिंडिआ भगवया, उसभेण तव चरतेण ॥३३६॥

बहली अ जोणगा पल्हगा य जे भगवया समणुसिट्ठा ।
अन्ने य मिच्छजाई, ते तइया भद्दया जाया ॥३३७॥

तित्थयराण पढमो, उसभरिसी विहरिओ निरुवसग्गो ।
अट्ठावओ णगवरो, अग्ग (य) भूमी जिणवरस्स ॥३३८॥

(१) आधुनिक पश्चिमी पजाब के रावलपिंडी जिले मे "शाह की ठेरी" नाम से जो स्थल प्रसिद्ध है वही प्राचीन 'तक्षशिला' थी, ऐसा शोधको का निर्णय है।

चउमत्थपरिग्राओ, वाससहस्सं तग्रो पुरिमताले ।
णग्गोहस्स य हेट्ठा, उप्पण्णं केवलं णाणं ॥३३९॥

फग्गुणबहुले एक्कारसीइ मह अट्ठमेण भत्तेणं ।
उप्पण्णमि भणंते, महव्वया पंच पण्णवए ॥३४०॥

अर्थात्—बहुली (बल्ह-बलियया) अडंबइल्ला (अटक प्रदेश) यवन (यूनान) देश और स्वर्णभूमि इन देशों में भगवान् ऋषभ ने तपस्वी जीवन में भ्रमण किया। बल्ह यवन पल्हव देशवासी भगवान् के अनुशासन से क्रौर्य का त्याग कर भद्र परिणामी बने। तीर्थङ्करों में आदि तीर्थङ्कर ऋषभ मुनि सर्वत्र निस्संगता से विचरे। आदि जिन की अप्र-विहार भूमि अष्टापद तीर्थ बन रहा अर्थात्–पूर्व पश्चिम भारत के देशों में घूमकर उत्तर भारत में आते तब बहुधा "अष्टापद पर्वत' पर ही ठहरते। भगवान् ऋषभ जिन का छद्मस्थ पर्याय (तपस्वी जीवन) एक हजार वर्ष तक बना रहा। बाद में आपको पुरिमताल नगर के बाहर बटवृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए केवल ज्ञान प्रकट हुआ। उस समय आपने निर्जल तीन उपवास किये थे। फाल्गुन वदि एकादशी का दिन था इन संयोगों में अनन्त केवल-ज्ञान प्रकट हुआ और आपने श्रमणधर्म के पंच महाव्रतों का उपदेश किया।

धर्मचक्र को बाहुबली ने ऋषभदेव के स्मारक के रूप में बनवाया था परन्तु कालान्तर में उस स्थान पर जिनचैत्य बनकर जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई और इस स्मारक ने एक महातीर्थ का रूप धारण किया। प्रतिष्ठित जिनचैत्यों में 'चन्द्रप्रभ' नामक आठवें तीर्थङ्कर का चैत्य प्रतिमा प्रधान था। इस कारण से इस तीर्थ के साथ "चन्द्रप्रभ" का नाम जोड़ दिया गया और दीर्घकाल तक यह इसी नाम से प्रसिद्ध रहा। महानिशीथ नामक जैन सूत्र में इसका वृत्तान्त मिलता है जिसमें से थोड़ा सा अवतरण यहाँ देना योग्य समझते हैं—

अहन्नया गोयमा ! ते साहुणो तं आयरियं भणंति जहा णं जइ भयवं तुमं आणवेहि ताणं अम्हे [हि] तित्थयत्तं करिय । चंदप्पहसा मियं वंदिया धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो । ताहे गोयमा अदीणमणसा

अणुत्तालगभीरमहुराए भारतीए भणिय तेणायरियेणं जहा इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्त गतु सुविहियाण; ता जाव ण वोलेइ जत्त ताव ण अह तुम्हे चदप्पह वदावेहामि। अन्न च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ; एएण कारणेण तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ।"

अर्थात्—भगवान् महावीर कहते है—हे गोतम! अन्य समय वे साधु उस आचार्य को कहते हैं—हे भगवन्! यदि आप आज्ञा करें तो हम तीर्थ-यात्रा करने चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन करने धर्मचक्र जाकर आ जाएँ। तब हे गौतम! उस आचार्य ने दृढता से सोचकर गभीर वाणी से कहा—'इच्छाकार से सुविहित साधुओ को तीर्थयात्रा को जाना नही कल्पता। इसलिए जब यात्रा बीत जायगी तब मैं तुम्हे चन्द्रप्रभ का वन्दन करा दूगा। दूसरा कारण यह भी है कि तीर्थ-यात्राओ के प्रसगो पर साधुओ को तीर्थों पर जाने से असयम मार्ग मे पडना पडता है। इसी कारण साधुओ के लिए यात्रा निषिद्ध की गई है।[1]

महानिशीथ मे ही नही, अन्य सूत्रो मे भी जैन श्रमणो को तीर्थ-यात्रा के लिए भ्रमण करना वर्जित किया है। निशीथ सूत्र की चूर्णि मे लिखा है—"उत्तरावहे धम्मचक्क, मधुराए देवणिम्मिओ थूभो। कोसलाए वा जियतपडिमा तित्थकराण वा जम्मभूमीओ एवमादिकारणेहिं गच्छन्तो णिक्कारणिनो" (२४३-२ नि० चू०) अर्थात्—'उत्तरापथ मे धर्मचक्र, मथुरा मे देवनिर्मित स्तूप, अयोध्या में जीवत स्वामी प्रतिमा, अथवा तीर्थङ्करो की जन्मभूमियाँ' इत्यादि कारणो से देश भ्रमण करने वाले साधु का विहार निष्कारणिक कहलाता है। उक्त महानिशीथ के प्रमाण से मेले के प्रसग पर तीर्थ पर साधु के लिए जाना वर्जित किया ही है, परन्तु निशीथ आदि आगमो के प्रमाणो से केवल तीर्थदर्शनार्थ भ्रमण करना भी जैन श्रमण के लिए निषिद्ध बताया है। जैन श्रमण के लिए सकारण देश-भ्रमण करना आगम-विहित है। तीर्थ-वन्दन के नाम से भडकने वाले तथा केवल तीर्थ वन्दना के लिए भटकने वाले हमारे वर्तमान-कालीन जैन श्रमणो को इन शास्त्रीय वर्णनो से बोध लेना चाहिए।

---

(१) यहा 'यात्रा' शब्द तीर्थ पर होने वाले मेले के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

तक्षशिला का धर्मचक्र बहुत काल पहिले से ही जैनों के हाथ से चला गया था। इसके दो कारण थे—१ विक्रम की दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। यही नहीं तक्षशिला विश्वविद्यालय में हजारों बौद्ध भिक्षु तथा उनके अनुयायी छात्रगण विद्या व्ययन करते थे। इस कारण तक्षशिला के तथा पुरुषपुर (पेशावर) के प्रदेशों में हजारों की संख्या में बौद्ध-उपदेशक घूम रहे थे। इसके अतिरिक्त २ 'शशेमियन' लोगों के भारत पर होने वाले आक्रमण की जैन संघ को आक्रमण से पहले ही सूचना मिल चुकी थी कि आज से तीसरे वर्ष में तक्षशिला का भंग होने वाला है' इससे जैन संघ धीरे धीरे तक्षशिला से दक्षिण की तरफ पहुंच कर जल-मार्ग से कच्छ तथा सौराष्ट्र' तक चला गया। जाने वाले अपनी धन-संपत्ति को ही नहीं अपनी पूज्य देव-मूर्तियों तक को वहां से हटा ले गये थे। इस दशा में अरक्षित जैन स्मारकों तथा मन्दिरों पर बौद्ध धर्मियों ने अपना अधिकार कर लिया था। तक्षशिला का धर्मचक्र जो चन्द्रप्रभ का तीर्थ माना जाता था उसको भी बौद्धों ने अपना लिया और उसे 'बोधिसत्त्व चन्द्रप्रभ' का प्राचीन स्मारक होना उद्घोषित किया। बौद्ध चीनी यात्री हु एनसांग जो कि विक्रम की सातवीं शताब्दी में भारत में आया था अपने भारतयात्राविवरण' में लिखता है—

'यहां पूर्वकाल में बोधिसत्त्व 'चन्द्रप्रभ' ने अपना मांस प्रदान किया था जिसके उपलक्ष्य में मौर्य सम्राट अशोक ने उसका यह स्मारक बनवाया है।

उक्त चीनी यात्री के उल्लेख से यह तो निश्चित हो जाता है कि धर्मचक्र विक्रमीय छठी सदी के पहले ही जैनों के हाथ से चला गया था। निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि 'शशेमियन लोग जो ईसा की तीसरी शताब्दी में आक्रामक बनकर तक्षशिला के मार्ग से भारत में आए। लगभग उसी काल में 'धर्मचक्र' बौद्धों का स्मारक बन गया होगा।

(५) अहिच्छत्रा - पार्श्वनाथ :

आचारागनिर्युक्ति-सूचित "पार्श्व" अहिच्छत्रा नगरी स्थित पार्श्वनाथ है। भगवान् पार्श्वनाथ प्रव्रजित होकर तपस्या करते हुए एक समय कुरु-जागल देश मे पधारे। वहा शखावती नगरी के समीपवर्ती एक निर्जन स्थान मे आप ध्यान-निमग्न खडे थे, तब उनके पूर्व भव के विरोधी "कमठ" नामक असुर ने आकाश से घनघोर जल बरसाना शुरु किया। बडे जोरो की वृष्टि हो रही थी। कमठ की इच्छा यह थी कि पार्श्वनाथ को जलमग्न करके इनका ध्यान भग किया जाय। ठीक उसी समय "धरणेन्द्र नागराज" भगवान् को वन्दन करने आया। उसने भगवान् पर मुशलधार वृष्टि होती देखी। धरणेन्द्र ने भगवान् के ऊपर "फण-छत्र" किया और इस अकाल वृष्टि करने वाले कमठ का पता लगाया। यही नही, उमे ऐसे जोरो से धमकाया कि तुरन्त उसने अपने दुष्कृत्य को बन्द किया और भगवान् पार्श्वनाथ के चरणो मे शिर नमाकर धरणेन्द्र से माफी मागी। जलोपद्रव के शान्त हो जाने के बाद नागराज धरणेन्द्र ने अपनी दिव्य शक्ति के प्रदर्शन द्वारा भगवान् की बहुत महिमा की। उस स्थान पर कालान्तर मे भक्त लोगो ने एक बडा जिन-प्रासाद बनवाकर उसमे पार्श्वनाथ की नागफणछत्रालकृत प्रतिमा प्रतिष्ठित की। जिस नगरी के समीप उपर्युक्त घटना घटी थी वह नगरी भी "अहिच्छत्रा नगरी" इस नाम से प्रसिद्ध हो गई।

अहिच्छत्रा विषयक विशेष वर्णन सूत्रो मे उपलब्ध नही होता, परन्तु जिनप्रभ सूरि ने "अहिच्छत्रा नगरी कल्प" मे इस तीर्थ के सम्बन्ध मे कुछ विशेष बातें कही हैं, जिनमे से कुछ नीचे दी जाती हैं—

'अहिच्छत्रा पार्श्व जिनचैत्य के पूर्व दिशाभाग मे सात मधुर जल से भरे कुण्ड अब भी विद्यमान हैं। उन कुण्डो के जल मे स्नान करने वाली मृतवत्सा स्त्रियो की प्रजा स्थिर[1] रहती है। उन कुण्डो की मिट्टी से धातुवादी लोग सुवर्णसिद्धि होना बताते हैं।'

---

(१) जीवित

यहां एक सिद्धरस कूपिका भी दृष्टिगोचर होती है जिसका मुख पाषाण शिला से ढँका हुआ है। इस मुख को खोलने के लिए एक म्लेच्छ राजा ने बहुत कोशिश की यहां तक कि रखी हुई शिला पर बहुत तीव्र आग जलाकर उसे तोड़ना चाहा परन्तु वह अपने सभी प्रयत्नों में निष्फल रहा।

'पार्श्वनाथ की यात्रा करने आये हुए यात्रीगण अब भी जब भगवान् का स्नपनमहोत्सव' करते हैं उस समय कमठ दैत्य प्रचण्ड-पवन और बादलों द्वारा यहां पर दुर्दिन कर देता है।

मूल चैत्य से थोड़ी दूरी पर सिद्धक्षेत्र में धरणेन्द्र-पद्मावती सेवित पार्श्वनाथ का मन्दिर बना हुआ है।

नगर के दुर्ग के समीप नेमिनाथ की मूर्ति से सुशोभित सिद्ध-बुद्ध नामक दो बालक रूपकों से समन्वित हाथ में आम्रफलों की डाली लिए सिंह पर आरूढ़ अम्बा देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

'यहां उत्तरा नामक एक निर्मल जल से भरी बावड़ी है जिसके जल में नहाने तथा उसकी मिट्टी का लेप करने से कोढ़ियों के कोढ़ रोग शान्त हो जाते हैं।

'यहां रहे हुए धन्वन्तरी नामक कुए की पीली मिट्टी से आम्नाय वेदियों के आदेशानुसार प्रयोग करने से सोना बनता है।

यहां ब्रह्मकुण्ड के किनारे मण्डूक-पर्णी ब्राह्मी के पत्तों का चूर्ण एकवर्णी गाय के दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य की बुद्धि और नीरोगता बढ़ती है और उसका स्वर गन्धर्व का सा मधुर बन जाता है।

बहुधा अहिच्छत्रा के उपवनों में सभी वृक्षों पर बन्दाक उगे हुए मिलते हैं जो अमुक-अमुक कार्य साधक होते हैं। यही नहीं यहां के उपवनों में जयन्ती नागदमनी सहदेवी अपराजिता लक्ष्मणा त्रिवर्णी नकुली सकुली सर्पाक्षी सुवर्णशिला मोहनी श्यामा रविभक्ता

(सूर्यमुखी), निर्विषी, मयूरशिखा, शल्या, विशल्यादि अनेक महौषधिया यहा मिला करती है ।'

'अहिच्छत्रा मे विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चण्डिकादि के मन्दिर तथा ब्रह्मकुण्ड आदि अनेक लौकिक तीर्थ स्थान भी बने हुए है ।' 'यह नगरी सुगृहीतनामधेय "कण्व ऋषि" की जन्मभूमि मानी जाती है ।'

उपर्युक्त अहिच्छत्रा तीर्थस्थान वर्तमान मे कुरु देश के किसी भूमि-भाग मे खण्डहरो के रूप मे भी विद्यमान है या नही इसका विद्वानो को पता लगाना चाहिए ।

(६) रथावर्त (पर्वत) तीर्थ :

प्राचीन जैन तीर्थो मे "रथावर्त पर्वत" को निर्युक्तिकार ने षष्ठ नम्बर मे रखा है । यह पर्वत आचाराग के टीकाकार शीलाङ्क सूरि के कथनानुसार अन्तिम दश पूर्वधर आर्य वज्र स्वामी के स्वर्गवास का स्थान है । पिछले कतिपय लेखको का भी मन्तव्य है कि वज्र स्वामी के अनशन-काल मे इन्द्र ने आकर इस पर्वत की रथ मे बैठकर प्रदक्षिणा की थी जिससे इसका नाम "रथावर्त" पडा था । परन्तु यह मन्तव्य हमारी राय मे प्रामाणिक नही है, क्योकि आर्य वज्र स्वामी के अनशन का समय विक्रमीय द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध है, जब कि आचाराग निर्युक्तिकार श्रुतधर आर्य रक्षित आर्य वज्र के समकालीन कुछ ही परवर्ती हो गए है । इससे पर्वत का रथावर्त, यह नामकरण भी सगत हो जाता है ।

निर्युक्तिकार को भद्रबाहु मानने से पर्वत का नाम रथावर्त नही बैठता । रथावर्त पर्वत किस प्रदेश मे था, इस बात का विचार करते समय हमें आर्य वज्रस्वामी के अन्तिम समय के विहारक्षेत्र पर विचार करना होगा । आर्य वज्र स्वामी अपनी स्थविर अवस्था मे सपरिवार मालव। देश मे विचरते थे, ऐसा जैन ग्रन्थो के उल्लेखो से जाना जाता है । उस समय मध्य भारत मे बडा भारी द्वादश वार्षिक दुर्भिक्ष आरम्भ हो चुका था । साधुओ को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था । एक दिन तो आखिर

वज्रस्वामी ने अपने विद्याबल से आहार मंगवाकर साधुओं को दिया और कहा—बारह वर्ष तक इसी प्रकार विद्या पिण्ड से शरीर-निर्वाह करना होगा। इस प्रकार जीवननिर्वाह करने में लाभ मानते हो तो वैसा करें अन्यथा अनशन द्वारा जीवन का अन्त कर दें। श्रमणों ने एक मत से अपनी राय दी कि इस प्रकार दूषित आहार द्वारा जीवननिर्वाह करने से तो अनशन से देह त्याग करना ही अच्छा है। इस पर विचार करके आर्य वज्रस्वामी ने अपने एक शिष्य वज्रसेन मुनि को थोड़े से साधुओं के साथ कोंकण प्रदेश में विहार करने की आज्ञा दी और कहा—'जिस दिन तुमको एक लक्ष सुवर्णों से निष्पन्न भोजन मिले तब जानना कि दुर्भिक्ष का अन्तिम दिन है। उसके दूसरे ही दिन अन्नसंकट हल्का होने लगेगा। अपने गुरुदेव की आज्ञा सिर चढ़ाकर वज्रसेन मुनि ने कोंकण देश की तरफ विहार किया और वज्रस्वामी ने पांच सौ मुनियों के साथ रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन धारण किया।

वज्रस्वामी के उपर्युक्त वर्णन से जाना जा सकता है कि वज्रसेन के विहार करने पर तुरन्त आप वहां से अनशन के लिए रवाना हो गये हैं और निकट प्रदेश में ही रहे हुए रथावर्त पर्वत पर अनशन किया है। प्राचीन विदिशा नगरी (आज का भिलसा) के समीप पूर्वकाल में 'कुंजरावर्त तथा रथावर्त' नामक दो पहाड़ियां थीं। वज्रस्वामी ने इसी 'रथावर्त' नामक पर्वत पर अनशन किया होगा और यही 'रथावर्त' पर्वत जैनों का प्राचीन तीर्थ होगा ऐसा हमारा मानना है।

(७) चमरोत्पात :

भगवान् महावीर छद्मस्थावस्था के बारहवें वर्ष में वैशाली की तरफ विहार करते हुए सुंसुमारपुर नामक स्थान पर—स्थान के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ थे। तब चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र वहां आया और महावीर की शरण लेकर स्वर्ग के इन्द्र शक्र पर चढ़ाई कर गया। सुधर्मा सभा के द्वार तक पहुंच कर शक्र [illegible] उत्पात मचाने लगा। शक्रेन्द्र ने भी चमरेन्द्र को मार [illegible] के लिए अपना [illegible] उसकी तरफ

फेंका। आग की चिनगारिया उगलते हुए वज्र को देखकर चमर आया उसी रास्ते से भागा। शक्र ने सोचा,–"चमरेन्द्र यहा तक किसी भी महर्षि तपस्वी की शरण लिये विना नही आ सकता। देखें! यह किसकी शरण लेकर आया है?" इन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि चमर महावीर का शरणागत बनकर आया है और वही जा रहा है। वह तुरन्त वज्र को पकडने दौडा। चमरेन्द्र अपना शरीर सूक्ष्म बनाकर भगवान् महावीर के चरणो के बीच घुसा। वज्रप्रहार उस पर होने के पहले ही इन्द्र ने वज्र को पकड लिया। इस घटना से सुसुमारपुर और उसके आसपास के गावो मे सनसनी फैल गई। लोगो के झुड के झुड घटना स्थल पर आये और घटना की वस्तुस्थिति को जानकर भगवान् महावीर के चरणो मे झुक पडे। भगवान् महावीर तो वहाँ से विहार कर गये परन्तु लोगो के हृदय मे उनके शरणागत–रक्षत्व की छाप सदा के लिए रह गई और घटनास्थल पर एक स्मारक बनवाकर शरणागत-वत्सल भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित की। उस प्रदेश के श्रद्धालु लोग उसे बडी श्रद्धा से पूजते तथा कार्यार्थी यात्रीगण, सार्थवाह आदि अपनी यात्रा की निर्विघ्नता के लिए भगवान् की शरण लेकर आगे बढते थे। यही भगवान् महावीर का स्मारक मदिर आगे जाकर जैनो का "चमरोत्पात"[1] नामक तीर्थ बन गया जिसका आचारागनिर्युक्ति में स्मरण–वन्दन किया है।

चमरोत्पात तीर्थ आज हमारे विच्छिन्न (भुले हुए) तीर्थों मे से एक है। यह स्थान आधुनिक मिर्जापुर जिले के एक पहाडी प्रदेश मे था, ऐसा हमारा अनुमान है।

(८) शत्रुञ्जय - पर्वत :

"शत्रुञ्जय" आज हमारा सर्वोत्तम तीर्थ माना जाता है। इसका माहात्म्य गाने मे शत्रुञ्जय माहात्म्यकार ने कुछ उठा नही रखा। यह

(१) चमरेन्द्र के शक्रेन्द्र पर चढाई करने के विषय पर भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन मिलता है, परन्तु उसमे चमरोत्पात के स्थल पर स्मारक बनने और तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध होने की सूचना नही है। मालूम होता है, भगवान् महावीर के प्रवचन का निर्माण होने के समय तक वह स्थान जैन तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध नहीं हुआ था।

वज्रस्वामी ने अपने विद्याबल से आहार मंगवाकर साधुओं को दिया और कहा—बारह वर्ष तक इसी प्रकार विद्या-पिण्ड से शरीर-निर्वाह करना होगा। इस प्रकार जीवननिर्वाह करने में लाभ मानते हो तो वैसा करें अन्यथा अनशन द्वारा जीवन का अन्त कर दें। श्रमणों ने एक मत से अपनी राय दी कि इस प्रकार दूषित आहार द्वारा जीवननिर्वाह करने से तो अनशन से देह त्याग करना ही अच्छा है। इस पर विचार करके आर्य वज्रस्वामी ने अपने एक शिष्य वज्रसेन मुनि को थोड़े से साधुओं के साथ कोंकण प्रदेश में विहार करने की आज्ञा दी और कहा—'जिस दिन तुमको एक लक्ष सुवर्णों से निष्पन्न भोजन मिले तब जानना कि दुर्भिक्ष का अन्तिम दिन है। उसके दूसरे ही दिन अन्नसंकट हल्का होने लगेगा। अपने गुरुदेव की आज्ञा सिर चढ़ाकर वज्रसेन मुनि ने कोंकण देश की तरफ विहार किया और वज्रस्वामी ने पांच सौ मुनियों के साथ रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन धारण किया।

वज्रस्वामी के उपर्युक्त वर्णन से जाना जा सकता है कि वज्रसेन के विहार करने पर तुरन्त आप वहां से अनशन के लिए रवाना हो गये हैं और निकट प्रदेश में ही रहे हुए रथावर्त पर्वत पर अनशन किया है। प्राचीन विदिशा नगरी (आज का भिलूसा) के समीप पूर्वकाल में कुंजरावर्त तथा 'रथावर्त' नामक दो पहाड़ियां थीं। वज्रस्वामी ने इसी 'रथावर्त' नामक पर्वत पर अनशन किया होगा और यही 'रथावर्त' पर्वत जैनों का प्राचीन तीर्थ होगा ऐसा हमारा मानना है।

(७) चमरोत्पात :

भगवान् महावीर छद्मस्थावस्था के बारहवें वर्ष में वैशाली की तरफ विहार करते हुए सुंसुमारपुर नामक स्थान पर—स्थान के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ थे। तब चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र वहां आया और महावीर की शरण लेकर स्वर्ग के इन्द्र शक्र पर चढ़ाई कर गया। सुधर्मा सभा के द्वार तक पहुंच कर शक्र को धमकाने लगा। शक्रेन्द्र ने भी चमरेन्द्र को मार हटाने के लिए अपना वज्रायुध उसकी तरफ

फेंका। आग की चिनगारियां उगलते हुए वज्र को देखकर चमर आया उसी रास्ते से भागा। शक्र ने सोचा,–"चमरेन्द्र यहां तक किसी भी महर्षि तपस्वी की शरण लिये विना नही आ सकता। देखें! यह किसकी शरण लेकर आया है?" इन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि चमर महावीर का शरणागत बनकर आया है और वहीं जा रहा है। वह तुरन्त वज्र को पकडने दौडा। चमरेन्द्र अपना शरीर सूक्ष्म बनाकर भगवान् महावीर के चरणो के बीच घुसा। वज्रप्रहार उस पर होने के पहले ही इन्द्र ने वज्र को पकड लिया। इस घटना से सुसुमारपुर और उसके आसपास के गावो मे सनसनी फैल गई। लोगो के झुंड के झुंड घटना स्थल पर आये और घटना की वस्तुस्थिति को जानकर भगवान् महावीर के चरणो मे झुक पडे। भगवान् महावीर तो वहाँ से विहार कर गये परन्तु लोगो के हृदय मे उनके शरणागत–रक्षत्व की छाप सदा के लिए रह गई और घटनास्थल पर एक स्मारक बनवाकर शरणागत-वत्सल भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित की। उस प्रदेश के श्रद्धालु लोग उसे बडी श्रद्धा से पूजते तथा कार्यार्थी यात्रीगण, सार्थवाह आदि अपनी यात्रा की निर्विघ्नता के लिए भगवान् की शरण लेकर आगे बढते थे। यही भगवान् महावीर का स्मारक मंदिर आगे जाकर जैनो का "चमरोत्पात"[1] नामक तीर्थ बन गया जिसका आचारागनिर्युक्ति में स्मरण–वन्दन किया है।

चमरोत्पात तीर्थ आज हमारे विच्छिन्न (भुले हुए) तीर्थों मे से एक है। यह स्थान आधुनिक मिर्जापुर जिले के एक पहाडी प्रदेश मे था, ऐसा हमारा अनुमान है।

(८) शत्रुञ्जय - पर्वत :

"शत्रुञ्जय" आज हमारा सर्वोत्तम तीर्थ माना जाता है। इसका माहात्म्य गाने मे शत्रुञ्जय माहात्म्यकार ने कुछ उठा नही रखा। यह

(१) चमरेन्द्र के शक्रेन्द्र पर चढ़ाई करने के विषय पर भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन मिलता है, परन्तु उसमे चमरोत्पात के स्थल पर स्मारक बनने और तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध होने की सूचना नही है। मालूम होता है, भगवान् महावीर के प्रवचन का निर्माण होने के समय तक वह स्थान जैन तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध नही हुआ था।

पर्वत भगवान् ऋषभदेव का मुख्य विहारक्षेत्र और भरत चक्रवर्ती का सुवर्णमय चैत्यनिर्माण का स्थान माना गया है।

कुछ संस्कृत और प्राकृत कल्पकारों ने भी शत्रुञ्जय के सम्बन्ध में दिल खोलकर गुणगान किया है।

शत्रुञ्जय तीर्थ के गुणगान करने वालों में मुख्यतया श्री धनेश्वरसूरि' तथा श्री जिनप्रभसूरि' का नाम लिया जा सकता है। धनेश्वरसूरिजी ने तो माहात्म्य के उपक्रम में ही अपना परिचय दे डाला है। वे कहते हैं– वलभी नगरी के राजा शीलादित्य' की प्रार्थना से विक्रम संवत् ४७७ (चार सौ सतहत्तर) में यह शत्रुञ्जयमाहात्म्य मैंने बनाया है। वे स्वयं अपने आपको 'राजगच्छ' का मण्डन बताते हैं। शत्रुञ्जय तीर्थ के संस्कृत-कल्प लेखक श्री जिनप्रभसूरिजी विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे इसमें तो कोई शंका ही नहीं। इन्होंने विक्रम सं. १३८५ में यह कल्प लिखा है। इस कल्प की ओर शत्रुञ्जयमाहात्म्य की मौलिक बातें एक दूसरे का आदान प्रदान रूप मालूम होती हैं परन्तु धनेश्वरसूरिजी का अस्तित्व पंचमी शताब्दी में होने का उनकी यह कृति ही प्रतिवाद करती है। इस माहात्म्य में शीलादित्य का तो क्या चौदहवीं सदी के जीर्णोद्धारक समरसिंह तक का नाम लिखा मिलता है। इस स्थिति में इस ग्रन्थ को शीलादित्यकालीन धनेश्वरसूरिजी कृत मानना युक्ति-संगत नहीं है। हमने पाटन गुजरात के एक प्राचीन ग्रन्थ भण्डागार में एक ताड़पत्रों पर लिखी हुई प्राचीन ग्रन्थसूची देखी थी जिसमें विक्रम की तेरहवीं शताब्दी तक में बने हुए सैकड़ों जैन जैनेतर ग्रन्थों के नाम मिलते हैं परन्तु उसमें 'शत्रुंजय माहात्म्य' का तथा 'शत्रुञ्जय कल्प' का नामोल्लेख नहीं है। बृहट्टिप्पणिका नामक भारतीय जैन ग्रन्थों की एक बड़ी सूची है जो सोलहवीं शताब्दी में किसी विद्वान् जैन श्रमण ने लिखी है। उसमें 'शत्रुञ्जय माहात्म्य' का नाम अवश्य मिलता है परन्तु टिप्पणी-लेखक ने इस ग्रन्थ के नाम के आगे 'कूट ग्रन्थ' ऐसा अपना अभिप्राय भी व्यक्त कर दिया है। अष्टम शताब्दी से लगाकर चौदहवीं शताब्दी तक के किसी भी ग्रन्थ में शत्रुञ्जय माहात्म्य' ग्रन्थ अथवा इसके कर्ता धनेश्वरसूरि का नामोल्लेख नहीं मिलता।

इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए हमे यही कहना पडता है कि "शत्रुञ्जयमहात्म्य" अर्वाचीन ग्रन्थ है और इसमे लिखी हुई अनेक बाते अनागमिक हैं।

दृष्टान्त के रूप मे हम एक ही बात का उल्लेख करेंगे। माहात्म्य ग्रन्थो मे लिखा है कि—

"शत्रुजय पर्वत का विस्तार प्रथम आरे मे ८०, द्वितीय आरे मे ७०, तृतीय आरे मे ६०, चतुर्थ आरे में ५०, पचम आरे मे १२ योजन का होगा, तब षष्ठ आरे मे केवल ७ हाथ का ही रहेगा।"

जैन आगमो का ही नही किन्तु भूगर्भवेत्ताओ का भी यह सिद्धान्त है कि पर्वत भूमि का ही एक भाग है। भूमि की तरह पर्वत भी धीरे धीरे ऊपर उठता जाता है। लाखो और करोडो वर्षों के बाद वह अपने प्रारम्भिक रूप से बडा हो जाता है। तब हमारे इन शत्रुजय माहात्म्यकारो की गगा उल्टी बहती मालूम होती है, इसलिए इस पर्वत को प्रारम्भ में अस्सी योजन का होकर अन्त मे बहुत छोटा होने का भविष्य कथन करते हैं। इसी से इन कल्पो की कल्पितता बताने के लिए लिखना बेकार होगा, वास्तव मे पीतल अपने स्वरूप से ही पीतल होता है, युक्ति-प्रयोगो से वह सोना सिद्ध नही हो सकता।

हमारे प्राचीन साहित्य-सूत्रादि मे इसका विशेष विवरण भी नही मिलता। ज्ञाताधर्मकथाग के सोलहवे अध्ययन मे पाच पाण्डवों के शत्रुञ्जय पर्वत पर अनशन कर निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्तकृद्दशाग-सूत्र मे भगवान् नेमिनाथजी के अनेक साधुओ के शत्रुञ्जय पर्वत पर तपस्या द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन मिलता है। इससे इतना तो सिद्ध है कि शत्रुञ्जय पर्वत हजारो वर्षों से जैनो का सिद्ध क्षेत्र बना हुआ है। यह स्थान भगवान् ऋषभदेव का विहारस्थल न मानकर नेमिनाथ का तथा उनके श्रमणो का विहारस्थल मानना विशेष उपयुक्त होगा।

आवश्यक-निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि आदि से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् ऋषभदेव उत्तर-पूर्व और पश्चिम भारत के देशों में ही विचरे थे। दक्षिण भारत में अथवा सौराष्ट्र भूमि में वे कभी नहीं पधारे। जम शास्त्रोक्त भारतवर्ष के नकशे के अनुसार आज का सौराष्ट्र देश ऋषभदेव के समय जलमग्न होगा, अथवा तो एक अन्तरीप होगा। इसके विपरीत नेमिनाथ के समय में यह सौराष्ट्र भूमि समुद्र के बीच होते हुए भी मनुष्यों के बसने योग्य हो चुकी थी। इसी कारण से जरासंध के आतंक से बचने के लिए यादवों ने इस प्रदेश का आश्रय लिया था तथा इन्द्र के आदेश से उनके लिए कुबेर ने वहां द्वारिका नगरी का निवेश किया था। भगवान् नेमिनाथ ने इसी द्वारिका के बाहर रैवतक' पर्वत के समीप प्रव्रज्या ली थी और बहुधा इसी प्रदेश में विचरे थे। इस वास्तविक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए हम सौराष्ट्र प्रदेश उज्जयन्त (गिरनार) और शत्रुञ्जय पर्वत भगवान् नेमिनाथ के विहारक्षेत्र मानेंगे तो वास्तविकता के अधिक समीप रहेंगे।

(६) मथुरा का देव निर्मित स्तूप :

मथुरा के देव-निर्मित स्तूप' का यद्यपि मूल आगमों में उल्लेख नहीं मिलता तथापि छेद-सूत्रों तथा अन्य सूत्रों के भाष्य चूर्णि आदि में इसके उल्लेख मिलते हैं। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

मथुरा नगरी के बाहर वन में एक क्षपक (तपस्वी जैन साधु) तपस्या कर रहा था। उसकी तपस्या और सतोपवृत्ति से वहां की वन देवता तपस्वी साधु की तरफ भक्ति-विनम्र हो गई थी। प्रतिदिन वह साधु को वन्दना करती और कहती— मेरे योग्य कार्य-सेवा फरमाओ', क्षपक कहता— मुझे तुम जैसी अविरत देवी से कुछ कार्य नहीं।" देवी जब भी क्षपक को कार्य-सेवा के लिए उक्त वाक्य दोहराती तो क्षपक भी अपनी तरफ से यही उत्तर दिया करता था। एक समय देवी के मन में आया— तपस्वी बार-बार मुझे कोई कार्य न होने का कहा करते हैं तो अब ऐसा कोई उपाय करूं ताकि ये मेरी सहायता पाने के इच्छुक बनें।

उसने मथुरा के निकट एक बडे विशाल चौक मे रात भर मे एक बडा स्तूप खडा कर दिया। दूसरे दिन उस स्तूप को जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी अपना मानकर उसका कब्जा करने के लिए तत्पर हुए। जैन स्तूप को अपना बताते थे, तब बौद्ध अपना। स्तूप मे "लेख" अथवा किसी सम्प्रदाय की "देव-मूर्ति" न होने के कारण, उसने जैन-बौद्धों के बीच झगडा खडा कर दिया। परिणामस्वरूप दोनो सम्प्रदायों के नेता न्याय के लिए राजा के पास पहुचे और स्तूप का कब्जा दिलाने की प्रार्थना की। राजा तथा उसका न्याय-विभाग स्तूप जैनो का है अथवा बौद्धो का, इसका कोई निर्णय नही दे सके।

जैन सघ ने अपने स्थान मे मिलकर विचार किया कि यह स्तूप दिव्य शक्ति से बना है और देवसाहाय्य से ही किसी सप्रदाय का कायम हो सकेगा। सघ मे देव सहायता किस प्रकार प्राप्त की जाय इस बात पर विचार करते समय जानने वालो ने कहा—वन मे अमुक क्षपक के पास वन-देवता आया करता है। अत क्षपक द्वारा उस देवता से स्तूप-प्राप्ति का उपाय पूछना चाहिए। सघ मे सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि दो साधु क्षपक मुनि के पास भेजकर उनके द्वारा बन देवता की इस विषय मे सहायता मागी जाय।

प्रस्ताव के अनुसार श्रमण-युगल क्षपक मुनि के पास गया और क्षपकजी को सघ के प्रस्ताव से वाकिफ किया। क्षपक ने भी यथाशक्ति सघ का कार्य सम्पन्न करने का आश्वासन देकर आए हुए मुनियो को वापस विदा किया।

नित्य नियमानुसार वनदेवता क्षपक के पास आये और वन्दनपूर्वक कार्य सेवा सम्बन्धी नित्य की प्रार्थना दोहराई। क्षपक ने कहा—एक कार्य के लिए तुम्हारी सलाह आवश्यक है। देवता ने कहा—कहिये वह कार्य क्या है? क्षपकजी वोले—महीनो से मथुरा के स्तूप के सम्बन्ध मे जैन-बौद्धो के बीच झगडा चल रहा है। राजा, न्यायाधिकरण भी परेशान हो रहे हैं, पर इसका निर्णय नही होता। मै चाहता हू तुम कोई ऐसा उपाय

बतामो मौर साहाय्य करो कि यह स्तूप सम्बन्धी झगड़ा तुरन्त मिटे और स्तूप जैन सम्प्रदाय का प्रमाणित हो।

वनदेवता ने कहा—तपस्वीजी महाराज! भाज मेरी सेवा की मावश्यकता हुई न? तपस्वी बोले—'भवश्य यह कार्य तो तुम्हारी सहानुभूति से ही सिद्ध हो सकेगा।

देवी ने कहा—भाप भपने संघ को सूचित करें कि वह मायन्दा राज सभा में यह प्रस्ताव उपस्थित करे– 'यदि स्तूप पर स्वय श्वेत ध्वजा फरकने लगेगी तो स्तूप जैनों का समझा जायगा और लाल ध्वजा फरकने पर बौद्धों का।'

क्षपक ने मथुरा जैन संघ के नेताओं को भपने पास बुलाकर वन देवतोक्त प्रस्ताव की सूचना की। संघनायकों ने न्यायाधिकरण के सामने वैसा ही प्रस्ताव उपस्थित किया। राजा तथा न्यायाधिकारियों को प्रस्ताव पसंद भाया और बौद्धनेताओं से उन्होंने इस विषय में पूछा तो बौद्धों ने भी प्रस्ताव को मंजूर किया।

राजा ने स्तूप के चारों भोर रक्षक नियुक्त कर दिये। कोई भी व्यक्ति स्तूप के निकट तक न जाए, इसका पूरा बन्दोबस्त किया इस व्यवस्था और प्रस्ताव से नगर भर में एक प्रकार का कौतुकमय अद्भुत रस फैल गया। दोनों सम्प्रदायों के भक्त जन अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण कर रहे थे तब निरपेक्ष नगरजन कब रात बीते और स्तूप पर फहराती हुई ध्वजा देखें इस चिन्ता से भगवान् भास्कर से जल्दी उदित होने की प्रार्थनाएँ कर रहे थे।

सूर्योदय होने के पूर्व ही मथुरा के नागरिक हजारों की संख्या में स्तूप के इर्द-गिर्द स्तूप की ध्वजा देखने के लिए एकत्रित हो गये। सूर्य के पहले ही उसके सारथि ने स्तूप के शिखर दंड और ध्वजा पर प्रकाश डाला जनता को भरुण प्रकाश में सफेद वस्त्र सा दिखाई दिया। जैन जनता के हृदय में भाशा की तरंगें बहने लगी। इसके विपरीत बौद्ध धर्मियों ने

दिल निराशा का अनुभव करने लगे, सूर्यदेव ने उदयाचल के शिखर से अपने किरण फेंककर सबको निश्चय करा दिया कि स्तूप के शिखर पर श्वेत-ध्वज फरक रहा है। जैन धर्मियो के मुखो से एक साथ "जैन जयति शासनम्" की ध्वनि निकल पडी और मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का स्वामित्व जैन सघ के हाथो मे सौप दिया गया।

मथुरास्थित देवनिर्मित स्तूप की उत्पत्ति का उक्त इतिहास हमने जैन सूत्रो के भाष्यो, चूर्णियो और टीकाओ के भिन्न-भिन्न वर्णनो को व्यवस्थित करके लिखा है। आचार्य जिनप्रभ सूरि कृत मथुरा-कल्प मे पौराणिक ढग से इस स्तूप का विशेष वर्णन दिया है, जिसका सक्षिप्त सार पाठकगण के अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है—

'श्रीसुपार्श्वनाथ जिनके तीर्थवर्ती धर्मघोष और धर्मरुचि नामक दो तपस्वी मुनि एक समय विहार करते हुए मथुरा पहुचे। उस समय मथुरा की लम्बाई बारह योजन तथा विस्तार नव योजन परिमित था। उसके चारो ओर दुर्ग बना हुआ था और पास मे दुर्ग को नहलाती हुई यमुना नदी वह रही थी। मथुरा के भीतर तथा बाहर अनेक कूप बावडियाँ बनी हुई थी। नगरी गृहपक्तियो, हाट-बाजारो और देव-मन्दिरो से सुशोभित थी। इसका बाह्य भूमिभाग अनेक वनो, उद्यानो से घिरा हुआ था। तपस्वी धर्मघोष, धर्मरुचि मुनियुगल ने मथुरा के "भूतरमण" नामक उद्यान मे चातुर्मासिक तप के साथ वर्षा-चातुर्मास्य की स्थिरता की। मुनियो के तप ध्यान शान्ति आदि गुणो से आकर्षित होकर उपवन की अधिष्ठात्री "कुवेरा" नामक देवी उनके पास रात्रि के समय जाकर कहने लगी,—मैं आपके गुणो से बहुत ही सतुष्ट हूँ, मुझसे वरदान मागिये। मुनियो ने कहा—हम नि सङ्ग श्रमण हैं। हमे किसी भी पदार्थ की इच्छा नही, यह कहकर उन्होने "कुवेरा" को धर्म का उपदेश देकर जैन धर्म की श्रद्धा कराई।

चातुर्मास्य की समाप्ति के लगभग कार्तिक सुदि अष्टमी को तपस्वियो ने अपने निवासस्थान की स्वामिनी जानकर कुवेरा को कहा—श्राविके!

चातुर्मास्य पूरा होने आया है हम यहां से चातुर्मास्य की समाप्ति होते ही विहार करेंगे। तुम जिनदेव की पूजा भक्ति तथा जैन धर्म की उन्नति में सहयोग देती रहना। देवी ने तपस्वियों को वहीं ठहरने की प्रार्थना की, परन्तु साधुओं का एक स्थान पर रहना आचारविरुद्ध बताकर उसकी प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। कुबेरा ने कहा—यदि आपका यही निश्चय है, तो मेरे योग्य धर्म-कार्य का आदेश फरमाइये क्योंकि देवदर्शन अमोघ" होता है। साधुओं ने कहा—'मथुरा के जैन संघ के साथ हमें मेरु पर्वत पर ले जाइए' देवी ने कहा—आप दो को मैं वहां ले जा सकती हूं। मथुरा का संघ साथ में होगा तो मुझे भय है कि मिथ्यादृष्टि देव मेरे गमन में विघ्न करेंगे। साधु बोले—यदि संघ को वहां ले जाने की तेरी शक्ति नहीं है तो हम दोनों का वहां जाना उचित नहीं है। हम शास्त्र-बल से ही मेरु स्थित जिनचैत्यों का दर्शन वन्दन कर लेंगे। तपस्वियों के इस कथन को सुनकर लज्जित सी हो कुबेरा बोली—भगवन्! यदि ऐसा है तो मैं स्वयं जिनप्रतिमाओं से शोभित मेरु पर्वत का आकार यहां बना देती हूँ। वहां पर संघ के साथ आप देववन्दन करलें। साधुओं ने देवी की बात को स्वीकार किया तब देवी ने सुवर्णमय नाना रत्नशोभित अनेक देव परिवारित, तोरण-ध्वज-मालाओं से अलंकृत जिसका शिखर छत्रत्रय से सुशोभित हो ऐसा रात भर में स्तूप निर्माण किया, जो मेरु पर्वत की तरह तीन मेखलाओं से सुशोभित था। प्रत्येक मेखला में प्रति दिक् सम्मुख पञ्चवर्ण रत्नमय प्रतिमाएँ सुशोभित थीं। मूल नायक के स्थान पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का बिंब प्रतिष्ठित था।

प्रभात होते ही लोग स्तूप के पास एकत्र हुए और आपस में विवाद करने लगे। कोई कहते—वासुकि नाग के लांछन वाला स्वयंभू देव है तब दूसरे कहते थे—'शेषशायी भगवान् नारायण है। इसी प्रकार कोई ब्रह्मा कोई धरणेन्द्र (नागराज) कोई सूर्य तो कोई चन्द्रमा कहकर अपनी जानकारी बता रहे थे। बौद्ध कहते थे—यह स्तूप नहीं किन्तु बुद्धाण्डक' है। इस विवाद को सुनकर मध्यस्थ पुरुष कहते थे—यह बिम्ब शक्ति से बना है और दिव्य शक्ति से ही इसका निर्णय होगा। तुम आपस में क्यों

लडते हो। अपने-अपने इष्ट देवो को वस्त्र-पटो पर चित्रित करवाकर निज निज मण्डली के साथ ठहरो, स्तूप-स्थित देव जिसका होगा, उसी का चित्रपट रहेगा। शेष व्यक्तियो के पटस्थित देव भाग जायेंगे। जैन संघ ने भी सुपार्श्वनाथ का चित्रपट बनवाया, बाद मे अपनी अपनी मण्डलियों के साथ चित्रित चित्रपटों की पूजा करके सब धार्मिक सम्प्रदाय वाले अपने-अपने पट सामने रखकर उनकी भक्ति करने लगे।

नवम दिन की रात्रि का समय था। सभी सम्प्रदायो के भक्तजन अपने अपने ध्येय देव के गुणगान कर रहे थे। बराबर अर्द्धरात्रि व्यतीत हुई तब प्रचण्ड पवन प्रारम्भ हुआ। पवन से तृण रेती उडे इसमे तो बडी बात नही थी, परन्तु उसकी प्रचण्डता यहा तक बढ चली कि उसमे पत्थर-ककर तक उडने लगे। तब लोगों का ध्यान टूटा, वे प्राण बचाने की चिंता से वहा से भागे। लोगो ने अपने अपने सामने जो देव-पूजा पट रखे थे, वे लगभग सब के सब प्रचण्ड पवन मे विलीन हो गये। केवल सुपार्श्वनाथ का पट्ट वहा रह गया। हवा का बवण्डर शान्त हुआ, लोग फिर एकत्रित हुए और सुपार्श्वनाथ का पट्ट देखकर बोले—ये अरिहंत देव हैं और यह स्तूप भी इन्हीं देव की मूर्तियो से अलकृत है। लोग उस पट्ट को लेकर सारे मथुरा नगर मे घूमे और तब से "पट्ट-यात्रा" प्रवृत्त हुई।

इस प्रकार धर्मघोष तथा धर्मरुचि मुनि मेरुपर्वताकार देवनिर्मित स्तूप मे देववन्दन कर नया तीर्थ प्रकाश मे लाकर, जैन सघ को आनदित कर मथुरा से विहार कर गए और क्रमश कर्म क्षय कर ससार से मुक्त हुए।

"कुबेरा देवी स्तूप की तब तक रक्षा करती रही, जब कि पार्श्वनाथ का शासन प्रचलित हुआ।"

'एक समय भगवान् पार्श्वनाथ विहार कर क्रम से मथुरा पधारे। उन्होंने धर्मोपदेश करते हुए भावी दुष्षमाकाल के भावो का निरूपण किया। पार्श्वनाथ के वहा से विहार करने के बाद कुबेरा ने सघ को बुलाकर

कहा—भविष्य में समय कनिष्ठ आने वाला है कालानुभाव से राजादि शासक लोभग्रस्त बनेंगे और इस सुवर्णमय स्तूप को नुकसान पहुँचायेंगे। अतः स्तूप भीतर को ईंटों के परदे से ढांक दिया जाय। भीतर की मूर्तियों की पूजा मैं अथवा मेरे बाद जो नयी कुबेरा उत्पन्न होगी वह करेगी। संघ इष्टकामय स्तूप में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रस्तरमयी मूर्ति प्रतिष्ठित करके पूजा किया करे। देवी की बात भविष्य में लाभदायक जानकर संघ ने मान्य की और देवी ने विचारित योजनानुसार मूल स्तूप को ईंटों के स्तूप में ढांप दिया।

वीर-निर्वाण की चौदहवीं शताब्दी में आचार्य बप्पभट्टि हुए। उन्होंने भी इस तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया पार्श्वनाथ की पूजा करवाई, नित्यपूजा होती रहे इसके लिए व्यवस्था करवाई।

इष्टकामय स्तूप पुराना हो जाने से उसमें से ईंटें निकलने लगी थीं इसलिए संघ ने पुराने स्तूप को हटाकर नया पाषाणमय स्तूप बनवाने का निर्णय किया परन्तु कुबेरा ने स्वप्न में कहा—इष्टकामय स्तूप को अपने स्थान से न हटाइये इसको मजबूत करना हो तो ऊपर पत्थर का खोल चढ़वा दो। संघ ने वैसा ही किया। आज भी देव निर्मित स्तूप को अदृश्य रूप से देव पूजते हैं तथा इसकी रक्षा करते हैं। हजारों प्रतिमाओं से युक्त देवालयों रहने के स्थानों सुन्दर गन्ध कुटियों तथा देवमन्दिका मण्डपों अनेक क्षेत्रपाल आदि के निवासों से यह स्तूप सुशोभित है।

पूर्वोक्त बप्पभट्टि सूरिजी ने जो कि ग्वालियर के राजा आम के धर्मगुरु थे मथुरा में वि० सं० ८२६ में भगवान् महावीर का बिम्ब प्रतिष्ठित किया।

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप की उत्पत्ति का निरूपण शास्त्रीय प्रतीकों तथा मथुराकल्प के आधार से ऊपर दिया गया है। कल्पोक्त वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है परन्तु एक बात तो निश्चित है कि यह स्तूप है अतिप्राचीन और भारत में विदेशियों के आने के समय

में यह स्तूप जैनो का एक महिमास्पद तीर्थ बना हुआ था । वर्ष के अमुक समय मे यहा स्नान-महोत्सव होता और उस प्रसग पर भारत-वर्ष के कोने कोने से आकर तीर्थ-यात्रिक यहा एकत्रित होते थे, ऐसा प्राचीन जैन साहित्य के उल्लेखो से सिद्ध होता है । इस बात के समर्थन मे निशीथ-भाष्य की एक गाथा तथा उसकी चूर्णि का उद्धरण नीचे देते हैं—

"थूभमह सड्ढि समणि,–बोहियहरण च निवसुयातावे ।
मग्गेण य अक्कदे, कयमि युद्धेण मोएति ॥"

अर्थात्—'मथुरा के स्तूप महोत्सव पर जैन श्राविकाएँ तथा जैन साध्वियाँ जा रही थी, मार्ग मे से बोधिक लोग उन्हे घेर कर अपने साथ ले चले, आगे जाते मार्ग के निकट आतापना करते हुए एक राजपुत्र प्रव्रजित जैन–मुनि को देखा, उन्हे देखते ही यात्रार्थिनियो ने आक्रन्द (शोर) किया, जिसे सुनकर मुनि उनकी तरफ आये और बौधिको से युद्ध कर श्राविकाओ तथा साध्वियो को उनके पञ्जे से छुडाया ।'

उक्त गाथा की विशेप चूर्णि नीचे लिखे अनुसार है—

"महुराए नयरीए थूभो देवनिम्मिओ, तस्स महिमानिमित्त सड्ढीतो समणीहिं सम निग्गयातो, रायपुत्तो तत्थ अदूरे आयावतो चिट्ठई । ता सड्ढीसमणीतो बोहियेहिं गहियातो तेण तेण अणियातो ता ताहिं त साहु दट्ठूण अक्क दो कओ, ततो रायपुत्तेण साहुणा युद्ध दाऊण मोइयातो । बोधिका–अनार्य म्लेच्छा. ।" (नि० वि० चू० २६८२)

अर्थात्—चूर्णि का भावार्थ गाथा के नीचे दिए हुए अर्थ मे आ चुका है, इसलिये चूर्णि का अर्थ न लिख कर चूर्णिकार के अन्तिम शब्द "बोधिक" पर ही थोडा ऊहापोह करेंगे ।

जैन–सूत्रो के भाष्यादि मे "बोहिय" यह शब्द बार-बार आया करता है, प्राचीन सस्कृत टीकाकार "बोहिय" शब्द बनाकर कहते हैं—"बोधिक" पश्चिम दिशा के म्लेच्छो को कहते हैं । प्राकृत टीकाकार कहते है—"मनुष्य

का अपहरण करने वाले म्लेच्छ 'बोहिय' कहलाते हैं। हमारा अनुमान है कि "बोधिक' अथवा "बोहिय" कहलाने वाले लोग "बोहीमिया' के रहने वाले विदेशी थे, वे यूनानियों के भारत पर के आक्रमण के समय भारत की पश्चिम सरहद पर इधर उधर पहाड़ी प्रदेशों में फस गए थे। मौर्य चन्द्रगुप्त के शासनकाल में भारत के पश्चिम तथा उत्तर प्रदेशों में घुस कर ये मनुष्यों को पकड़ पकड़ कर ले जाते और विदेशों में पहुंचा कर गुलाम खरीद दारों के हाथ बेच दिया करते थे। उपर्युक्त हमारा अनुमान ठीक हो तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि मथुरा का स्तूप मौर्य-राज्यकालीन होना चाहिए।

मथुरा का देवनिर्मित स्तूप आज भी मथुरा के कंकाली टीला' के रूप में भग्न अवस्था में पड़ा है। इसमें से मिली हुई कुषाण कालीन जैन-मूर्तियां, आयाग-पट जैन साधुओं की मूर्तियां आदि ऐतिहासिक साधन आज भी मथुरा तथा लखनऊ के सरकारी संग्रहालयों म सुरक्षित हैं। इन पर राजा कनिष्क हुविष्क वासुदेव के राज्यकाल के लेख भी उत्कीर्ण है इससे ज्ञात होता है कि यह तीर्थ विक्रम की दूसरी शताब्दी तक उन्नत दशा में था। उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमणों से खास कर श्वेत हूणों के समय में जैन श्रमण तथा जैन गृहस्थ सामूहिक रूप से दक्षिण भारत की तरफ राजस्थान मेवाड़ मालवा आदि में चले आये और उत्तर भारत के अनेक जैन तीर्थ रक्षण के अभाव से वीरान हो गये थे जिनम से मथुरा का देव-निर्मित स्तूप भी एक था।

(१०) सम्मत शिखर :

सूत्रोक्त जम तीर्थों में सम्मेत शिखर (पारसनाथ-हिल) का नाम भी परिगणित है। आवश्यक निर्युक्तिकार कहते हैं-ऋषभदेव[१] वासुपूज्य[११] नेमिनाथ[११] और वर्धमान (महावीर) इन चार तीर्थङ्करों को छोड़ शेष इस अवसर्पिणी समय के बीस तीर्थंकर सम्मेत शिखर पर निर्वाण प्राप्त हुए थे इस दशा में सम्मेत शिखर को तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि होने के कारण तीर्थ कहते हैं।

पन्द्रहवी शताब्दी मे "निगमगच्छ" के प्रादुर्भावक आचार्य इन्द्रनन्दी के बनाये हुए "निगमो" मे एक निगम "सम्मेत शिखर" के वर्णन में लिखा है। जिसमे इस तीर्थ का बहुत ही अद्भुत वर्णन किया है। आज से ४४ वर्ष पहले ये निगम कोडाय (कच्छ) के भण्डार मे से मगवाकर हमने पढे थे।

ऊपर लिखे सूत्रोक्त दश प्राचीन तीर्थों के अतिरिक्त वैभारगिरि, विपुलाचल, कोशला की जीवित-स्वामि-प्रतिमा, अवन्ति की जीवितस्वामि-प्रतिमा आदि अनेक प्राचीन पवित्र तीर्थों के उल्लेख सूत्रो के भाष्य आदि मे मिलते हैं, परन्तु इन सबका एक निबन्ध मे निरूपण करना अशक्य जानकर उन्हे छोड देते हैं।

प्राचीन जैन तीर्थों के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा जा सकता है परन्तु एक निबन्ध मे इससे अधिक लिखना पाठकगण के लिये रुचिकर न होगा, यह समझकर तीर्थविषयक लेख यहा पूरा किया जाता है। आशा है कि पाठकगण लेखगत त्रुटियो पर नजर न रखकर इसकी ज्ञातव्य बातो पर लक्ष्य देंगे।

卐 卐

: २१ :

मारवाड की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियाँ

लेखक–मुनि कल्याणविजयजी

१ उत्थान

यों तो मारवाड़ में अनेक जगह प्राचीन जैन मूर्तियाँ विद्यमान होंगी परन्तु आज तक हमने जितनी भी धातुमयी और पाषाणमयी जैन मूर्तियों के दर्शन किये उन सब में पिण्डवाड़ा (सिरोही) के महावीर स्वामी के मन्दिर में रखी हुई कतिपय सर्व धातु की मूर्तियाँ अधिक प्राचीन हैं।

पहले पहल हमने संवत् १९७८ के पौष सुदि ७ के दिन इन मूर्तियों के दर्शन किये थे और कुछ मूर्तियों के लेख तथा तत्सम्बन्धी जरूरी नोट भी लिख लिये थे परन्तु इनके विषय में लिखने की इच्छा होने पर भी कुछ लिखा नहीं जा सका। कारण यह था कि उनमें की सबसे प्राचीन एक मूर्ति पर जो लेख था वह पूरा पढ़ा नहीं गया था। यद्यपि उसका प्रथम और अन्तिम पद्य-संवत् स्पष्ट पढ़ा गया था परन्तु अक्षरों के घिस जाने के कारण बिचले दो पद्य पढ़े नहीं जा सके थे और इच्छा लेख पूरा पढ़कर कुछ भी लिखने की थी।

इस साल गत आषाढ़ वदि ६ के दिन फिर हमने प्रस्तुत मूर्तियों के दर्शन किये और उनके सम्बन्ध में फिर भी कुछ बातें नोट कीं। बाद में वहीं पर सुना कि कोई ४–५ दिन पहले ही रायबहादुर महामहोपाध्याय पण्डित गौरीशंकरजी ओझा यहाँ की इस प्राचीन कार्योत्सर्गिक मूर्ति का लेख ले गये हैं यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पण्डितजी से लेख की नकल मंगवा लेने के विचार से इस बार उक्त लेख पढ़ने का हमने प्रयत्न ही नहीं किया।

पिण्डवाडा से विहार कर जब हम रोहिडा आये तो पण्डितजी यही थे। खबर पहुचते ही आप उपाश्रय मे पधारे और बरावर तीन घण्टो तक पुरातत्त्वविषयक ज्ञानगोष्ठी करते रहे। दर्मियान उक्त जैन लेख के बारे मे पूछने पर ज्ञात हुआ कि "वह लेख आपके नोट मे भी पूरा नही है, घिस जाने के कारण बिचला भाग ठीक नही पढ़ा गया।" हमे बडी निराशा हुई। अब लेख के सम्पूर्ण पढ जाने की कोई आशा नही रही और उन मूर्तियो तथा लेख के सम्बन्ध में जो कुछ लिखने योग्य है उसे लिख देने का निश्चय कर लिया।

२. मूर्तियों का मूल प्राप्ति-स्थान :

प्रस्तुत मूर्तियाँ यद्यपि इस समय पिण्डवाडा के जैन मन्दिर मे स्थापित हैं, परन्तु इनका मूल प्राप्तिस्थान जहाँ से कि ये लाई गई है **वसन्तगढ़** है।

'**वसन्तगढ़**' पिण्डवाडा से अग्निकोण मे करीब ३ कोस की दूरी पर एक पहाडी किला है, जो इसी नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के भील मेदजन आदि पहाडी लोग इसे "चवलियो री गढ" इस नाम से अधिक पहिचानते हैं। सोलहवी सदी के शिलालेखो मे इस स्थान का नाम "वसन्तपुर" लिखा है, तब कोई कोई पुरातत्त्वज्ञ इसका प्राचीन नाम "वसिष्ठपुर" बताते हैं। कुछ भी हो, लेकिन "वसन्तगढ" म रवाड के अतिप्राचीन स्थानो मे से एक है। यह बात वहाँ के क्षेमार्या देवी के मन्दिर के विक्रम की सातवी सदी के एक शिलालेख से ही सिद्ध है।

वसन्तगढ़ मे इस समय भी तीन-चार अर्धध्वस्त दशा मे जैन मन्दिर दृष्टिगोचर होते हैं। दो-तीन जैनेतर देवताओ के मन्दिर भी वहा खण्डित

---

१. बाद में हमने पण्डितजी से उस लेख की नकल भी अजमेर से मगवाई, परन्तु आपके कहने मुजब ही उसके बिचले दो पद्य अधिकाश मे अक्षरों के घिस जाने से पढ़े नहीं गये थे, फिर भी हमे पण्डितजी की नकल से दो एक शब्द नये अवश्य मिले और उनके आधार से उन पद्यों का भाव समझने मे कुछ सुगमता हो गई।

२ वसन्तगढ़ से करीब डेढ मील के फासले पर एक "चवली" नाम का गाव है, उसी के ऊपर से "चवलियो री गढ़" कहते हैं।

वहां में विद्यमान हैं, जिनमें एक देवी "सोमार्या" का प्राचीन मन्दिर भी है।

प्रस्तुत धातु-मूर्तियाँ विक्रम सं० १९९६ तक वसन्तगढ़ के जैन मंदिर के भूमिगृह में थीं जिनका किसी को पता नहीं था। परन्तु उक्त वर्ष में जो कि एक भयंकर दुष्काल का समय था वन के लोभ से अथवा अन्य किसी कारण से पुराने खण्डहरों की तलाश करने वालों को इन जैन मूर्तियों का पता लगा। उन्होंने तीन-चार मूर्तियों के अङ्ग तोड़कर उनकी परीक्षा करवाई और उनके सुवर्णमय न होने के कारण उन्हें वहीं छोड़ दिया। बाद में धीरे धीरे यह बात निकटस्थ गाँवों वालों के कानों पहुंची तब पिण्डवाड़ा आदि के जैन श्रावकों ने वहां जाकर छोटी-बड़ी अखण्ड और खंडित सभी धातु-मूर्तियां पिण्डवाड़े ला करके और उनमें जो जो पूजने योग्य थी उन्हें ठीक करवा कर, महावीर स्वामी के मंदिर के गूढ़ मंडप में और पिछली बड़ी देहरी के मंडप में स्थापित की जो अभी तक वहीं पूजी जाती हैं।

२ मूर्तियों की वर्तमान अवस्था :

यों तो वसंतगढ़ से आई हुई मूर्तियों की संख्या बहुत है परन्तु उनमें से अधिकांश तीन तीर्थियां पञ्च तीर्थियां और चतुर्विंशतियां दसवीं ग्यारहवीं और बारहवीं सदी की होने से इस लेख में उनका परिचय देने की विशेष आवश्यकता नहीं। जो जो मूर्तियां नवम-शताब्दी के पूर्वकाल की हैं उन्हीं का परिचय कराना यहाँ योग्य समझा गया है।

जिन्हें मैं आठवीं सदी की मूर्तियां कहता हूँ वे कुल आठ हैं। उनमें तीन अकेली[1] तीन त्रितीर्थियां और दो अकेली कायोत्सर्गिक मूर्तियां हैं।

इनमें से पहली तीन अकेली मूर्तियाँ लगभग पौन फुट व लगभग ऊंची हैं और बिल्कुल ही खंडित तथा बेकार बनी हुई हैं। पहले ये भूहरे में रखा

---

१ पहले समाव कृतिका तपरिकर ही होती थी इस हिसाब से ये मूर्तियां भी पहले सपरिकर ही होगी और बाद में परिकरों के टूट पड़ जाने से अकेली हुई होंगी ऐसा अनुमान है।

दो गई थी परन्तु बाद मे वहा के एक श्रावक ने गाव के पचो की राय लिये और ही पालनपुर के एक पुरातत्त्व अन्वेषक गृहस्थ को वे दे दी थी, परन्तु साल भर के बाद जब गाव के पचो को इस बात का पता लगा तो देने वाले को मूर्तिया वापिस लाने के लिए तग किया और ले जाने वाले गृहस्थ से भी मूर्तिया वापिस दे देने के लिए लिखा-पढी की। आखिर वे तीनो मूर्तिया फिर पिण्डवाडे आ गई, जो अभी पिछली देहरी के कपिलामण्डप के दोनो खत्तको मे रक्खी हुई है।

तीन त्रितीर्थिया भी उसी देहरी के मण्डप मे भीतर जाते दाहिने हाथ की तरफ विराजमान हैं। ये परिकर सहित सवा फुट के लगभग ऊँचाई मे होगी। ये मूर्तिया अभी तक अच्छी हालत मे हैं।

त्रितीर्थियो के मूलनायक की प्राचीनता उनके लम्बगोल और सुनहरे मुख से ही झलकती है। बाकी उन पर न लेख है, न वस्त्र या नग्नता के ही चिह्न। परन्तु इन त्रितीर्थियो मे जो दो दो कायोत्सर्गस्थित मूर्तिया हैं उनकी आकृति और कटि भाग के नीचे स्पष्ट दिखने वाला वस्त्रावरण इनकी प्राचीनता का खुला साक्ष्य दे रहा है।

इन त्रितीर्थियो मे अर्वाचीन त्रितीर्थियो से दो एक बाते भिन्न प्रकार की देखी गई। अर्वाचीन त्रितीर्थियो मे दोनो कार्योत्सर्गिक मूर्तिया एक ही तीर्थंकर की होती हैं और उनमे यक्ष-याक्षिणी भी मूलनायक की ही होती हैं परन्तु इन त्रितीर्थियो के सम्बन्ध मे यह बात नही पाई गई। इनमे मूलनायक तो अन्य तीर्थङ्कर हैं ही, परन्तु दो कायोत्सर्गिक भी भिन्न-भिन्न तीर्थङ्कर हैं और केवल मूलनायक के ही नही सब के पास अपने-अपने अधिष्ठायको की मूर्तिया दृष्टिगोचर होती हैं।

दो अकेली कायोत्सर्गिक मूर्तिया मूलमन्दिर के गूढ मण्डप मे दाहिने और बायें भाग मे सामने ही खडी हैं। दोनो मूर्तियो के नीचे धातुमय पाद-पीठ हैं, जिनसे मूर्तिया काफी ऊँची दीखती हैं। पादपीठ सहित इन कायोत्सर्गिको की ऊँचाई ६ फुट से अधिक होगी। सामान्यतया दोनो

मूर्तियां अच्छी हालत में हैं परन्तु ध्यान से देखने से इनकी भुजाओं में श्वेत धातु के टांके स्पष्ट दिखाई देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि इनकी भुजायें अनार्य लोगों ने तोड़ दी होंगी अथवा तोड़ने के लिए इन पर शस्त्र प्रहार किये होंगे, जिससे भुजाओं में गहरी चोटें लगी हैं जो बाद में चांदी से भर दी गई मालूम होती हैं।

दो मूर्तियों में से उक्त बायें हाथ तरफ की मूर्ति के पादपीठ पर ५ पंक्ति का एक संस्कृत भाषा में लेख है जो विवेचनपूर्वक आगे दिया जायगा।

४ मूर्तियों की विशिष्टता :

प्रस्तावित मूर्तियों की विशिष्टता भी देखने योग्य है। गुप्तकालीन शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने होने के कारण तो ये दर्शनीय हैं ही परन्तु अन्य भी अनेक विशिष्टतायें इनमें संनिहित हैं।

१ आज तक जितनी कायोत्सर्गस्थित प्राचीन जिनमूर्तियां हमने देखी हैं उन सब के कटिभाग में तीन पांच अथवा सात सर का कन्दा बंधा हुआ और उसके अंचल सामने गुह्यभाग से लेकर जंघामध्य तक लम्बे देखे गये हैं। परन्तु इन मूर्तियों के विषय में यह बात नहीं है। इनके कटि प्रदेश में कन्दा या लंगोट नहीं किन्तु कंदोरा सा बंधा हुआ दिखाई देता है जिसका गठबन्धन सामने ही मूर्ति के दाहिने हाथ की तरफ किया हुआ है और वहीं उसके छोर लटकते हुए दिखलाये हैं। परन्तु रस्सी का एक छोर सामने की तरफ भी नीचे लटकता हुआ दिखाया गया है जो कपड़े के एक अंचल से बंधा हुआ सा ज्ञात होता है। इससे मूर्ति के दाहिने भाग में तो कंदोरे की गांठ मात्र ही दीखती है परन्तु बायीं तरफ बन्धन भाग से सटा हुआ कपड़ा दिखाई दे रहा है जो सामने के बायें अर्ध भाग को ढंकता हुआ घुटनों के भी नीचे पतली जांघों तक चला गया है। बायें भाग में कपड़े पर बल पड़े होने से वह स्पष्ट दिखाई देता है। दाहिने भाग में वैसा न होने से कपड़े का चिह्न स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता परन्तु दोनों जांघों के पिछले भागों में दामनों के कुछ ही ऊपर कपड़े की किनारी स्पष्ट दिखाई देती है जिससे 'मूर्तियों का कपड़ा के नीचे का भाग [illegible]' यह बात

स्पष्ट रूप से समझ मे आ जाती है। इस प्रकार की उक्त मूर्तिया न तो कच्छवाली कही जा सकती है और न नग्न ही, किन्तु जिस प्रकार श्वेताम्बर जैन साधु आजकल चोलपट्टा पहिन कर ऊपर कन्दोरा बाधते हैं; ठीक उसी प्रकार ये मूर्तिया भी कमर से जघा तक कपडा पहिनी और ऊपर कन्दोरा बधी हुई प्रतीत होती हैं। प्रस्तुत मूर्तियो की सबसे पहली यह विशिष्टता है और इससे हमारे समाज मे चिर प्रचलित एक दन्तकथा निराधार लिखी हुई साबित होती है।

कहा जाता है और अनेक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थो मे लिख भी चुके हैं कि पूर्वकाल मे जैन मूर्तिया न तो नग्न होती थी और न वस्त्रावृत किन्तु वे उक्त दोनो आकारो से विलक्षण आकार वाली होती थी, जिन्हे श्वेताम्बर दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो वाले मानते थे। परन्तु बप्पभट्टि आचार्य के समय मे (विक्रम की नवमी शताब्दी मे) एक बार गिरनार तीर्थ के स्वामित्व हक के बारे मे श्वेताम्बर-दिगम्बरो मे झगडा हुआ। झगडे का फैसला बप्पभट्टि आचार्य के प्रभाव से श्वेताम्बरो के हक मे होकर उक्त तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रमाणित हुआ, परन्तु इस झगडे से दोनो सम्प्रदाय वाले चौकन्ने हो गये और भविष्य मे फिर कभी बाधा न उठे इस वास्ते एक सम्प्रदाय वालो ने अपनी मूर्तिया कच्छ-कन्दोरे वाली बनवाने की प्रथा प्रचलित की और दूसरो ने बिल्कुल नग्नाकार वाली, परन्तु प्रस्तुत मूर्तियो के आकार प्रकार से उक्त दन्तकथा केवल निराधार प्रमाणित होती है। जिस समय बप्पभट्टि का जन्म भी नही हुआ था उस समय भी जब इस प्रकार की वस्त्रधारिणी जैन मूर्तिया बनती थी तब यह कैसे माना जाय कि बप्पभट्टि के समय से ही सवस्त्र जिनमूर्तिया बनने लगी।[1]

---

१ मथुरा के प्राचीन खण्डहरो में से विक्रम की छठवी सदी के लगभग समय की कुछ जैन मूर्तिया निकली हैं जो आधुनिक दिगम्बर मूर्तियों की तरह बिल्कुल नग्नाकार हैं। इससे भी उक्त दन्तकथा कि नग्नमूर्तिया बप्पभट्टि के समय से बनने लगी, निराधार प्रमाणित होती है। सच बात तो यह है कि सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा के समय से ही उनकी अभिमत मूर्तिया भी अपनी २ मान्यतानुसार बनने लगी थी। परन्तु समय समय पर होने वाली शिल्पशास्त्र की उन्नति अवनति के कारण कालान्तरों मे उनका मूल रूप कई अंशो मे परिवर्तित हो गया और मूर्तिया वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हो गई।

२ अधिकृत मूर्तियों की दूसरी विशिष्टता यह है कि इनके मस्तक केशोएणियों (केशों के मणिकों) से भरे हुए हैं, जब कि दशवीं शताब्दी और इसके बाद की जिनमूर्तियों के मस्तक पर ज्यादा से ज्यादा और कम से कम ३ मणिक मालाएँ देखी जाती हैं तब प्रस्तुत मूर्तियों की ऊँची शिखाएँ भी मणिकों से परिपूर्ण हैं। जवान आदमी का शिर जैसा घुंघर वाले बालों से सुशोभित होता है ठीक वैसे ही इन मूर्तियों के शिर हैं।

३ इनमें से कुछ बड़ी मूर्तियों के स्कन्धों पर स्पष्ट रूप से जटायें रखी हुई प्रतीत होती हैं यद्यपि किन्हीं किन्हीं अर्वाचीन मूर्तियों के स्कन्धों पर भी जटाओं के आकार देखे जाते हैं। पर वे आकार जटाओं के न होकर कानों के निचले भाग के पास स्कन्धों पर एक दूसरी से चिपटी हुई तीन गोलियां बना दी जाती हैं जिनको जटा मानकर उनके आधार पर वह मूर्ति ऋषभदेव की कही जाती है। परन्तु इन मूर्तियों के स्कन्धों पर की जटायें हूबहू जटायें होती हैं। मूल में एक एक होती हुई भी कुछ आगे जाकर वह तीन तीन भागों में बंट जाती है जिससे समूचा दृश्य हवा से बिखरी हुई एक जटा सा सुन्दर दीखता है। यह इन मूर्तियों की तीसरी विशिष्टता है।

४ प्रस्तावित मूर्तियों की चौथी विशिष्टता यह है कि वे भीतर से पोली हैं। आज तक जितनी भी सर्वधातुमयी मूर्तियां हमने देखीं सब ठोस ही ठोस देखीं परन्तु उक्त छोटी-बड़ी सभी कायोत्सर्गिक मूर्तियां भीतर से पोली हैं जो लाख जैसे हल्के खास पदार्थ से भरी हुई हैं।

५ मूर्ति के लेख का परिचय :

इन सब में से पूर्वोक्त एक ही बड़ी कायोत्सर्गिक मूर्ति के पादपीठ पर पांच पंक्ति का एक पद्यबद्ध लेख है। लेख को प्रारम्भ ॐकार' से किया गया है दो श्लोक हैं। तीसरा आर्यावृत्त है लेख का चौथा पद्य श्लोक है। प्रत्येक पंक्ति में पूरा एक एक पद्य आ गया है। प्रथम पंक्ति में द्वितीय पद्य के ४ अक्षर आ गये हैं। इनमें से प्रथम तथा चतुर्थ पद्य तो स्पष्ट पढ़े जा सकते हैं परन्तु इनके बिचले दो पद्य अधिक घिस जाने से ठीक पढ़े नहीं

जा सकते। प्रथम पद्य मे मूर्ति के दर्शन की आवश्यकता की सूचना है, दूसरे पद्य मे मूर्तियुगल का निर्माण करवाने वाले गृहस्थो के नाम हैं जो घिस जाने से पढे नही जा सके। उनमे से सिर्फ एक 'यशोदेव' नाम स्पष्ट पढा गया है। तीसरी पक्ति मे मूर्तिदर्शन से होने वाले लाभो की प्राप्ति की प्रार्थना है। चौथी पक्ति मे प्रतिष्ठा का सवत् है और उसके नीचे पाचवी पक्ति मे मूर्ति बनाने वाले शिल्पी की प्रशसा लिखी गई है।

६. मूल लेख और उसका अर्थ :

मूल लेख की अक्षरश नकल नीचे मुजब है—

१ ॐ "नीरागत्वादिभावेन, सर्वज्ञत्वविभावक। ज्ञात्वा भगवता रूप जिनानामेव पावन ॥ द्रो वक · ···· ·· · ···· ··· ········ · · · '

२ "यशादेव देव· ·· · · ··· भि.। ·········· ·········रिह जैन ·· ······· ····· · · ··· ···· ·· · · कारित युग्ममुत्तम ॥"

३ "भवशत परम्परार्जित-गुरुकर्म्मरसो (जो) त· ·· · · ·· · ·· ··· · · ··· ·· · वर दर्शनाय शुद्ध-सज्ज्ञानचरण लाभाय ॥"

४ "सवत् ७४४।"

५ "साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूपविधायिना।
शिल्पिना शिवनागेन, कृतमेतज्जिनद्वयम् ॥"

अर्थ—'वीतरागता आदि गुणो से सर्वज्ञत्व सूचित करने वाली जिन-भगवन्तो की पवित्र मूर्ति ही है।

(ऐसा) जानकर यशोदेव ·· · ··· · · आदि ने जिनमूर्तियो की यह जोडी वनवाई।

सैकडो भव परम्पराओ मे उपार्जन किये कठिन कर्म-रज · ·· · ···· · ··· ·· (के नाश के लिए तथा) सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान और चारित्र के लाभ के लिए (हो)।

विक्रम स० ७४४ मे (इस मूर्तियुगल की प्रतिष्ठा हुई) साक्षात् ब्रह्मा की तरह सर्व प्रकार के रूपो (मूर्तियो) को वनाने वाले शिल्पी (मूर्ति-निर्माता स्थपति) शिवनाग ने ये दोनो जैन मूर्तिया वनाई।'

७ उपसंहार

मारवाड़ में हजारों प्राचीन जैनमूर्तियां हैं परन्तु ज्ञात मूर्तियों में दसवीं सदी के पहले की बहुत कम होंगी जो कि विक्रम की पांचवीं सदी के पहले ही यह प्रदेश जैन धर्म का क्रीड़ास्थल बन चुका था और छठी सातवीं तथा आठवीं सदी तक यह देश जैन धर्म का केन्द्र बना हुआ था। इस हिसाब से उक्त पिण्डवाड़ा की मूर्तियों से भी यहां प्राचीन मूर्तियां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिए थीं। परन्तु हमारे प्रमुसधान में वैसी मूर्तियों का अभी तक पता नहीं लगा इसका कारण प्राय: राज्यक्रान्तियां हो सकती हैं। इस भूमि में आज तक कई जातियां राज्याधिकार भला चुकी हैं। राज्यसत्ता एक वंश से दूसरे वंश में यों ही नहीं जाती कई प्रकार की धमालों और घातक युद्धों के अन्त में नई राज्यसत्ता स्थापित हो सकती है। इस प्रकार के कष्टमय राज्यक्रान्तिकाल में प्रजा का अपने जानमाल की रक्षा के लिये इधर-उधर हो जाना अनिवार्य हो जाता है। जिस समय प्राणों की रक्षा होनी भी मुश्किल हो जाती है उस समय मूर्तियों और मन्दिरों की रक्षा की तो बात ही कैसी? लोग मूर्तियां जमीन में गाड़कर जहां तहां भाग जाते उनमें से जो बहुत दूर निकल जाते वे प्राय: वहीं ठहर जाते वे जो निकटवर्ती होते शांति स्थापित होने पर फिर आ जाते थे। पर वे भी त्रास से इतने भय भीत हो जाते थे कि उनकी मनोवृत्तियां स्थिर नहीं रहतीं। राज्य की तरफ से कब बखेड़ा उठेगा और कब भागना पड़ेगा ये ही विचार उनके दिमागों में घूमते रहते। परिणामस्वरूप भूगर्भशायी की हुई मूर्तियां निकालने का उन्हें उत्साह नहीं होता मूर्तिविरोधियों की चढ़ाइयों के समय तो वे मूर्तियां को भूगर्भ में रखने में ही लाभ समझते। राज्य-विप्लवों की शान्ति और मनुष्यों की मनोवृत्तियां स्थिर होते होते पर्याप्त समय बीत जाता। मूर्तियों को जमीन में सुरक्षित करने वाले या उन स्थानों की जानकारी रखने वाले प्राय: परलोक सिधार जाते फलत: पिछले धार्मिक गृहस्थ नयी मूर्तियां और मन्दिर बनवाकर अपना भक्तिभाव प्रगट करते और भूमिशरण की हुई प्राचीन मूर्तियां सदा के

लिये भूमि के उदर मे समा जाती। आज हमे अधिक प्राचीन मूर्तिया उपलब्ध नही होतीं उसका यही कारण है। आज यदि प्राचीन स्थानो मे खुदाई की जाय तो बहुत सभव है कि सैकड़ो ही नही, हजारो की सख्या मे हमारी प्राचीन मूर्तिया जमीन मे से निकल सकती हैं, परन्तु राज्यसत्ता के अतिरिक्त ऐसा कौन कर सकता है? और जब तक ऐसा न हो और अधिक प्राचीन मूर्तियां उपलब्ध न हो तब तक हमे पिण्डवाडा की उक्त मूर्तियो को ही मारवाड की सबसे प्राचीन जैन मूर्तिया मानना रहा।

वासा
ता० १५-८-३६

मुनि कल्याणविजय

। २२ ।

प्रतिष्ठाचार्य

प्रतिष्ठा-विधियों-कल्पों में प्रतिष्ठा-कारक आचार्य उपाध्याय गणि अथवा साधु को "प्रतिष्ठाचार्य" इस नाम से सम्बोधित किया जाता है। तथा श्रीगुणरत्नसूरिजी ने अपने प्रतिष्ठाकल्प के प्रथम श्लोक में लिखा है—

महावीरजिनं नत्वा प्रतिष्ठाविधिमुत्तमम् ।
यति-श्रावक-कर्तव्य-व्यक्त्या वक्ष्ये समासतः ॥१॥'

अर्थात्—'महावीर जिन को नमस्कार करके साधु-श्रावक कर्तव्य के विवेक के साथ उत्तम प्रतिष्ठाविधि का सक्षेप से निरूपण करूँगा।

आचार्य श्री गुणरत्न सूरिजी अपने उक्त श्लोक में 'सूरि-श्रावक कर्तव्य' ऐसा निर्देश न करके 'यति-श्रावक कर्तव्य' ऐसा उपन्यास करते हैं इससे ध्वनित होता है कि प्रतिष्ठाकर्तव्य आचार्य मात्र का नहीं है किन्तु मुनि सामान्य का है जिसमें आचार्यादि सब आ जाते हैं। विधि विधान के प्रसग पर भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त 'इति गुरुकृत्यं' इत्यादि उल्लेखों पर से साबित होता है कि प्रतिष्ठाकर्तव्य गुरु सामान्य का है, न कि आचार्य मात्र का। आचारदिनकर में खरतर श्री वर्धमानसूरिजी प्रतिष्ठाकारक के सम्बन्ध में कहते हैं—

'आचार्यैः पाठकैश्चैव साधुभिर्ज्ञानिसत्क्रियैः ।
जैनद्विजैः क्षुल्लकैश्च प्रतिष्ठा क्रियतेऽर्हतः ॥१॥"

अर्थात्—'आर्हती प्रतिष्ठा आचार्यों उपाध्यायों ज्ञानक्रियावान् साधुओं जैन ब्राह्मणों और क्षुल्लकों (साधु-धर्म के उमेदवारों) द्वारा की

जाती है। यहा एक शका को अवकाश मिलता है कि उक्त श्री गुणरत्न-सूरिजी तथा श्री वर्धमानसूरिजी का कथन "प्रतिष्ठाविधि" तथा "प्रतिष्ठा-करण" विषयक है तो भले ही "प्रतिष्ठा"–"जिनबिम्ब-स्थापना" आचार्यादि कोई भी कर सकते हो पर अजनशलाका–नेत्रोन्मीलन तो आचार्य ही करते होगे ? इस शका का समाधान यह है कि आचार्य की हाजरी मे आचार्य, उनके अभाव मे उपाध्याय, उपाध्याय के अभाव मे पदस्थ साधु और पदस्थ साधु की भी अनुपस्थिति मे सामान्य रत्नाधिक साधु और साधु के अभाव मे जैन ब्राह्मण अथवा क्षुल्लक भी नेत्रोन्मीलन कर सकते हैं। गुणरत्न-सूरि तथा वर्धमानसूरि की प्रतिष्ठा-विधिया वास्तव मे अजनशलाका की विधिया हैं, इसलिये इनका कथन स्थापना-प्रतिष्ठा विषयक नही किन्तु अजनशलाका-प्रतिष्ठा विषयक है। क्योकि प्रतिमा को नेत्रोन्मीलन पूर्वक पूजनीय बनाना यही खरी प्रतिष्ठा है, जब कि पूर्व-प्रतिष्ठित प्रतिमा को आसन पर विधि-पूर्वक विराजमान करना यह "स्थापनप्रतिष्ठा" मानी जाती है। गुणरत्नसूरि और वर्धमानसूरि की प्रतिष्ठा-विधियाँ अजनशलाका-प्रतिष्ठा का विधान-प्रतिपादन करती हैं न कि स्थापनाप्रतिष्ठा का। इससे सिद्ध होता है कि वे "प्रतिष्ठा" कारक के विषय मे जो निरूपण करते हैं वह अजनशलाकाकार को ही लागू होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अजनशलाकाकार योग्यता प्राप्त किया हुआ साधु भी हो सकता है और वह "प्रतिष्ठाचार्य" कहलाता है।

प्रतिष्ठाचार्य की योग्यता : : :

प्रतिष्ठाचार्य की शारीरिक और बौद्धिक योग्यता के विषय मे आचार्य श्री पादलिप्तसूरि अपनी प्रतिष्ठापद्धति मे (निर्वाणकलिकान्तर्गत मे) नीचे मुजब निरूपण करते हैं—

"सूरिश्चार्यदेशसमुत्पन्न, क्षीणप्रायकर्ममलश्च, ब्रह्मचर्यादिगुण-गणालकृत, पञ्चविधाचारयुत, राजादीनामद्रोहकारी, श्रुताध्ययनसपन्न, तत्त्वज्ञ, भूमि-गृह-वास्तु-लक्षणाना ज्ञाता, दीक्षाकर्मणि प्रवीण, निपुण: सूत्रपातादिविज्ञाने, स्रष्टा सर्वतोभद्रादिमण्डलानाम्, असम प्रभावे, आलस्य-वर्जित, प्रियवद, दीनानाथवत्सल सरलस्वभावो, वा सर्वगुणान्वितश्चेति।"

अर्थात्—'प्रतिष्ठाचार्य आर्य देशजात १ सत्कुकर्मा २, ब्रह्मचर्यादि गुणोपेत ३ पंचाचारसंपन्न ४ राजादि सत्ताधारियों का अविरोधी ५, श्रुताभ्यासी ६ तत्त्वज्ञानी ७ भूमिलक्षण-गृहवास्तुलक्षणादि का ज्ञाता ८, दीक्षाकर्म में प्रवीण ९ सूत्रपातादि के विज्ञान में विचक्षण १० सर्वतोभद्रादि चक्रों का निर्माता ११ भद्रस प्रभाववान् १२ आलस्यविहीन १३ प्रिय वक्ता १४, दीनानाथ वत्सल १५, सरलस्वभावी १६ अथवा मानवोचित सर्व-गुण-संपन्न १७। प्रतिष्ठाचार्य के उक्त १७ गुणों में नम्बर ३ ४ ६ ७ ८ १० ११ और १३ ये गुण विशेष विचारणीय हैं। क्योंकि आजकल के अनेक स्वयम्भू प्रतिष्ठाचार्यों में इनमें से बहुतेरे गुण होते नहीं हैं। ब्रह्मचर्य पंचाचार संपत्ति श्रुताभ्यास तत्त्वज्ञातृत्व सूत्रपातादि विज्ञान भूमिलक्षणादि वास्तुविज्ञान प्रतिष्ठोपयोगी चक्रनिर्माणकला और अप्रमादिता ये मौलिक गुण तो प्रतिष्ठाचार्य में होने ही चाहिये। क्योंकि ब्रह्मचर्य तथा पंचाचार संपत्तिविहीन के हाथों से प्रतिष्ठित प्रतिमा में प्राय: कला प्रकट नहीं होती। शास्त्र ज्ञान-हीन और तत्त्व को न जानने वाला प्रतिष्ठाचार्य पग-पग पर प्रतिष्ठा के कार्यों में पराधीन बनकर अज्ञानतावश विधिवैपरीत्य कर बैठता है परिणामस्वरूप प्रतिष्ठा सफल नहीं हो सकती।

भूमिलक्षणादि विज्ञान से शिल्प सूत्रपातादि विज्ञान से ज्योतिष और चक्रनिर्माण से प्रतिष्ठा-विधि शास्त्र का उपलक्षण समझना चाहिए। शिल्पशास्त्रज्ञाता प्रतिष्ठाचार्य ही प्रासाद प्रतिमा कलश ध्वजादिगत शुभाशुभ लक्षण और गुण-दोष जान सकता है। ज्योतिष शास्त्रवेत्ता प्रतिष्ठाचार्य ही प्रतिष्ठा-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य—अभिषेक अधिवासना अंजनशलाका बिंबस्थापना आदि कार्य शुभलग्न नवमांशादि षड्वर्गशुद्ध समय में कर सकता है और प्रतिष्ठाविधिशास्त्र का ज्ञाता तथा अनुभवी प्रतिष्ठाचार्य ही प्रतिष्ठा प्रतिबद्ध प्रत्येक अनुष्ठान को कुशलता-पूर्वक निर्विघ्नता से कर तथा करा सकता है और अप्रमादिता तो प्रतिष्ठाचार्य के लिए एक अमूल्य गुण है। अप्रमादी प्रतिष्ठाकारक ही अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। प्रमादी विद्यासाधक ज्यों अपने कार्य में सफल नहीं होता, वैसे प्रमादी प्रतिष्ठाचार्य भी अपने कार्य में सफल नहीं होता।

वेष-भूषा : : :

यो तो प्रतिष्ठाचार्य की वेष-भूषा, यदि वह सयमी होगा तो साधु के वेष मे ही होगा, परन्तु प्रतिष्ठा के दिन इनकी वेष-भूषा मे थोडा सा परिवर्तन होता है। निर्वाणकलिका मे इसके सम्बन्ध मे नीचे लिखे अनुसार विधान किया है—

"वासुकिनिर्मोकलघुनी, प्रत्यग्रवाससी दधान करांगुलीविन्यस्त-काञ्चनमुद्रिकः, प्रकोष्ठदेशनियोजितकनककङ्कण, तपसा विशुद्धदेहो वेदि-कायामुदङ्मुखमुपविश्य।" (नि० क० १२–१)

अर्थात्—'बहुत महीन्, श्वेत और कीमती नये दो वस्त्रधारक, हाथ की अगुली मे सुवर्ण-मुद्रिका (वीटी) और मणिबन्ध मे सुवर्ण का ककरण धारण किये हुए उपवास से विशुद्ध शरीर वाला प्रतिष्ठाचार्य वेदिका पर उत्तराभिमुख बैठकर।'

श्री पादलिप्तसूरिजी के उक्त शब्दो का अनुसरण करते हुए आचार्य श्री श्रीचन्द्रसूरि, श्री जिनप्रभसूरि, श्री वर्धमानसूरिजी ने भी अपनी-अपनी प्रतिष्ठा-पद्धतियो मे "तत सूरि॰ कङ्कणमुद्रिकाहस्त सदशवस्त्रपरिधान." इन शब्दो मे प्रतिष्ठाचार्य की वेष-भूषा का सूचन किया है।

जैन साधु के आचार से परिचित कोई भी मनुष्य यहा पूछ सकता है कि जैन आचार्य जो निर्ग्रन्थ साधुओ मे मुख्य माने जाते हैं उनके लिए सुवर्ण-मुद्रिका और सुवर्ण-ककरण का धारण करना कहा तक उचित गिना जा सकता है? स्वच्छ नवीन वस्त्र तो टीक पर सुवर्णमुद्रा, ककरण धारण तो प्रतिष्ठाचार्य के लिए अनुचित ही दीखता है। क्या सुवर्ण-मुद्रा-ककरण पहिने विना अजनशलाका हो ही नही सकती?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है—प्रतिष्ठाचार्य के लिए मुद्रा ककरण धारण करना अनिवार्य नही है। श्री पादलिप्तसूरिजी ने जिन मूल गाथाओ को अपनी प्रतिष्ठा-पद्धति का मूलाधार माना है और अनेक स्थानो मे

यदागम' इत्यादि शब्दप्रयोगों द्वारा जिसका आदर किया है उस मूल प्रतिष्ठा-मन में सुवर्णमुद्रा अथवा सुवर्णकंकण धारण करने का सूचन तक नहीं है। पादलिप्तसूरि ने जिस मुद्रा-कंकण-परिधान का उल्लेख किया है वह तत्कालीन चैत्यवासियों की प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब है। पादलिप्तसूरिजी आप चत्यवासी थे या नहीं इस चर्चा में उतरने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है परन्तु इन्होंने आचार्याभिषेक विधि में तथा प्रतिष्ठा-विधि में जो कतिपय बातें लिखी हैं वे चत्यवासियों की—पौषधशालाओं में रहने वाले शिथिलाचारी साधुओं की हैं इसमें तो कुछ शंका नहीं है। जैन सिद्धान्त के साथ इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है। आचार्याभिषेक के प्रसंग में इन्होंने भावी आचार्य को तैलादि विधि-पूर्वक अविधवा स्त्रियों द्वारा वर्णक (पीठी) करने तक का विधान किया है। यह सब देखते तो यही लगता है कि श्री पादलिप्तसूरि स्वयं चत्यवासी होने चाहिए। कदापि ऐसा मानने में कोई आपत्ति हो तो न मानें फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि पादलिप्तसूरि का समय चैत्यवासियों के प्राबल्य का था। इससे इनकी प्रतिष्ठा-पद्धति आदि कृतियों पर चत्यवासियों की अनेक प्रवृत्तियों की अमिट छाप है। साधु को सचित्त जल पुष्पादि द्रव्यों द्वारा जिन पूजा करने का विधान जैसे चत्यवासियों की आचरणा है उसी प्रकार से सुवर्णमुद्रा कंकण धारणादि विधान ठेठ चैत्यवासियों के घर का है सुविहितों का नहीं।

श्रीचन्द्र जिनप्रभ वर्धमानसूरि स्वयं चैत्यवासी न थे फिर भी वे उनके साम्राज्यकाल में विद्यमान अवश्य थे। इन्होंने प्रतिष्ठाचार्य के लिए मुद्रा कंकण धारण का विधान लिखा इसका कारण श्रीचन्द्रसूरिजी आदि की प्रतिष्ठा-पद्धतियां चैत्यवासियों की प्रतिष्ठा विधियों के आधार से बनी हुई हैं इस कारण से इनमें चत्यवासियों की आचरणाओं का आना स्वाभाविक है। उपयुक्त आचार्यों के समय में चत्यवासियों के किले टूटने लग थे फिर भी वे सुविहितों द्वारा सर नहीं हुए थे। चैत्यवासियों के मुकाबिले में हमारे सुविहित आचार्य बहुत कम थे। उनमें कतिपय अच्छे विद्वान् और ग्रन्थकार भी थे तथापि उनके ग्रन्थों का निर्माण चत्यवासियों के ग्रन्थों के आधार से होता था प्रतिष्ठा विधि जैसे विषयों

मे तो पूर्वग्रन्थो का सहारा लिये विना चलता ही नही था। इस विषय मे आचारदिनकर ग्रन्थ स्वय साक्षी है। इसमे जो कुछ सग्रह किया है वह सब चैत्यवासियो और दिगम्बर भट्टारको का है, वर्धमानसूरि का अपना कुछ भी नही है।

प्रतिष्ठा-विधियों में क्रान्ति का प्रारम्भ : : :

प्रतिष्ठा-विधियो मे लगभग चौदहवी शती से क्रान्ति आरम्भ हो गयी थी। वारहवी शती तक प्रत्येक प्रतिष्ठाचार्य विधि-कार्य मे सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श और सुवर्ण मुद्रादि धारण अनिवार्य गिनते थे, परन्तु तेरहवी शती और उसके बाद के कतिपय सुविहित आचार्यों ने प्रतिष्ठा-विषयक कितनी ही बातो के सम्बन्ध मे ऊहापोह किया और त्यागी गुरु को प्रतिष्ठा मे कौन-कौन से कार्य करने चाहिए इसका निर्णय कर नीचे मुजब घोषणा की—

"थुइदाण १ मतनासो २, आह्वण तह जिणाण ३ दिसिबधो ४।
नित्तुम्मीलण ४ देसण, ६ गुरु अहिगारा इह कप्पे ॥"

अर्थात्—'स्तुतिदान याने देववन्दन करना स्तुतिया बोलना १, मन्त्रन्यास अर्थात् प्रतिष्ठाप्य प्रतिमा पर सौभाग्यादि मन्त्रो का न्यास करना २, जिनका प्रतिमा मे आह्वान करना ३, मन्त्र द्वारा दिग्बध करना ४, नेत्रोन्मीलन याने प्रतिमा के नेत्रो मे सुवर्णशलाका से अजन करना ५, प्रतिष्ठाफल प्रतिपादक देशना (उपदेश) करना। प्रतिष्ठा-कल्प मे उक्त छ कार्य गुरु को करने चाहिए।'

अर्थात्—इनके अतिरिक्त सभी कार्य श्रावक के अधिकार के हैं। यह व्याख्या निश्चित होने के वाद सचित्त पुष्पादि के स्पर्श वाले कार्य त्यागियो ने छोड़ दिये और गृहस्थो के हाथ से होने शुरु हुए। परन्तु पन्द्रहवी शती तक इस विषय मे दो मत तो चलते ही रहे, कोई आचार्य-विधिविहित अनुष्ठान गिन के सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श तथा स्वर्ण मुद्रादि धारण निर्दोष गिनते थे, तव कतिपय सुविहित आचार्य उक्त कार्यो

को सावद्य गिन के निषेध करते थे। इस वस्तुस्थिति का निर्देश आचार दिनकर में नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

ततो गुरुर्नवजिनबिम्बस्याग्रतः मध्यमांगुलीद्वयोर्ध्वीकरणेन रौद्रदृष्ट्या तर्जनीमुद्रां दर्शयति। ततो वामकरेण जलं गृहीत्वा रौद्रदृष्ट्या बिम्बमाच्छोटयति। केषांचिन्मते स्नात्रकारा वामहस्तोदकेन प्रतिमामाच्छोटयन्ति।' (२५२)

अर्थात्—उसके बाद गुरु नवीन जिनप्रतिमा के सामने दो मध्यमांगुलियां खड़ी करके क्रूर दृष्टि से तर्जनी मुद्रा दिखायें और बायें हाथ में जल लेके रौद्र दृष्टि करके प्रतिमा पर छिड़कें। किन्हीं आचार्यों के मत से बिम्ब पर जल छिड़कने का कार्य स्नात्रकार करते हैं। वर्धमानसूरि के 'केषाञ्चिन्मते' इस वचन से ज्ञात होता है कि उनके समय में अधिकांश आचार्यों ने सचित्त जलादि-स्पर्श के कार्य छोड़ दिये थे और सचित्त जल पुष्पादि सम्बन्धी कार्य स्नात्रकार करते थे।

इस क्रान्ति के प्रवर्तक कौन ? : : :

यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि प्रतिष्ठा-विधि में इस क्रान्ति के आद्यस्रष्टा कौन होंगे? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहिले हमको बारहवीं तेरहवीं शती की प्रतिष्ठाविषयक मान्यता पर दृष्टिपात करना पड़ेगा। बारहवीं शती के आचार्य श्री चन्द्रप्रभसूरि ने पौर्णमिक मत प्रवर्तन के साथ ही प्रतिष्ठा द्रव्यस्तव होने से साधु के लिए कर्त्तव्य नहीं ऐसी उद्घोषणा की। उसके बाद तेरहवीं शती में आगमिक आचार्य श्री तिलकसूरि ने नव्य प्रतिष्ठाकल्प की रचना करके प्रतिष्ठा विधि के सभी कर्त्तव्य श्रावक-विशेष ठहरा के चन्द्रप्रभसूरि की मान्यता को व्यवस्थित किया। इस कृति से भी हम चन्द्रप्रभ और श्री तिलक को प्रतिष्ठा-विधि के क्रान्तिकारक नहीं कह सकते किन्तु इन दोनों आचार्यों को हम 'प्रतिष्ठा-विधि के उच्छेदक' कहना ही पसंद करेंगे। क्योंकि आवश्यक सशोधन के बदले इन्होंने प्रतिष्ठा के साथ का साधु का सम्बन्ध ही उच्छिन्न कर डाला है।

क्रान्तिकारक तपागच्छ के आचार्य जगच्चन्द्रसूरि : : :

उपाध्याय श्री सकलचन्द्रजी ने अपने प्रतिष्ठाकल्प मे श्री जगच्चन्द्रसूरि कृत "प्रतिष्ठा-कल्प" का उल्लेख किया है। हमने जगच्चन्द्रसूरि का प्रतिष्ठा-कल्प देखा नही है, फिर भी सकलचन्द्रोपाध्याय के उल्लेख का कुछ अर्थ तो होना ही चाहिए। हमारा अनुमान है कि त्यागी आचार्य श्री जगच्चन्द्र-सूरिजी ने प्रचलित प्रतिष्ठा-विधियो मे से आवश्यक सशोधन करके तैयार किया हुआ सदर्भ अपने शिष्यो के लिए रक्खा होगा। आगे जाकर तपागच्छ के सुविहित श्रमण उसका उपयोग करते होगे और वही जगच्चन्द्र-सूरि के प्रतिष्ठाकल्प के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। उसी सशोधित सदर्भ को विशेष व्यवस्थित करके आचार्य श्री गुणरत्नसूरिजी तथा श्री विशालराजशिष्य ने प्रतिष्ठा-कल्प के नाम से प्रसिद्ध किया ज्ञात होता है। समयोचित परिवर्तन किये और विधान विशेष सम्मिलित किये हुए प्रतिष्ठा-कल्प मे गुरु को क्या-क्या कार्य करने और श्रावक को क्या-क्या, इसका पृथक्करण करके विधान विशेप सुगम बनाये हैं।

गुणरत्नसूरिजी अपने प्रतिष्ठा-कल्प मे लिखते हैं—

"थुइदाण-मतनासो, आह्वण तह जिणाण दिसिबधो।
नेत्तुम्मीलणदेसण, गुरु अहिगारा इह कप्पे ॥१॥"

"एतानि गुरुकृत्यानि, शेषाणि तु श्राद्धकृत्यानि इति तपागच्छ-सामाचारीवचनात् सावद्यानि कृत्यानि गुरो कृत्यतयाऽत्र नोक्तानि"

अर्थात्—'थुइदाण' इत्यादि गुरु कृत्य हैं तब शेष प्रतिष्ठा सम्बन्धी सर्व कार्य श्रावककर्त्तव्य है। इस प्रकार की तपागच्छ की सामाचारी के वचन से इसमे जो जो सावद्य कार्य है वे गुरु-कर्त्तव्यतया नही लिखे, इसी कारण से श्री गुणरत्नसूरिजी ने तथा विशालराज शिष्य ने अपने प्रतिष्ठा-कल्पो मे दी हुई प्रतिष्ठासामग्री की सूचियो मे ककण तथा मुद्रिकाओ की सख्या ४–४ की लिखी है और साथ मे यह भी सूचन किया है कि ये ककण तथा मुद्रिकाएँ ४ स्नात्रकारो ने [illegible]

अपने कल्प में ककरण तथा मुद्राएँ ५–५ लिखी हैं इनमें से १–१ इन्द्र के लिए और ४–४ स्नात्रकारों के लिए समझना चाहिए।

अन्य गच्छीय प्रतिष्ठा-विधियों में आचार्य को द्रव्य पूजाधिकार– विधिप्रपाकार श्री जिनप्रभसूरिजी लिखते हैं—

तदनन्तरमाचार्येण मध्यमांगुलीद्वयोर्ध्वीकरणेन बिम्बस्य तर्जनी मुद्रा रौद्रदृष्ट्या देया। तदनन्तरं वामकरे जलं गृहीत्वा आचार्येण प्रतिमा आच्छोटनीया। ततश्चन्दनतिलक पुष्पपूजनं च प्रतिमायाः।

अर्थात्—उसके बाद आचार्य को दो मध्यमा अंगुलियाँ ऊंची उठाकर प्रतिमा को रौद्र दृष्टि से तर्जनी मुद्रा देनी चाहिये बाद में बायें हाथ में जल लेकर क्रूर दृष्टि से प्रतिमा पर छिड़के और अन्त में चन्दन का तिलक और पुष्प पूजा करे।

इसी विधिप्रपागत प्रतिष्ठा-पद्धति के आधार से लिखी गई अन्य खरतरगच्छीय प्रतिष्ठा-विधि में उपर्युक्त विषय में नीचे लिखा संशोधन हुआ दृष्टिगोचर होता है—

"पछइ श्रावक डावइ हाथिइं प्रतिमा पाणीइ छांटइ।

खरतरगच्छीय प्रतिष्ठाविधिकार का यह संशोधन तपागच्छ के संशोधित प्रतिष्ठा-कल्पों का आभारी है। उत्तरवर्ती तपागच्छीय प्रतिष्ठा कल्पों में जलाच्छोटन तथा चन्दनादि पूजा श्रावक के हाथ से ही करने का विधान हुआ है जिसका अनुसरण उक्त विधिलेखक ने किया है।

आज के कतिपय अनभिज्ञ प्रतिष्ठाचार्य : : :

आज हमारे प्रतिष्ठाकारक गण में कतिपय प्रतिष्ठाचार्य ऐसे भी हैं कि प्रतिष्ठा-विधि क्या चीज होती है इसको भी नहीं जानते। विधिकारक श्रावक जब कहता है कि साहिब वासक्षेप करिये" तब प्रतिष्ठाचार्य साहब वासक्षेप कर देते हैं। प्रतिमाओं पर अपने नाम के लेख खुदवा करके नेत्रों में सुरमे की शलाका से अञ्जन किया कि अंजनशलाका हो गई। मुद्रा

मन्त्रन्यास, होने न होने की भी प्रतिष्ठाचार्य को कुछ चिन्ता नही। उनके पास क्रियाकारक रूप प्रतिनिधि तो होता ही है, जब प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठा-विधि को ही नही जानता तब तद्गत स्वगच्छ की परम्परा के ज्ञान की तो आशा ही कैसी ? हमारे गच्छ के ही एक प्रतिष्ठाचार्य है, उनकी सुविहित साधुओ मे परिगणना है। उनको प्रतिष्ठाचार्य बनकर सोने का कड़ा हाथ मे पहिन कर अजनशलाका करने की बडी उत्कठा रहती है। जहा-तहा बगैर जरूरत अजनशलाकाएँ तैयार करा कर सोने का कडा पहिन के वे अपने आपको धन्य मानते हैं। परन्तु उस भले मनुष्य को इतनी भी जानकारी नही है कि सुविहित तपागच्छ की इस विषय में मर्यादा क्या है और वे स्वय कर क्या रहे है ?

प्रतिमाओं में कला-प्रवेश क्यों नहीं होता ? : : :

लोग पूछा करते हैं कि पूर्वकालीन अधिकाश प्रतिमाएँ सातिशय होती है तब आजकल की प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ प्रभाविक नही होती, इसका कारण क्या होगा ? पहिले से आजकल विधि-विषयक प्रवृत्तिया तो बढ़ी हैं, फिर आधुनिक प्रतिमाओ में कला-प्रवेश नही होता इसका कुछ कारण तो होना ही चाहिए।

प्रश्न का उत्तर यह है कि आजकल की प्रतिमाओ मे सातिशयिता न होने के अनेक कारणो मे से कुछ ये हैं—

(१) प्रतिमाओ मे लाक्षणिकता होनी चाहिए जो आज की अधिकाश प्रतिमाओ मे नही होती। केवल चतुसूत्र वा पचसूत्र मिलाने से ही प्रतिमा अच्छी मान लेना पर्याप्त नही है। प्रतिमाओ की लाक्षणिकता की परीक्षा बडी दुर्बोध है, जो हजार मे से एक दो भी मुश्किल से जानते होगे।

(२) जिन प्रतिष्ठा-विधियो के आधार से आजकल अजनशलाकाएँ कराई जाती हैं, वे विधि-पुस्तक अशुद्धि-बहुल होते हैं। विधिकार अथवा प्रतिष्ठाकार ऐसे होशियार नही होते जो अशुद्धियो का परिमार्जन कर शुद्ध विधान करा सके। जैसा पुस्तक मे देखा वैसा बोल गये और विधि-

विधान हो गया। विधिकार भले ही 'परमेश्वर के स्थान' पर 'परमेश्वरी' की क्षमा मांग कर बच जाय, पर प्रयथार्थ अनुष्ठान कभी सफल नहीं होता।

(३) प्रतिष्ठाचार्य और स्नात्रकार :

विधिकार पूर्ण सदाचारी और धर्मश्रद्धावान् होने चाहिए। आज के प्रतिष्ठाचार्यों और स्नात्रकारों में ऐसे विरले होंगे। इनका अधिकांश तो स्वार्थसाधक और महत्त्वाकांक्षी है कि जिनमें प्रतिष्ठाचार्य होने की योग्यता ही नहीं होती। स्नात्रकारों में पुराने अनुभवी स्नात्रकार अवश्य अच्छे मिल सकते हैं। उनमें धर्म-श्रद्धा सदाचार और अपेक्षाकृत निःस्वार्थता देखने में आती है पर ऐसों की संख्या अधिक नहीं है। मारवाड़ में तो प्रतिष्ठा के स्नात्रकारों का बहुधा अभाव ही है। कहने मात्र के लिए दो चार निकल आयें यह बात जुदी है। हाँ मारवाड़ में कतिपय मतिजी प्रतिष्ठाचार्य का और स्नात्रकारों का काम अवश्य करते हैं। परन्तु इनमें प्रतिष्ठाचार्य की शास्त्रोक्त योग्यता नहीं होती स्नात्रकारों के लक्षण तक नहीं होते। ऐसे प्रतिष्ठाचार्यों और स्नात्रकारों के हाथ से प्रतिष्ठित प्रतिमाओं में कलाप्रवेश की आशा रखना दुराशामात्र है।

(४) स्नात्रकार अच्छे होने पर भी प्रतिष्ठाचार्य की अयोग्यता से प्रतिष्ठा अभ्युदयजननी नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिष्ठा के तमाम कार्यों में प्रतिष्ठाचार्य मुख्य होता है। योग्य प्रतिष्ठाचार्य शिल्पी तथा द्रव्य सम्बन्धी कमजोरियों को सुधार सकता है पर अयोग्य प्रतिष्ठाचार्य की खामियां किसी से सुधर नहीं सकती। इसलिये अयोग्य प्रतिष्ठाचार्य के हाथों से हुई प्रतिमा प्रतिष्ठा अभ्युदयजनिका नहीं होती।

(५) प्रतिष्ठा की सफलता में शुभ समय भी अन्य शुभसाधक है। अच्छे से अच्छे समय में की हुई प्रतिष्ठा उन्नतिजनिका होती है। अनुकूल समय में बोया हुआ बीज उगता है फूलता फलता है और अनेक गुनी समृद्धि करता है। इसके विपरीत अवर्षण काल में धान्य बोने से बीज नष्ट होता है और परिश्रम निष्फल जाता है इसी प्रकार प्रतिष्ठा के

सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। ज्योतिष का रहस्य जानने वाले और अनभिज्ञ प्रतिष्ठाचार्य के हाथ से एक ही मुहूर्त मे होने वाली प्रतिष्ठाओ की सफलता मे अन्तर पड जाता है। जहा शुभ लग्न शुभ षड्वर्ग अथवा शुभ पचवर्ग मे और पृथ्वी अथवा जल तत्त्व मे प्रतिष्ठा होती है वहाँ वह अभ्युदय-जनिका होती है, तब जहा उसी लग्न मे नवमाश, षड्वर्ग, पच-वर्ग तथा तत्त्वशुद्धि न हो ऐसे समय मे प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है तो वह प्रनिष्ठा उतनी सफल नही होती।

(६) प्रतिष्ठा के उपक्रम मे अथवा बाद मे भी प्रतिष्ठा-कार्य के निमित्तक अपशकुन हुआ करते हो तो निर्धारित मुहूर्त मे प्रतिष्ठा जैसे महाकार्य न करने चाहिए, क्योकि दिनशुद्धि और लग्नशुद्धि का सेनापति 'शकुन' माना गया है। सेनापति की इच्छा के विरुद्ध जैसे सेना कुछ भी कर नही सकती, उसी प्रकार शकुन के विरोध मे दिनशुद्धि और लग्न-शुद्धि भी शुभ फल नही देती। इस विषय मे व्यवहार-प्रकाशकार कहते हैं—

"नक्षत्रस्य मुहूर्त्तस्य, तिथेश्च करणस्य च।
चतुर्णामपि चैतेषा शकुनो दण्डनायक. ॥१॥"

अर्थात्—नक्षत्र, मुहूर्त, तिथि और करण इन चार का दण्डनायक अर्थात् सेनापति शकुन है।

आचार्य लल्ल भी कहते हैं—

"अपि सर्वगुणोपेत, न ग्राह्य शकुन विना।
लग्न यस्मान्निमित्तानो, शकुनो दण्डनायक ॥१॥"

अर्थात्—भले ही सर्व-गुण-सम्पन्न लग्न हो पर शुभ शकुन विना उसका स्वीकार न करना। क्योकि नक्षत्र, तिथ्यादि निमित्तो का सेना-नायक शकुन है। यही कारण है कि वर्जित शकुन मे किये हुए प्रतिष्ठादि शुभ कार्य भी परिणाम मे निराशाजनक होते हैं।

(७) प्रतिष्ठाचार्य, स्मात्रकार और प्रतिमागत गुण दोष

उक्त त्रिकगत गुण-दोष भी प्रतिष्ठा की सफलता और निष्फलता में अपना असर दिखाते हैं यह बात पहिले ही कही जा चुकी है और शिल्पी की सावधानी या बेदरकारी भी प्रतिष्ठा में कम असरकारक नहीं होती। शिल्पी की अज्ञता तथा असावधानी के कारण से आसन दृष्टि आदि यथा-स्थान नियोजित न होने के कारण से भी प्रतिष्ठा की सफलता में अन्तर पड़ जाता है।

(८) अविधि से प्रतिष्ठा करना यह भी प्रतिष्ठा की असफलता में एक कारण है। आज का गृहस्थवर्ग यथाशक्ति द्रव्य खर्च करके ही अपना कर्तव्य पूरा हुआ मान लेता है। प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधिकार्यों के साथ मानों इसका सम्बन्ध ही न हो ऐसा समझ लेता है। मारवाड़ जैसे प्रदेशों में तो प्रतिष्ठा में होने वाली द्रव्योत्पत्ति पर से ही आज प्रतिष्ठा की श्रेष्ठता और हीनता मानी जाती है। प्रतिष्ठाचार्य और विधिकार कैसे हैं विधि-विधान कैसा होता है इत्यादि बातों को देखने की किसी को फुरसत ही नहीं होती। आगन्तुक सधर्मी की व्यवस्था करने के अतिरिक्त मानो स्थानिक जैनों के लिए कोई काम ही नहीं होता। प्रतिष्ठाचार्य और विधिकारों के हाथ में उस समय स्थानिक प्रतिष्ठा कराने वाले गृहस्थों की चुटिया होती है इसलिये वे जिस प्रकार नचाये स्थानिक गृहस्थों को नाचना पड़ता है। इस प्रकार दस पन्द्रह दिन के साम्राज्य में स्वार्थी प्रतिष्ठाचार्य अपना स्वार्थ साधकर चलते बनते हैं। पीछे क्या करना है इसको देखने की उन्हें फुरसत ही नहीं होती पीछे की चिन्ता गाम को है। अच्छा हुआ तब तो ठीक ही है पर कुछ ऊंचा-नीचा होगा तो प्रत्येक नमे सिर वाले को पूछेंगे—मन्दिर और प्रतिमाओं के दोष ? परन्तु यह तो 'गते जले क: खलु पालिबन्ध' इस वाली बात होती है।

स्वार्थसाधक प्रतिष्ठाचार्यों के सम्बन्ध में आचार्य श्री पादलिप्तसूरि की फिट्कार देखिये—

अविधाणेण्णए य बिंबं जिणबिंबं जो ठवेति मूढमणो।
अहिमाणलोहजुत्तो निवडइ संसार गर्त्तम्मि ॥७७॥

अर्थात्—"प्रतिष्ठा-विधि को यथार्थ रूप मे जाने विना अभिमान और लोभ के वश होकर जो "जिनप्रतिमा को स्थापित करता है, वह ससार-समुद्र मे गिरता है।"

उपसंहार : : :

प्रतिष्ठाचार्य और प्रतिष्ठा के सम्बन्ध मे कतिपय ज्ञातव्य बातो का ऊपर सार मात्र दिया है। आशा है कि प्रतिष्ठा करने और कराने वाले इस लेख पर से कुछ बोध लेंगे।

जैन विद्याशाला,
अहमदाबाद
ता० १६–८–५५

कल्याणविजय गणी

: २३ :

क्या क्रियोद्धारकों से शासन की हानि होती है?

पं० कल्याणविजय गणि

ता० १ तथा ८ वीं जून सन् १९४१ के 'जैन' पत्र में मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी का एक लेख छपा है जिसका शीर्षक 'क्या उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराज ने क्रिया उद्धार किया था' यह है। इस लेख में मुनिजी ने अपनी समझ का जो परिचय दिया है वह अति खेदजनक है।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने क्रियोद्धार किया था या नहीं इस प्रश्न को एक तरफ छोड़कर पहले हम मुनिजी की उन दलीलों की जाँच करेंगे जो उन्होंने उपाध्यायजी के क्रियोद्धारक न होने के समर्थन में दी हैं।

आप कहते हैं— 'क्रिया उद्धारकों से होने वाली शासन की हानि से भी आप अपरिचित नहीं थे। क्रिया उद्धारक समाज की संगठित शक्ति को अनेक भागों में विभक्त कर शासन को क्षति पहुचाते हैं यह भी आप से प्रच्छन्न नहीं था।

क्या ही अच्छा होता अगर मुनिजी पहले क्रिया उद्धार का अर्थ समझ लेते और फिर इस विषय पर लिखने को कलम उठाते। मुनिजी की उक्त पंक्तियों को पढ़ने से तो यही ज्ञात होता है कि क्रियोद्धारकों को आप मत-पन्थवादी समझ बैठे हैं जो निराधार ही नहीं शास्त्रविरुद्ध भी है। क्रिया उद्धार का अर्थ मतवाद नहीं शिथिलाचार के नीचे दबी हुई *शास्त्राचार की क्रियाओं को ऊपर उठाना है।*

शास्त्र में क्रियोद्धारक दो प्रकार के बताये हैं—

(१) उपसम्पसक और (२) शिथिलाचारवर्जक।

(१) जिसकी गुरुपरम्परा सात-आठ पीढी से शिथिलाचार मे फंसी हुई है, ऐसा कोई शिथिलाचारी आचार्य अथवा साधु यदि उग्रविहारी बनना चाहे तो उसे अपने पूर्व गच्छ और पूर्व गुरु का त्याग कर दूसरे सुविहित गच्छ और गुरु को स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार का क्रियोद्धार करने वाले का नाम शास्त्र मे "उपसम्पन्नक" लिखा है।

(२) जिसकी गुरुपरम्परा मे दो तीन पीढ़ी से ही शिथिलाचार प्रविष्ट हुआ हो ऐसा आचार्य अथवा साधु क्रियोद्धार करना चाहे तो अपनी गुरुपरम्परा मे जो जो असुविहित प्रवृत्तियाँ प्रचलित हो उनका त्याग कर सुविहित मार्ग पर चलें। उसे अपने गच्छ और गुरु को त्याग कर नया गुरु धारण करने की आवश्यकता नही रहती।

विक्रम की १३वी शती मे चैत्रगच्छीय श्रीदेवभद्र गणि और बृहद्-गच्छीय श्री जगच्चन्द्र सूरिजी ने जो क्रियोद्धार किया था वह इसी प्रकार का था। देवभद्र गणि और जगच्चन्द्रसूरि की गुरु-परम्पराओ का शिथिलाचार नया ही था इस कारण से उन्होने एक दूसरे की सहायता से क्रियोद्धार किया था। जगच्चन्द्रसूरि और देवभद्र गणि इन दोनो महापुरुषो ने शिथिलाचार को छोडकर जो उग्रविहार और सुविहिताचार का पालन किया था उसके प्रभाव से निर्ग्रन्थ श्रमण मार्ग फिर एक बार अपने खरे रूप मे चमक उठा और लगभग दश पीढी तक ठीक ढग पर चलता रहा।

दुष्पमकाल के प्रभाव और जनप्रकृति के निम्नगामी स्वभाव के कारण फिर धीरे-धीरे गच्छ मे शिथिलता का प्रवेश होने लगा। श्री-आनन्दविमल सूरिजी के समय तक यतियो मे चोरी छिपी से द्रव्य सग्रह तक की खराबियाँ उत्पन्न हो गयी थी। श्री आनन्दविमल सूरिजी ने अपने गच्छ मे से इन बदियो को दूर करने का निश्चय किया। उन्होंने सं० १५८२ मे क्रियोद्धार कर गच्छ मे जो जो शिथिलताएँ घुसी थी उनको दूर करने का प्रयत्न किया। परन्तु आपका यह क्रियोद्धार गच्छ की पूर्ण शुद्धि नही कर सका। गच्छ का एक बडा भाग आपके उग्रविहार और

त्याग मार्ग का स्वीकार करने में असमर्थ रहा, परिणामस्वरूप श्री विजय देवसूरि तथा श्री विजयसिंहसूरि के समय तक शिथिलाचार बहुत फल गया। यति लोग खुल्लंखुल्ला द्रव्यसग्रह करके ब्याज बट्टा खाने और वोहरगत करने लग गये थे। उत्तर गुणों की तो बात ही क्या, मूल गुणों का भी ठिकाना नहीं रहा था। साधुमार्ग का यह पतन पं० श्री सत्य-विजयजी आदि आत्मार्थी श्रमणगण को बहुत अखरा। उन्होंने अपने गच्छपति आचार्य की आज्ञा लेकर क्रियोद्धार किया और त्यागी जीवन गुजारने लगे।

पं० पद्मविजयजी महाराज के लेखानुसार पन्यासजी के इस क्रियोद्धार में उनके समकालीन विद्वान् उपाध्याय श्री विनयविजयजी न्यायाचार्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि बहुतेरे आत्मार्थी साधुजन शामिल हुए थे। क्या मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी बतायेंगे कि उक्त क्रियोद्धारक महानुभाव विद्वान् साधुओं से शासन की क्या हानि हुई, अथवा इन्होंने समाज की संगठित शक्ति को किस प्रकार विभक्त किया? वास्तविकता तो यह कहती है कि यदि अमरचन्द्रसूरि श्री आनन्दविमलसूरि और श्री सत्यविजयजी पंन्यास जैसे महापुरुषों ने अपने-अपने समय में क्रियोद्धार द्वारा श्रमणमार्ग की शुद्धि न की होती तो तपागच्छीय संविग्न श्रमणों की भी आज वही दशा हुई होती जो 'मथेण' तथा पौषालवासी भट्टारकों' की हुई है।

खरतर आंचलिक आदि गच्छों में जो थोड़ा बहुत साधु-साध्वियों का समुदाय दृष्टिगोचर होता है वह भी इनके पुरोगामी नायकों के क्रियोद्धार का ही फल है।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी जिसका उद्धार करने की चेष्टा कर रहे हैं उस 'ऊकेश गच्छ" के एक आचार्य श्री यक्षदेवसूरि ने भी चन्द्रकुल प्रवर्तक श्री चन्द्रसूरिजी के पास उपसम्पदा लेकर क्रियोद्धार किया था और वे पार्श्वस्थावस्था छोड़कर महावीर की सुविहित श्रमण परम्परा में शामिल हुए थे। अगर मुनिजी इस प्रसंग को भूल गये हों तो 'ऊकेश गच्छ चरित्र' की वही प्राचीन प्रति मंगाकर किसी विद्वान् के पास समझ लें।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी का कथन है कि—"उपाध्यायजी महाराज ने क्रिया उद्धार नही किया था, पर यतिसमुदाय मे रहकर ही उभयपक्ष को (क्रिया उद्धारक श्रमणो को एव शिथिलाचारी यतियो को) हित शिक्षा दी थी ।

क्या मुनिजी बतायेंगे कि उभय को शिक्षा देने वाले उपाध्याय श्री यशोविजयजी खुद किस वर्ग मे थे ? शिथिलाचारियो मे अथवा उग्रविहारियो मे ? यदि वे स्वय शिथिलाचारी थे तब तो शिथिलाचारियो को उपदेश देने का उन्हे कोई अधिकार ही नही था । वैसा उपदेश करने को उनकी जबान ही न चलती पर आपने शिथिलाचारियो को उपदेश दिया है और खूब दिया है । "उन्हे परमपद के चौर और उन्मत्त तक कह कर फटकारा है", इससे प्रकट है कि उपाध्यायजी आप शिथिलाचारी नही थे । आप भी अन्त मे यह तो कबूल करते हैं कि उपाध्यायजी महाराज शिथिलाचारियो मे नही थे । जब वे शिथिलाचारी नही थे तो अर्थत वे 'उग्रविहारी थे' यही कहना होगा । आप सुविहिताचारी श्रमण कहते है इसका अर्थ भी उग्रविहारी ही होता है और उग्रविहारी मान लेने के बाद उन्हे क्रियोद्धारक मानना ही तर्कसगत हो सकता है ।

उपाध्यायजी कृत–विज्ञप्ति स्तवन की—

"विषम काल ने जोरे, केई उठ्या जडमलधारी रे ।
गुरु गच्छ छडी मारग लोपी, कहे अमे उग्रविहारी रे ।।१।।'

× × × × ×

"गीतारथ विण भूला भमता, कष्ट करे अभिमाने रे ।
प्राये गठी लगे नवि आव्या, ते खूंता अज्ञाने रे ।।श्री।।३।।
तेह कहे गुरु गच्छ गीतारथ, प्रतिबधे शु कीजे रे ।
दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदरिये, आपे आप तरीजे रे ।।श्री।।४।।"

इत्यादि गाथाएँ उद्धृत करके मुनिजी कहते हैं—इसमे उपाध्यायजी ने क्रियोद्धारको को हित शिक्षा दी है । इस पर हमे दु:ख के साथ लिखना

पड़ता है कि मुनिजी श्री उपाध्यायजी के उक्त वचनों का मम ठीक नहीं समझे। उ० महाराज का उक्त उपदेश क्रियोद्धारकों के लिए नहीं पर ढूढक वीजामती आदि गुरुगच्छ-वर्जित स्वयम्भू साधुओं के लिए है। वड़मलधारी गुरुगच्छ छंडी, मारग लोपी आदि विशेषण ही कह रहे हैं कि यह शिक्षा ढूढक और वीजामतियों के लिए है। क्रियोद्धारक जड़ नहीं पर सभी विद्वान् थे, वे मलधारी नहीं पर शास्त्रानुसारी साधु-वेषधारी थे। उन्होंने न गुरु को छोड़ा था न गच्छ को। वे अपने गुरु और गच्छ की आज्ञा में रहकर क्रियोद्धारक बने थे और चारित्र पालते थे। उनके ही क्यों उनके शिष्यों तक के ग्रन्थों की प्रशस्तियां देखिये वे उनमें अपने गच्छ और गच्छपति गुरु का आदरपूर्वक उल्लेख करते हैं।

क्रियोद्धारकों को मार्ग का लोपक समझना बुद्धि का विपर्यास है। क्योंकि उन्होंने मार्ग लोपा नहीं बल्कि मार्ग की रक्षा की थी यह जग जाहिर है। गीतार्थ बिना उस समय कौन भूले भटके थे इसका भी मुनिजी ने कोई विचार नहीं किया। पंन्यास सत्यविजयजी और उनके सहकारी क्रियोद्धारक सभी विद्वान् थे। उनको उपाध्यायजी का उक्त वर्णन कभी लागू नहीं हो सकता।

वास्तविकता तो यह है कि सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लोंकामत में से विजयऋषि ने अपना एक स्वतन्त्र मत निकाला था। वे मूर्ति-पूजा को मानते थे। श्वेताम्बर साधुओं की तरह दंड कंबल वगैरह भी रखते थे। फिर भी उनके वेष में कुछ लोंकापन्थ की झलक रह गई थी।

वीजा ऋषि बड़े ही तपस्वी थे। आपने इस तपोबल से लोगों का काफी आकर्षण किया था। लोंकापन्थ से निकलकर के भी उन्होंने कोई नया गुरु धारण नहीं किया और न किसी सुविहित गच्छ में ही प्रवेश किया था। फलत: उनकी परम्परा का उन्हीं के नाम से 'विजयगच्छ' यह नाम प्रसिद्ध हुआ। मेवाड़ मेवात प्रदेश आदि देशों में इसका विशेष प्रसार हुआ। उपाध्यायजी के समय तक इस मत ने अपना निश्चित रूप धारण कर लिया था।

इधर सत्रहवी शताब्दी के अन्त मे ऋषि लवजी, ऋषि अमीपालजी, धर्मसी आदि कतिपय व्यक्तियो ने लोकापन्थ मे से निकलकर उग्रविहार शुरु किया। बाह्य कष्ट-क्रियाओ के प्रदर्शन से इनकी तरफ भी लोक-प्रवाह पर्याप्त रूप से बहने लगा, आगे जाकर यही परम्परा "ढुढक" इस नाम से प्रसिद्ध हुई।

उक्त दोनो मत (बीजा मत और ढुढक मत) के साधु प्रायः निरक्षर होते थे, फिर भी मलिन वस्त्र, उग्रविहार, कठोर तप आदि गुणों से वे जन-समूह को अपनी तरफ खीच रहे थे और प्रतिदिन उनका पथ वृद्धिगत हो रहा था।

उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी ने अपनी कृतियो मे इन्ही दो मत के उग्रविहारी जड एव गुरुगच्छ विहीन साधुओ को लक्ष्य करके हित शिक्षा दी है, जिसे मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी मार्गगामी और गच्छप्रतिबद्ध विद्वान् क्रियोद्धारको के साथ जोडने की भूल कर बैठे हैं।

उपाध्यायजी की भाषा-कृतियो के कुछ पद्य उद्धृत करके ज्ञानसुन्दर-जी कहते हैं—"उपरोक्त प्रमाणो से स्पष्ट पाया जाता है कि श्रीमान् उपाध्यायजी महाराज ने न तो क्रिया उद्धार ही किया था और न शासन मे छेद-भेद डालकर आप क्रिया करना ठीक ही समझते थे। इस समय कतिपय यति शिथिलाचारी हो गये थे, पर उनके ऊपर एक विशेष नायक तो अवश्य ही था, पर क्रियोद्धारको पर तो कोई नायक ही नही रहा। परिणाम यह निकला कि आज इस निर्नायकता के साम्राज्य मे एक ही गच्छ मे अनेक आचार्य और अनेक प्रकार के बाह्य मतभेद दृष्टिगोचर होने लगे।"

उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी ने उग्रविहारियो को लक्ष्य कर जो भी कथन किया है वह गच्छानुयायी क्रियोद्धारको को लागू नही हो सकता।

उपाध्यायजी क्रियोद्धारको के विरोधी नही पर उनके परम सहायक थे। इसके बदले मे वे यतियो द्वारा कई बार सताये भी गये थे, पर आपने

उग्रविहारियों का साथ नहीं छोड़ा और कई शिथिलाचारियों को प्रेरणा करके क्रियोद्धारक बनाया पर उनकी उपेक्षा नहीं की। इस स्थिति में उपाध्यायजी क्रियोद्धारक हो सकते हैं या नहीं इसका मुनिजी स्वयं विचार करें।

श्रीमान् मुनि श्यामसुन्दरजी ने क्रियोद्धार का जो निष्कर्ष निकाला वह इस विषय के आपके कच्चे ज्ञान का परिचायक है और क्रियोद्धारकों पर शासनभेद का बार-बार इल्जाम लगाते हैं यह क्रियाविषयक कुरुचि का द्योतक है।

वास्तव में जिन्होंने क्रियोद्धार किया था उन्होंने शासन का उत्कर्ष किया था। शिथिलाचार के निरंकुश वेग को रोक कर जैन श्रमण-संस्कृति की रक्षा करने के साथ ही शिथिलाचारियों को सुधारने की चुनौती दी थी।

उस समय कतिपय यति ही शिथिलाचारी नहीं हुए थे अपितु सारा समुदाय ही बिगड़ चुका था। गच्छपति और उनके निकटवर्ती कतिपय गीतार्थ अवश्य ही मूल गुणों को बचाये हुए थे परन्तु अधिकांश यतियों की स्थिति यहां तक बिगड़ चुकी थी कि क्रियोद्धार के बिना विशुद्ध जैन श्रमण-मार्ग का अस्तित्व रहना मुश्किल था। यही कारण है कि आत्मार्थी विद्वानों ने क्रियोद्धार करने का निश्चय किया और तत्कालीन गच्छनायक ने उनके शुभ विचार का अनुमोदन किया था।

मुनिजी क्रियोद्धारकों को निर्नायक कहकर अपने इतिहास विषयक अज्ञान का परिचय मात्र दे रहे हैं। वास्तव में जो यतियों के ऊपर जो नायक थे वे ही क्रियोद्धारकों के भी नायक थे। क्रियोद्धारक भी उन्हीं की आज्ञा से विचरते चातुर्मास्य करते और संयम पालते थे। मुनिजी ने क्रियोद्धारक-संविग्न श्रमणों के और उनकी शिष्यपरम्परा के ग्रन्थ पढ़े होते तो संभव है कि आप यह कहने का कभी दुस्साहस नहीं करते कि क्रियोद्धारक निर्नायक थे। क्रियोद्धारक श्रमण ही नहीं किन्तु उनकी शिष्य परम्परा उन्नीसवीं सदी तक गच्छपति श्रीपूज्यों को किसी अंश में मानती थी। हाँ जब से श्री पूज्यों ने रुपया लेकर यतियों को क्षेत्रादेश पट्टक देना

शुरु किया तब से सविग्न शाखा ने उनसे क्षेत्रादेश पट्टक लेना बद कर दिया था और इसका अनुकरण कतिपय यतियो ने भी किया था, जिससे मजबूर होकर क्षेत्रादेश पट्टक के बदले मे रुपया लेना श्रीपूज्यो को बन्द करना पडा था। फिर भी गच्छपतियो के पतन की कोई हद नही रही थी। प्रतिदिन मूल उत्तर गुणो से वञ्चित होते जाते थे और समाज की श्रद्धा उन पर से हटती जाती थी। समय रहते यदि गच्छपतियो ने भी क्रियोद्धार कर लिया होता तो न सविग्न साधुपरम्परा उनके अकुश से बाहर निकलती और न जैन सघ ही उनसे मुह मरोडता। पर यति नही चेते और गच्छ-पति के स्थान के वारिशदार श्रीपूज्य भी नही चेते, जिसका परिणाम प्रत्यक्ष है। जैन ससार से ही नही आज जगत् भर से उनका नामोनिशान मिटने की तैयारी मे है। कोई अज्ञानी इस दशा का कारण भले ही सविग्न साधुओ का प्राबल्य मानने की भूल करे, पर जो धर्म-सिद्धान्त के जानकार हैं वे तो यही कहेगे कि इस दशा के जवाबदार श्रीपूज्य और यति स्वय हैं। क्योकि खासकर के जनसमाज हमेशा से धर्मगुरुओ को पूजता आया है, पर धर्मगुरुओ के निर्गुण खण्डहरो को नही, इस सत्य को वे नही समझ सके।

मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी आधुनिक श्रमणसघ की अव्यवस्था और पारस्परिक अनमेल की जिम्मेदारी क्रियोद्धारको के ऊपर किस अभिप्राय से मढते हैं यह समझ मे नही आता। कोई दस पीढी पहले के क्रियोद्धारको की सनति मे आज कुछ दोष दीखे तो वह क्रियोद्धार का परिणाम नही किन्तु क्रियोद्धार की जीर्णता का परिणाम है और इससे तो उल्टा यो कहना चाहिए कि क्रियोद्धार हुए बहुत समय हो गया है। उसका असर किसी अश मे मिट गया है अत. नये क्रियोद्धार की आवश्यकता निकट आ रही है। अन्त मे मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी लिखते हैं—

"उपाध्याय महाराज ने न क्रियोद्धार किया और न यतियो की स्वाभाविक शिथिलता को ही सेवन किया। वे तो थे "तटस्थ-सुविहिता-चारी श्रमण" जिन्होने समयानुकूल सभी को सदुपदेश दिया।"

उपाध्यायजी को सुविहिताचारी श्रमण मानते हुए भी मुनिजी उन्हे क्रियोद्धारक नही मानते। यह बात तो "माता मे वन्ध्या" जैसी हुई।

सुष्ठु विहितं विधानं येषां ते सुविहिताः उग्रविहारिणः, सुविहितानां माचारः सुविहिताचारः सो यस्यास्तीति 'सुविहिताचारी' इस प्रकार सुविहित शब्द मात्र का अर्थ भी आप समझ लेते तो उपाध्यायजी के क्रियोद्धार का विरोध करने की कदापि भूल नहीं करते ।

अब भी मुनिजी समझ लें कि सुविहिताचारी मुनि वही कहलाते हैं जो मूल और उत्तर गुणों को समयानुसार शुद्ध पालते हुए अप्रतिबद्ध विहार करते हैं ।

यदि उपाध्यायजी ऐसे थे तो आप मानें चाहे न मानें वे क्रियोद्धारक थे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है ।

अन्त में मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी से सानुरोध प्रार्थना करूंगा कि क्रियोद्धारकों के सम्बन्ध में आपने जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह एकदम गलत है । क्रियोद्धारकों से शासन की हानि नहीं पर हित हुआ है और होगा । भूतकाल में समय-समय पर क्रियोद्धार होते रहे हैं, तभी आज तक निर्ग्रन्थ श्रमणों का आचार-मार्ग अपना अस्तित्व टिका सका है और भविष्य में भी क्रियोद्धारकों द्वारा ही श्रमणों का क्रियामार्ग अक्षुण्ण रहेगा यह निश्चित समझियेगा ।

आशा है मुनिजी क्रियोद्धार विषयक अपने अभिप्राय की अयथार्थता महसूस करेंगे और शासन के हित के खातिर उसे बदलने की सरलता दिखायेंगे ।

हमें आशा ही नहीं बल्कि विश्वास है कि इस थोड़े से विवेचन से ही मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी क्रियोद्धार विषयक अपनी भूल को समझ सकेंगे और समाज के हितार्थ उसका परिमार्जन करने की सरलता दिखायेंगे ।

हरजी (राजस्थान) ता० २८-६-१९४१

मु० हरजी, पो० गुड़ा बालोतरा (मारवाड) ता० ६-७-४१;

विनयादि गुणविभूषित मुनिराज श्री मुनि ज्ञानसुन्दरजी आदि
फलोदी-मारवाड

अनुवन्दना सुख शाता के बाद निवेदन कि पत्र मिला, समाचार विदित हुए।

उ० श्री यशोविजयजी ने क्रियोद्धार किया था ऐसा उल्लेख उनके किसी बडे स्तवन के टिबे मे प० श्री पद्मविजयजी ने किया है, ऐसा मुझे स्मरण है। पर यहा पुस्तक न होने से निश्चित नही बता सकता।

प० पद्मविजयजी, रूपविजयजी, वीरविजयजी आदि सविग्न शाखा के पिछले विद्वानो ने पूजा आदि ग्रन्थो में अपने समय के श्री पूज्यो को गच्छपति के तौर पर स्वीकार करके उनके धर्म-राज्य मे कृति निर्माण होने के निर्देश किये हैं, इसी तरह इनके गुरु, प्रगुरु आदि ने भी गच्छपतियो को अपना गच्छपति गुरु माना है। यदि वे उनको छोडकर स्वतन्त्र हुए होते तो अपनी कृतियो मे तत्कालीन गच्छपतियो के धर्म-राज्य का उल्लेख करना असगत होता।

उपाध्यायजी क्रियोद्धार मे शामिल हुए थे इस वात के समर्थन मे उपाध्यायजी के—

"परिग्रह ग्रहवशे लिंगीया, लेई कुमति रज सीस,
सलूणे जिम तिम जग लवता फिरे, उन्मत्त हुइ निस दीस सलूणे ॥५॥"

इत्यादि वचन ही प्रमाण है।

प० पद्मविजयजी कृत उपाध्यायजी के स्तवन के टवे के उपरान्त आज कोई पूरावा नही है। पर श्री उपाध्यायजी ने यति समाज की जो लीलाएँ प्रकाशित की हैं इससे ही स्पष्ट होता है कि वे यतियो के कट्टर विरोधी थे। दन्तकथा नो यहां तक प्रचलित है कि यतियो का विरोध

और संविग्नों की तरफदारी करने के कारण यति लोगों ने श्री पूज्य की सलाह से उपाध्यायजी को तीन दिन तक एक कमरे में कैद कर रक्खा था। जिसका गर्भित सूचन आपने "शंखेश्वर पार्श्वनाथ के स्तवन" में किया है फिर भी आपने यतियों के पक्ष में रहना मंजूर नहीं किया था।

उपाध्यायजी ने स्वच्छन्द विहारियों के लिए कुछ भी लिखा हो पर वह क्रियोद्धारकों के लिए नहीं हो सकता। चाहे उन्होंने संवेगी या संविग्न शब्दों का भी प्रयोग किया हो पर वर्तमान संवेगी परम्परा को लक्ष्य करके नहीं हो सकता। कई जगह आपने प्राचीन ग्रन्थों का अर्थ ही नहीं लिया बल्कि उनके शब्द तक अपनी कृतियों में उतारे हैं। ऐसे प्रसगों में प्रयुक्त संवेगी संविग्न आदि शब्द जो वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थों से इनकी कृतियों में आए हुए हैं उनको वर्तमान व्यक्तियों को लागू करना अनुचित है। उपदेशपद उपदेशमाला षोडशक पंचाशक अष्टक आदि प्राचीन ग्रन्थों को पढ़कर आप उपाध्यायजी के स्तवन द्वात्रिंशिकायें अष्टकादि प्रकरण पढ़िये आपको यही ज्ञात होगा कि उपाध्यायजी के ग्रन्थ वास्तव में प्राचीन ग्रन्थों का रूपान्तर मात्र हैं।

पं० सत्यविजयजी आदि विद्वानों ने आचार्य श्री विजयप्रभसूरिजी की आज्ञा से उनके गच्छपतित्व के समय में क्रियोद्धार किया था तब उ० श्री यशोविजयजी ने जिन कृतियों में स्वेच्छा विहारियों की टीका की है वे बहुधा विजयदेवसूरिजी के समय में बन चुकी थीं जब कि क्रियोद्धार अभी भविष्य के गर्भ में था। इससे भी सिद्ध है कि उपाध्यायजी के टीका पात्र क्रियोद्धारक संवेगी नहीं पर गच्छविहीन 'विजयमती' और 'ढूंढक' आदि थे। संवेगी शब्द को किसी भी क्रियोद्धारक ने अपने लिये रजिस्टर्ड नहीं करवाया था। कोई भी त्यागी और तपस्वी उस समय 'संवेगी' कहलाता था।

आपका जिन की तरफ संकेत है वे चन्द्रप्रभ आर्य रक्षित जिनवल्लभ आदि आचार्य क्रियोद्धारक नहीं पर मतप्रवर्तक थे। इन्होंने क्रियोद्धार नहीं पर क्रियाभेद और मार्गभेद किया था। इनको क्रियोद्धारक कहना

सरासर भूल होगी। इन्होने संघभेद करके शासन की हानि की है यह बात मैं मानता हूँ, मतप्रवर्तक अथवा नूतन गच्छ प्रवर्तकों के नाते आप इनके लिये कुछ भी लिखें हमारा विरोध नहीं, बाकी इनको "क्रियोद्धारक" मानकर कुछ भी लिखना वास्तविकता से दूर होगा। "ऊकेश गच्छ चरित्र" का वह प्रसग याद होगा जहा कि ऊकेश गच्छ के एक प्रसिद्ध आचार्य के– "चन्द्रकुल प्रवर्तक श्री चन्द्रसूरिजी" के निकट क्रियोद्धार करके उपसपदा ग्रहण करने का उल्लेख किया गया है। तेरहवी शती में "श्री देवभद्र गणि" तथा "श्री जगच्चन्द्रसूरि" और उन्ही की परम्परा मे "श्री आनन्द-विमलसूरिजी" आदि प्रसिद्ध क्रियोद्धारक हो गये हैं, पर आप यह नही बता सकेंगे कि इन्होने कोई मत पथ खडा किया था, अथवा संघभेद किया था।

यदि उपर्युक्त क्रियोद्धारको पर आपका कटाक्ष नही है तो आप जो कुछ लिखें (मत प्रवर्तक) अथवा (नूतन गच्छ सर्जक) इस हेडिंग के नीचे लिखें और उसमे "क्रियोद्धारक शब्द" का प्रयोग करने की गल्ती न करें।

भवदीय

कल्याणविजय

मु० हरजी, पो० गुढा बालोतरा
(मारवाड़) ता० २७–७–४१

विनयादि गुणविभूषित मुनिराज श्री ज्ञानसुन्दरजी गुणसुन्दरजी,
फलोदी–मारवाड

अनुवन्दना सुख शाता के साथ निवेदन कि पत्र आपका मिला समाचार जाने।

आप उपाध्यायजी के जिन उल्लेखो के आधार पर क्रियोद्धारको का खण्डन करना चाहते हैं, वास्तव मे वे उल्लेख क्रियोद्धारको के लिए नही पर तत्काल निकले हुए स्थानकवासी वेषधारियो, ढुंढकों तथा पासत्यो के लिये है।

"विषम काल मे छोरे केई" इत्यादि पांचों ही गाथाएँ नवीन वेष धारियों के लिये हैं। मैं ही नहीं इस स्तवन के टबार्थ लेखक भी जो उपाध्यायजी के अधिक पश्चाद्वर्ती नहीं थे यही कहते हैं कि उपाध्यायजी का यह उपदेश ढूंढकों के लिए है। देखिये नीचे का उल्लेख—

'प्राइ ए वास ढुंढीया नूंका मार्थिने छे, पर्छे मौजीई जीव मे सीयामण छे हवे ते ढुढिया ने मार्वे गुरु नथी ते माटे इम कह्यु जे उठ्या वड मलधारी' इत्यादि शब्दों में ग्रन्थकार ने उपाध्यायजी का उक्त कथन ढूंढकों में घटाया है और "मत हीलनोत्पत्ति" कारकों के विषय में लिखे गये 'बंग चूलिया' प्रकरण का पाठ उद्धृत किया है।

"गुरु गच्छ छोडी" इन शब्दों ने आपके दिमाग को भ्रमित कर दिया है इसलिये आप कहते हैं कि इनके गुरु गच्छ नहीं थे तो छोडना कैसा? परन्तु स्वस्थ चित्त से सोचेंगे तो इसमें असुपपत्ति कुछ भी नहीं है। गुरु गच्छ छोडने का अर्थ 'गुरु गच्छ में से निकल कर' यह नहीं है किन्तु इसका अर्थ 'गुरु गच्छ की निरपेक्षतावाले' ऐसा होता है जैसे "कौआ सरोवर को छोड़कर छीलर जल पीता है" यहां सरोवर छोड़ने का अर्थ उसमें से निकलना नहीं होता किन्तु उसकी उपेक्षा करना होता है। इसी तरह प्रकृत में भी गुरु गच्छ छोड़ने का अर्थ गुरु गच्छ की उपेक्षा मात्र होता है। उपेक्षक गच्छ में से निकला हो या स्वयंभू हो जब तक वे गुरु गच्छ की दरकार न करेंगे दोनों गुरु गच्छ छोड़ने वाले ही कहलायेंगे।

'नाणतणों समागी होवे इत्यादि गाथायें भी गुरु की जरूरत न समझने वाले ढूंढकों के लिये हैं। देखिये उनमें के नीचे के शब्द—

'गुरु पाम्या विण गच्छ तजी ने आपमती मुनि थाता रे"

क्या गुरु के पास दीक्षा लेकर क्रियोद्धार करने वालों के लिए 'आपमती मुनि थाता' ये शब्द संगत हो सकते हैं? कभी नहीं गुरु के पास पंच समक्ष पंच महाव्रत उच्चरने के उपरान्त अधिक समय तक गुरु के पास रहकर सिद्धान्त पढ़ने के बाद उग्रविहार करने वाले क्रियोद्धारकों के

लिये "पच महाव्रत किहाँ उच्चरियाँ सेव्यु केहनु पासु रे" इत्यादि कथन किया जा सकता है ? ये शब्द उन्ही के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं जो गुरु निरपेक्ष होकर स्वय साधु बने हो । सचमुच ही ढुढकादि ऐसे थे और उन्ही को लक्ष्य करके उपाध्यायजी ने उक्त शब्द लिखे हैं ।

"चळ्या पळ्यानो अन्तर समझी" इत्यादि दो गाथाएँ भी ऐसे ही स्वयम्भू साधुओ की उत्कृष्टता की पोल खोलने के लिये कही गई हैं और इनके नीचे की "पासत्थादिक सरीखे वेषे" यह गाथा उन उद्भट वेषधारी यतियों के लिये है, जो पासत्थो की कोटि मे प्रविष्ट हो चुकने पर भी अपने को साधु मानते थे । वर्ण बदल कर कपडे पहनने वालो का इससे कोई वास्ता नही है ।

"हीणो निज परिवार वढावे" इत्यादि तीन गाथागत उपदेश ढुढको के लिए है ।

"पहेली जे व्रत झूठ उच्चरिया" यह कथन स्वयम्भू साधुओ को लक्ष्य करके किया गया है ।

उपाध्यायजी कहते हैं—'तुमने पहले जो महाव्रत गुरु विना स्वय उच्चरे हैं वे प्रामाणिक नही हैं, इसलिए तुम फिर गुरुसाक्षिक महाव्रत धारण करो ।'

जो क्रियोद्धारक गुरु-आज्ञा से उत्कृष्ट चारित्र पालते थे उनके लिये उक्त कथन कभी सगत नही हो सकता ।

"पासत्थादिक ज्ञाति न तजई" ये शब्द उन यतियो के लिये हैं जो आप "पासत्थो के लक्षण युक्त तथा पासत्थो से ससक्त रहते हुए भी साधु होने का दावा करते थे ।"

उपाध्यायजी के इन वचनो से यही सिद्ध होता है कि उपाध्यायजी स्वय पासत्थो और पासत्थो के शामिल रहने वाले यतियो से दूर रहते थे । इसके आगे की गाथायें उन कपटी साधु नामधारियो के सम्बन्ध मे हैं जो त्यागी होते हुए भी आत्मप्रशसक और परनिन्दक होते थे । उपाध्यायजी

की इन गाथाओं में पूर्व ग्रन्थों की छायामात्र है। वर्तमान के साथ इनका खास सम्बन्ध नहीं है।

तत्कालीन यतियों में भी उग्रविहारी वर्ग होने की आपकी कल्पना निराधार है। अठारहवीं सदी में जहां तक मैं समझ सका हूं यतियों में व्यापक रूप से शिथिलाचार फैल चुका था। यदि तब तक उग्रविहारी विद्यमान होते तो क्रियोद्धार कर उग्रविहार स्वीकार करने की पं० सत्य विजयजी आदि को कभी जरूरत नहीं पड़ती। यह सही है कि कितनेक यति अथवा पतित अवस्था को पहुँच चुके थे तब एक वर्ग ऐसा भी था जो मूल गुणों को लिए हुए था। पर उग्रविहारी जैसी कोई चीज नहीं रही थी।

अभी न तो हमारे पास उपाध्यायजी के ग्रन्थ हैं और न उतनी फुरसत ही है कि उन्हें मंगवाकर पढ़ूं। हमारी तरफ से इस विषय में जो कुछ मंतव्य था लिख दिया है।

श्री विजयप्रभसूरिजी स्वयं उग्रविहारी तो न थे पर उनके मूल गुणों में कोई खामी नहीं थी। उनके पास मध्यम और कनिष्ठ स्थिति के यति थे। अतः वहां रहकर उग्रविहारिपन रखना मुश्किल था इस कारण से सत्यविजयजी आदि ने गच्छपति की सम्मति से क्रियोद्धार करके यतियों का संसर्ग छोड़ा था। पर गच्छपति के साथ वन्दन-व्यवहार रखते थे और उनकी धार्मिक आज्ञाओं को भी मानते थे।

संवेगी और संविग्न शब्द पुराने हैं। क्रियोद्धारकों के लिए ही नहीं किसी भी त्यागी तपस्वी के लिये व्यवहृत होते थे।

'संबोधप्रकरण' आदि ग्रन्थ पढ़ने से आपको इन शब्दों की प्राचीन रूढ़ता का पता लगेगा। यही नहीं बल्कि उपाध्यायजी के बहुत से वचन उक्त ग्रन्थ के अनुवाद मात्र हैं यह भी ज्ञात होगा।

'उकेश गच्छचरित्र' के अनुसार श्री यक्षदेवसूरि ने श्री चन्द्र सूरिजी के पास उपसम्पदा ली थी" और यही हकीकत सत्य भी है।

तत्कालीन पार्श्वनाथ सतानीय साधु पूर्णरूपेण शिथिलाचारी हो चुके थे और कुगुरुओ मे पासत्था के नाम से वे पहले नम्बर मे गिने जाते थे, इसलिये पार्श्वसतानीय आचार्य ने सुविहित गच्छ की उपसम्पदा धारण कर अपने को शिथिलाचार से मुक्त किया था। "ऊकेश गच्छ चरित्र" फिर पढकर निर्णय कर लीजिये। उपकेश गच्छीय पट्टावली मे जो इस विषय में विपरीत लिखा है, वह पिछले यतियो की करतूत है और सर्वथा अप्रामाणिक है।

इस विषय मे अब मैं आपसे ज्यादा लिखा-पढी नही करूँगा, यदि आपको जचे तो अपने विचारो को परिष्कृत कर प्रकट कीजिये अन्यथा जनता के भ्रमनिवारण के लिए जो उचित होगा लेख के रूप मे प्रतीकार किया जायगा।

भवदीय
कल्याणविजय

इस स्थिति में "चौबीस तीर्थङ्करों के यक्ष यक्षिणियों को जिन-शासन का अधिष्ठायक देव मानना अथवा कहना शास्त्र-विरुद्ध है।"

(२) "शासन की सम्पत्ति के संचालन के अधिकारी" :

शासन की सम्पत्ति के अधिकारियों का निरूपण करते हुए लेखक कहते हैं— शासन की मिलकत का रक्षण करने का अधिकार चतुर्विध संघ का है। परन्तु यह लिखना भी जैन निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ की शासन-व्यवस्था पद्धति सम्बन्धी लेखकों की अनभिज्ञता का सूचक है क्योंकि श्रमणसंघ की शासन-व्यवस्था अपने आचारों विचारों पठनों पाठनों परस्पर के सम्बन्धों को ठीक रखने और विशेष संयोगों में संघस्थविर द्वारा संघ समवसरण बुलाकर झगड़ों बखेड़ों का निपटारा करने तक ही सीमित थी।" जंगम स्थावर मिलकतों पर न श्रमणों का दखल था न अधिकार। हाँ बातों में श्रमणगण उपदेशक रूप में गृहस्थों को मार्ग-दर्शन करा सकते थे। जंगम-स्थावर मिलकतों का रक्षण और व्यवस्था करना जैन गृहस्थों तथा उपासकों का काम था न कि जैन श्रमण-श्रमणियों का। जब से श्रमण वनवास को छोड़कर अधिकांश में ग्रामवासी हुए, उसके बाद धीरे धीरे चत्यवास और चैत्यों की व्यवस्था में उनका सम्पर्क बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि श्रमणसंघ की मौलिक विशुद्ध शासन-व्यवस्था निर्बल होती गई और चैत्यवासी साधुओं के प्राबल्य से उनके बहुमत से शासन-पद्धति ने नया रूप धारण किया जो किसी अंश में आज तक चला आ रहा है। परन्तु ऐसी शिथिलाचारियों के बहुमत से स्थापित बनी हुई अनागमिक शासन-व्यवस्था को जैन संघ के बंधारण में स्थान देना शास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं है।

आगे लेखक कहते हैं— संघ के शाश्वत अधिकारों को क्षति पहुँचाने वाले और संघ का अनुशासन नहीं मानने वाले जैन नामधारियों को सड़े पान की तरह संघ से दूर कर देना चाहिए। लेखकों के इस कथन से हम सम्पूर्णतया सहमत हैं परन्तु लेखक महोदय यदि पिछले २१०० वर्षों का जैन संघ का इतिहास जान लेते तो उपर्युक्त कथन करने का साहस ही

नही होता। अन्तिम श्रुतधर आर्यरक्षित सूरि के समय तक कोई भी श्रमण जिनवचन का विरोध कर विपरीत प्ररूपणा करता तो उसे सघ बाहर कर दिया जाता था। यह सघ बाहर की परम्परा महावीर निर्वाण के बाद ६०० वर्ष तक चलती रही। इस समय के दर्म्यान जमालि से लेकर गोष्ठा माहिल तक सात साधु सघ बाहर किए गए, जो जैन शास्त्र में "निन्हव" के नाम से प्रख्यात है। इसके बाद धीरे-धीरे साधुओ का निवास वसति मे होता गया, गृहस्थो से सम्पर्क बढता गया। पहले जो दिनभर का समय पठन-पाठन तथा स्वाध्याय मे व्यतीत होता था, उसका कुछ भाग जिनचैत्य निर्माण, उनकी व्यवस्था आदि का उपदेश देने मे बीतने लगा, गृहस्थो का परिचय बढा। इसके फलस्वरूप सघ बाह्य करने का शस्त्र धीरे-धीरे अनुपयोगी हो जाने से तत्कालीन श्रुतधरो ने इस शस्त्र का प्रयोग करना ही बन्द कर दिया। यदि कोई शास्त्र अथवा प्रामाणिक प्रणाली के विरुद्ध की बात कहता भी तो उसके आचार्य उसे समझा देते, इस पर भी कोई अपना हठाग्रह न छोडता तो उसे अपने समुदाय से जुदा कर देते। सघ बाहर करने तक की नौबत आती नहीं थी। अन्तिम शताब्दी के पिछले ५५ वर्षों के भीतर मैंने देखा कि सघ बाहर के हथियार का उपयोग कुछ साधु श्रावको ने अमुक व्यक्तियो पर किया, परन्तु उसमे कुछ भी सफलता नही मिली और जब तक श्रमण समुदाय मे ऐक्य न होगा और गृहस्थो का अतिससर्ग न मिटेगा, तब तक सघ से बाहर करने की बात, बात ही रहेगी।

(३) शासन-संचालन किस आधार पर ? :

उक्त शीर्षक के नीचे लेखक कुछ ग्रन्थो और सूत्रो का नामोल्लेख करते हैं, जैसे 'आचार-दिनकर, आचार-प्रदीप, आचारोपदेश, गुरु-तत्त्व-विनिश्चय, व्यवहार, बृहत्कल्प, महानिशीथ, निशीथ, इन ग्रन्थ-सूत्रो के नामोल्लेखो से तो ज्ञात होता है कि उन्होने इन ग्रन्थ सूत्रो मे से एक को भी पढा या तो सुना तक नही है। मैंने इन सभी को पढा है और महानिशीथ, निशीथ को दो-दो बार पढा है। अन्तिम चार सूत्रो के नोट तक मैंने लिये हैं। इन आठ ग्रन्थो मे से एक मे भी न सघ के बधारण की

: २४ :

जैन सघ के बधारण की रूपरेखा की अशास्त्रीयता

ले० पं० कल्याणविजय गणि

कुछ दिन पहले यहां के धार्मिक अध्यापक ने हमें एक छोटी पुस्तिका दी जिसका शीर्षक जैन सघ के बधारण की रूपरेखा ' था। पुस्तिका को पढ़कर अपनी सम्मति प्रदान करने का भी अनुरोध किया। इस पर पुस्तिका को पढ़ने के उपरान्त हमें जो कुछ इसके सम्बन्ध में विचार स्फुरित हुए वे नीचे लिखे अनुसार हैं।

रूपरेखा की पुस्तिका पर लेखक का कोई नाम नहीं है परन्तु प्रकाशक के 'आमुख' के पढ़ने से ज्ञात हुआ कि इसके लेखक दो हैं। पहले एक साधुजी जो गणिपदधारी हैं और दूसरा गृहस्थ है जो पण्डित कहलाता है। लेखकों ने अपना नाम टाइटल पेज पर नहीं दिया इसका कारण तो वे ही जाने परन्तु ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण लेख में लेखकों को अपने नाम अवश्य देने चाहिए थे।

लेखकों ने पीठबन्ध में ही 'जैन शासन अर्थात् 'संघ" की व्यवस्था करने में भूल की है। क्योंकि जन शासन का प्राथमिक सूत्र तत्त्वत्रयी है जिसमें देव गुरु और धर्म का समावेश होता है। देवतत्त्व में अरिहन्त और सिद्ध गुरु तत्त्व में आचार्य उपाध्याय तथा श्रमणगण और धर्म तत्त्व में सम्यक्-दर्शन सम्यक्-ज्ञान सम्यक् चारित्र सन्निविष्ट हैं। 'जैन प्रवचन' 'जैन-संघ' या 'जैन-तीर्थ' सब तत्त्वत्रयी में समा जाते हैं। ज्ञानाचारादि पंचाचार (पांच आचार) आदि सभी बातें इसके प्रत्यंग मात्र हैं मौलिक अग नहीं।

(१) शासन-रक्षक देव और देवियाँ :

लेखक मानते है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन का रक्षक एक देव-देवी युगल होता है, जैसे ऋषभदेव के शासन का रक्षक "गोमुख यक्ष; चक्रेश्वरी देवी।" लेखको का यह कथन जैनागम से विरुद्ध है। जैनागमों तथा उसके प्राचीन अगो मे इन देव-देवियो का नाम निर्देश तक नही है। सर्वप्रथम "निर्वाणकलिका" और उसके बाद "प्रवचनसारोद्धार" नामक प्रकरण मे ये देव-देवी युगल दिखाई देते हैं, परन्तु वे शासनरक्षक के रूप मे नही किन्तु तीर्थङ्करो के "चरणसेवको" के रूप मे बताये गये हैं। 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ के बाद के तीर्थङ्कर-चरित्र-ग्रन्थो मे भी उन यक्ष-यक्षिणियो के नाम मिलते हैं। परन्तु उन्हे 'शासन-रक्षक' वा 'प्रवचन-रक्षक' कहना भूल है। प्राचीन काल में जब सपरिकर जिनमूर्तिया प्रतिष्ठित होती थी, उस समय इन देव-युगलो को जिनमूर्ति के आसन के निम्न भाग मे दिखाया जाता था। परिकरपद्धति हट जाने के बाद उस प्रकार के सिंहासन भी हट गए और मन्दिरो में से इन देव-युगलो का अस्तित्व भी मिट सा गया था, परन्तु गत शताब्दी से इन देव-युगलो की पृथक् मूर्तिया बनवाकर मन्दिरो मे बैठाने की प्रथा चल पडी है, जो शास्त्रीय नही है, इन देवयुगलो का आवश्यक-निर्युक्ति मे निरूपण बताना लेखको की आवश्यक-निर्युक्ति से अनभिज्ञता सूचित करता है। आवश्यक-निर्युक्ति मे इन देव-देवियो का निरूपण तो क्या इनका सूचन तक नही है।

जैन प्रतिष्ठाकल्पादि ग्रन्थो मे "पवयणदेवया, सुयदेवया" अथवा "शासन देवया" नाम से जिन देवताओ के कायोत्सर्ग अथवा स्तुतियाँ बताई हैं, वे वास्तव मे जिनप्रवचन पर भक्ति रखने वाली देवियो के पर्याय नाम हैं। कही-कही तीर्थङ्कर-विशेष पर भक्ति रखने वाले अजैन देवो को भी शासन देव के नाम से निर्दिष्ट किया है, जैसे "सर्वानुभूति-यक्ष", "ब्रह्मशान्ति देव" इत्यादि। परन्तु इनके जैनशासन-देव होने का यह तात्पर्य नही है, कि ये जिनप्रवचन अथवा जिनशासन के अधिष्ठायक हैं।

इस स्थिति में "चौबीस तीर्थङ्करों के यक्ष यक्षिणियों को जिन-शासन का अधिष्ठायक देव मानना अथवा कहना शास्त्र विरुद्ध है।

(२) "शासन की सपत्ति के संचालन क अधिकारी" :

शासन की सम्पत्ति के अधिकारियों का निरूपण करते हुए लेखक कहते हैं— शासन की मिलकत का रक्षण करने का अधिकार चतुर्विध संघ को है। परन्तु यह लिखना भी जैन निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ की शासन-व्यवस्था पद्धति सम्बन्धी लेखकों की अनभिज्ञता का सूचक है क्योंकि श्रमणसंघ की शासन-व्यवस्था अपने आचारों विचारों पठनों पाठनों परस्पर के सम्बन्धों को ठीक रखने और विशेष संयोगों में संघस्थविर द्वारा संघ समवसरण बुलाकर झगड़ों बखेड़ों का निपटारा करने तक ही सीमित थी।" जंगम स्थावर मिलकतों पर न श्रमणों का दखल था न अधिकार। इन बातों में श्रमणगण उपदेशक रूप में गृहस्थों को मार्ग-दर्शन करा सकते थे। जंगम-स्थावर मिलकतों का रक्षण और व्यवस्था करना जैन गृहस्थों तथा उपासकों का काम था न कि जैन श्रमण-श्रमणियों का। जब से श्रमण वनवास को छोड़कर अधिकांश में ग्रामवासी हुए, उसके बाद धीरे धीरे चैत्यवास और चैत्यों की व्यवस्था में उनका सम्पर्क बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि श्रमणसंघ की मौलिक विशुद्ध शासन-व्यवस्था निर्बल होती गई और चैत्यवासी साधुओं के प्राबल्य से उनके बहुमत से शासन-पद्धति ने नया रूप धारण किया जो किसी अंश में आज तक चला आ रहा है। परन्तु ऐसी शिथिलाचारियों के बहुमत से हदमूल बनी हुई अनागमिक शासन-व्यवस्था को जैन संघ के बंधारण में स्थान देना शास्त्रीय-दृष्टि से उचित नहीं है।

आगे लेखक कहते हैं— 'संघ के शाश्वत अधिकारों को क्षति पहुँचाने वाले और संघ का अनुशासन नहीं मानने वाले जैन नामधारियों को सड़े पान की तरह संघ से दूर कर देना चाहिए। लेखकों के इस कथन से हम सम्पूर्णतया सहमत हैं, परन्तु लेखक महोदय यदि पिछले २१०० वर्षों का जैन संघ का इतिहास जान लेते तो उपर्युक्त कथन करने का साहस ही

नही होता। अन्तिम श्रुतधर आर्यरक्षित सूरि के समय तक कोई भी श्रमण जिनवचन का विरोध कर विपरीत प्ररूपणा करता तो उसे सघ बाहर कर दिया जाता था। यह सघ बाहर की परम्परा महावीर निर्वाण के बाद ६०० वर्ष तक चलती रही। इस समय के दर्म्यान जमालि से लेकर गोष्ठा माहिल तक सात साधु सघ बाहर किए गए, जो जैन शास्त्र में "निन्हव" के नाम से प्रख्यात हैं। इसके बाद धीरे-धीरे साधुओ का निवास वसति मे होता गया, गृहस्थो से सम्पर्क बढता गया। पहले जो दिनभर का समय पठन-पाठन तथा स्वाध्याय मे व्यतीत होता था, उसका कुछ भाग जिनचैत्य निर्माण, उनकी व्यवस्था आदि का उपदेश देने मे बीतने लगा, गृहस्थो का परिचय बढा। इसके फलस्वरूप सघ बाह्य करने का शस्त्र धीरे-धीरे अनुपयोगी हो जाने से तत्कालीन श्रुतधरो ने इस शस्त्र का प्रयोग करना ही बन्द कर दिया। यदि कोई शास्त्र अथवा प्रामाणिक प्रणाली के विरुद्ध की बात कहता भी तो उसके आचार्य उसे समझा देते, इस पर भी कोई अपना हठाग्रह न छोडता तो उसे अपने समुदाय से जुदा कर देते। सघ वाहर करने तक की नौबत आती नहीं थी। अन्तिम शताब्दी के पिछले ५५ वर्षों के भीतर मैंने देखा कि सघ बाहर के हथियार का उपयोग कुछ साधु श्रावको ने अमुक व्यक्तियो पर किया, परन्तु उससे कुछ भी सफलता नही मिली और जब तक श्रमण समुदाय मे ऐक्य न होगा और गृहस्थो का अतिससर्ग न मिटेगा, तब तक सघ से बाहर करने की बात, बात ही रहेगी।

(३) शासन-संचालन किस आधार पर ? :

उक्त शीर्षक के नीचे लेखक कुछ ग्रन्थो और सूत्रो का नामोल्लेख करते हैं, जैसे 'आचार-दिनकर, आचार-प्रदीप, आचारोपदेश, गुरु-तत्त्व-विनिश्चय, व्यवहार, बृहत्कल्प, महानिशीथ, निशीथ, इन ग्रन्थ-सूत्रो के नामोल्लेखो से तो ज्ञात होता है कि उन्होने इन ग्रन्थ सूत्रो मे से एक को भी पढा या तो सुना तक नही है। मैंने इन सभी को पढा है और महा-निशीथ, निशीथ को दो-दो वार पढा है। अन्तिम चार सूत्रो के नोट तक मैंने लिये हैं। इन आठ ग्रन्थो मे से एक मे भी न सघ के वधारणा की

बात है न लेखकों की शासन-संस्था का शिस्त भंग करने वाले व्यक्ति को संघ से निकाल देने की बात। १५ वीं सदी के अन्त में बने हुए 'आचार प्रदीप' में ज्ञानाचारादि पाँच प्रकार के आचारों को शुद्ध पालने का उपदेश है और उनमें अतिचार लगाने पर भवान्तर में उनको अशुभ फल मिलने के दृष्टान्त हैं। 'आचार दिनकर' १५वीं सदी का एक ग्रन्थ है इसमें शिथिलाचारियों की मान्यताओं का निरूपण है और दिगम्बर भट्टारकों के प्रतिष्ठा-पाठ पूजा-पाठ और पौराणिक शान्तियों का संग्रह है। यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार प्रामाणिक कहा नहीं जा सकता और इसमें भी संघ के बंधारण का निरूपण नहीं है। 'आचारोपदेश' सत्रहवीं सदी के लगभग प्रारम्भ का छोटा-सा ग्रन्थ है इसमें श्रावकों के उपयुक्त पूजा आदि आचार मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। संघ के बंधारण में इसकी कोई उपयोगिता नहीं। 'गुरुतत्त्वविनिश्चय' ग्रन्थ में गुरुतत्त्व की पहिचान के लिए शिथिलाचारियों का खण्डन किया है और गुरु कैसे होने चाहिए इस बात का प्रतिपादन किया है। इसमें भी संघ के बंधारण की रूपरेखा का कोई साधन नहीं है न शासन संस्था का शिस्त भंग करने वालों के लिए प्रतिकार है।

'व्यवहार' और 'बृहत्कल्प' दोनों छेद सूत्र हैं। कल्प में किन किन बातों से श्रमण-श्रमणी को प्रायश्चित लगता है यह निरूपण है। व्यवहार में भी वर्णन तो अपराध पदों तथा प्रायश्चित पदों का ही है परन्तु इसमें प्रायश्चित देने का तरीका विशेष रूप से बताया गया है जिसके कारण इसका नाम 'व्यवहार' रखा।

'निशीथ' उपर्युक्त छेद-सूत्रों के बाद व्यवस्थित किया गया छेद-सूत्र है। इसमें कल्प व्यवहार दोनों सूत्रों का प्रायः सारभाग आ जाता है। 'महानिशीथ' प्राचीनकाल में जो था वह अब नहीं है। वर्तमान महानिशीथ प्रायः विक्रम की नवमी शताब्दी का सन्दर्भ है। इसके उद्धारक प्रसिद्ध श्रुतधर हरिभद्रसूरि कहे गए हैं परन्तु हरिभद्रसूरि के समय में इसका अस्तित्व ही नहीं था। यह बात अनेक प्रमाणों के आधार पर निश्चित हुई है। महानिशीथ के सप्तम अध्याय में प्रायश्चितों का निरूपण

है, जो जैन सघ मे कभी व्यवहार में नही आए। शेष अध्यायो मे से कुछ औपदेशिक गाथाओ से भरे हुए हैं, तब अधिकाश कथा दृष्टान्तो से भरे हुए है, जिनमे कि कई बातें प्रचलित आगमो से विरुद्ध पडती हैं।

उपर्युक्त सूत्रो मे से प्रथम के तीन सूत्रो मे केवल साधु-साध्वी के आचार मार्ग मे होने वाले अपराधो का प्राश्चित निरूपण है। लेखको की चतुर्विध सघात्मक शासन-सस्था का बधारण नही।

महानिशीथ मे भी अधिकाश श्रमण-श्रमणियो के योग्य उपदेश और दृष्टान्त हैं, श्रावक श्राविकात्मक सघ की कोई चर्चा नही।

जिस सघ के बधारण की रूपरेखा घडने मे सहायक होने की बात लिखी गई है। उन ग्रन्थो मे वास्तावक क्या हकीकत है, इसका सक्षिप्त दिग्दर्शन ऊपर कराया है, लेखक इस पर विचार करेंगे तो उक्त ग्रन्थो के नाम बताने मे उनको भूल हुई है, यह बात वे स्वय समझ सकेंगे।

(४) संचालकों की कथाएँ :

उपर्युक्त शीर्षक नीचे लेखको ने शासन सचालन के अधिकारियो की नामावली देते हुए कहा है कि "शासन सचालको मे सर्वोच्च अधिकारी तीर्थङ्कर, उनके बाद गणधर, फिर आचार्य, गौणाचार्य, फिर गणि गणावच्छेदक, वृषभ, गीतार्थ मुनि, पन्यास आदि पदस्थो को क्रमशः शासन सचालन के अधिकार दिए गए हैं।"

लेखको के उपर्युक्त विवरण मे भी अनेक आपत्तिजनक बातें है। तीर्थङ्करो को शासन सचालन के सर्वोच्च अधिकारी कहना भ्रान्तिपूर्ण है। तीर्थङ्कर सचालक नही, किन्तु तीर्थ के प्रवर्तक होते हैं। वे अपने प्रधान शिष्यो को प्रवचन का बीज "उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" यह त्रिपदी सुनाते हैं और शिष्य इससे शब्द विस्तार द्वारा द्वादशाङ्गी की रचना करते हैं और अपने परम गुरु तीर्थङ्कर भगवन्त की आज्ञा पाकर इस प्रवचन अथवा द्वादशाङ्गी रूप तीर्थ का

देश प्रदेशों में लोक-हितार्थ उपदेश करते हैं। तीर्थङ्कर स्वयं भी धर्म तथा तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया करते हैं और उनके उपदेश से जो वैराग्य प्राप्त कर उनके श्रमण सघ में दाखिल होना चाहते हैं उन्हें निग्रन्थ श्रमण की प्रव्रज्या देकर श्रमण-श्रमणियों के प्रमुखत्व में श्रमण श्रमणीगण की व्यवस्था शिक्षा करने वाले स्थविरों तथा प्रवर्तिनियों को सुपुर्द करते हैं और वे अभिनव श्रमण-श्रमणियों को ग्रहण आसेवन नामक दो प्रकार की शिक्षा से ज्ञान तथा आचार में प्रवीण बनाते हैं यही श्रमण संघ का सचालन है। तीर्थङ्कर इस सचालन में उपदेश प्रदान के अतिरिक्त कोई उत्तरदायित्व नहीं रखते। गणधरों के निर्वाण के बाद उनके उत्तराधिकारी आचार्य इसी क्रम से शासन सचालन करते हैं। श्रमण समुदाय के सामान्य कार्यों में हस्तक्षेप न कर केवल ग्रहण-शिक्षा में धर्मानुयोग प्रदान करते हैं और जैन प्रवचन के ऊपर होने वाले अन्य धर्म-शासकों के आक्षेपों आक्रमणों का सामना करने का उत्तरदायित्व रखते हैं। इन कार्यों का सुचारु रूप से सचालन हुआ करे इसके लिए अपने सम्प्रदाय में से योग्य व्यक्तियों को भिन्न भिन्न कार्यों पर नियुक्त कर देते हैं। ऊपर कहा गया है कि आचार्य विद्यार्थी साधुओं को अर्थ का अनुयोग मात्र देते हैं। वे सूत्र-पाठ देने के लिए अन्य श्रमण को नियुक्त करते हैं जो साधुओं को सूत्र पढ़ाता है और उपाध्याय कहलाता है। समुदाय के साधुओं को उनकी योग्यता नुसार कार्यों में नियुक्त करने के लिए एक योग्य बुद्धिमान् साधु नियुक्त होता था जो गण के साधुओं को अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त करने और प्रमाद न करने का उपदेश दिया करता था। यह अधिकारी 'प्रवर्ती' अथवा 'प्रवर्तक' कहलाता था। साधुओं से प्रमादवश होने वाले अपराधों राग-द्वेष से होने वाले मतभेदों और झगड़ों का निराकरण करने के लिए एक गीतार्थ समभावी वृद्ध श्रमण नियुक्त किया जाता था जो श्रमणों को प्रायश्चित्त प्रदान और आगमी झगड़ों का न्याय देता था। यह पुरुष स्थविर" अथवा "रत्नाधिक" नाम से सम्बोधित होता था। गण के साधुओं के गच्छ (टुकड़ियाँ) बनाकर भिन्न भिन्न प्रदेशों में विहार कराना और टुकड़ियों में से साधुओं को इधर उधर अन्यान्य टुकड़ियों में भेजना

इत्यादि कार्यों के लिए एक योग्य श्रमण नियुक्त होता था, जो "गणाव-च्छेदक" नाम से पहिचाना जाता था।

उपर्युक्त गण-व्यवस्थापक का पांच पुरुषो की नामावलि के साथ कभी-कभी "गणी" तथा "गणधर" इन दो नामो से भी निर्देश होता है। "गणी" का अर्थ निशीथचूर्णि मे "इन्चार्ज अधिकारी" के रूप मे किया गया है। आचार्य की अनुपस्थिति मे वह "आचार्य" का काम बजाता था और उपाध्याय की अनुपस्थिति मे "उपाध्याय" का। इसी से "गणी" शब्द का अर्थ कही आचार्य और कही उपाध्याय किया गया है। "गणधर" शब्द का तात्पर्य यहा गणवच्छेदक-कृत श्रमणो की टुकडियो के नेता गीतार्थ श्रमण से है, न कि तीर्थङ्कर-दीक्षित मुख्य शिष्य गणधर से।

उपर्युक्त आगमोक्त गणव्यवस्था का दिग्दर्शन मात्र है। सर्व गणो का सम्मिलित समुदाय सघ कहा गया है। इससे समझना चाहिए कि गणो की व्यवस्था ही सघ-शासन-व्यवस्था थी। सघ सम्बन्धी विशेष कामो के लिए ही सघ समवसरण होता था और उसमे विशेष कामो का खुलासा होता था, बाकी सब श्रमणगण अपने-अपने गणाधिकारियो की शास्त्रीय व्यवस्थानुसार चलते थे। सघ के कार्यों में वृषभ, पन्न्यास आदि को कोई अधिकार प्राप्त नही थे। वृषभ उस साधु को कहते थे, जो शारीरिक बल वाला और कृतपरिश्रम होने के उपरान्त गीतार्थ होता। समुदाय के साधुओ के लिए वस्त्र-पात्रादि की प्राप्ति कराना और चातुर्मास्य योग्य क्षेत्र की प्रतिलेखना करना, ये वृषभ साधु के मुख्य काम होते थे। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त गुणो के उपरान्त वृद्धावस्था वाला वृषभ श्रमणियो के विहार मे भी उनका सहायक बना करता था। पन्न्यास यह कोई अधिकार-सूचक पद नही है, किन्तु व्यक्ति के पाण्डित्य का सूचक पद है। इस पदधारी मे जैसी योग्यता होती, वैसे अधिकार पर वह नियुक्त कर लिया जाता था और उस हालत में वह अपने अधिकार-पद से ही सम्बोधित होता था, न कि पन्न्यासपद से।

उपर्युक्त शास्त्रीय सघ-शासन की व्यवस्था का निरूपण पढ़कर विज्ञ पाठकगण अच्छी तरह समझ सकेंगे कि लेखको का शासन-सचालन

सम्बन्धी कथाओं का निरूपण कितना भ्रान्तिजनक है। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि लेखक शासन अथवा प्रवचन का अर्थ तो करते हैं– साधु साध्वी श्रावक श्राविकारूप चतुर्विध संघ और संचालकों की कथाओं में श्रावक-श्राविका-रूप द्विविध संघ को कोई स्थान ही नहीं देते। इस स्थिति में शासन-संस्था के संचालन में चतुर्विध संघ को अधिकारी मानने का क्या अर्थ होता है इसका लेखक स्वयं विचार करें।

(४) श्रीसंघ की कार्यपद्धति के आधार तत्त्व

उपर्युक्त शीर्षक के नीचे लेखकों ने 'पांच व्यवहारों' की चर्चा की है परन्तु नाम आगम श्रुत धारणा और जीत चार लिखे हैं। मालूम होता है तीसरा 'आज्ञाव्यवहार' उन्हें याद न होगा। इन पांच व्यवहारों को लेखक संघ की व्यवस्था के नियम और संचालन पद्धति के मुख्य तत्त्व मानते हैं। लेखकों के इस कथन को पढ़कर हमारे मन में यह निश्चय हो गया है कि पाँच व्यवहार किस चिड़िया का नाम है यह उन्होंने समझा तक नहीं। सुनी सुनायी पंच-व्यवहार की बात को आगे करके संघ की व्यवस्था और उसके संचालन की बातें करने लगे हैं। इन पांच व्यवहारों को सामान्य स्वरूप भी समझ लिया होता तो प्रस्तुत प्रसंग पर इन व्यवहारों का उल्लेख तक नहीं करते क्योंकि इन व्यवहारों का सम्बन्ध श्रमण-श्रमणियों के प्रायश्चित्त प्रदान के साथ है, अन्य किसी भी व्यवस्था विधि-विधान या संचालन-पद्धति से नहीं। केवली मनःपर्याय ज्ञानी अवधि ज्ञानी चतुर्दश पूर्वधर दशपूर्वधर तथा नवपूर्वधर' श्रमण-श्रमणियों की दोषापत्तियों का गुरुत्व लघुत्व अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से जानकर उस दोष की शुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्त प्रदान करते थे उसे 'आगमव्यवहार' कहते थे। इसी को प्रत्यक्ष व्यवहार' भी कहते थे। बृहत्कल्प व्यवहार, निशीथ-सूत्र पीठिका आदि के आधार से श्रमण-श्रमणियों को जो प्राय श्चित्त दिया जाता है वह श्रुतव्यवहार'' कहलाता है।

एक प्रायश्चित्तार्थी आचार्य अपने अपराध पदों को सांकेतिक भाषा में लिखकर अपने अगीतार्थ शिष्य द्वारा अन्य श्रुतधर आचार्य से प्रायश्चित्त

मगवाते थे। तब प्रायश्चित्तदाता श्रुतधर भी साकेतिक भाषा मे ही दोषो का प्रायश्चित्त लिखकर पत्र द्वारा मगाने वाले आचार्य के पास भेजते है। इस रीति से लिए-दिए जाने वाले प्रायश्चित्त-व्यवहार को "आज्ञाव्यवहार" कहते थे। आचार्य अपने शिष्यादि को जिन अपराधो का जो प्रायश्चित्त देते उनको साथ मे रहने वाले शिष्य प्रतेच्छकादि याद रखकर अपने शिष्यादि प्रायश्चित्तार्थियो को प्रदान करे तो वह "धारणाव्यवहार" कहलाता है। जिस गच्छ मे जो प्रायश्चित्त-विधान-पद्धति प्रचलित हो उसके अनुसार प्रायश्चित्त प्रदान करना उसका नाम "जीत-व्यवहार" है। इस प्रकार से पाच प्रकार के व्यवहारो का सम्बन्ध प्रायश्चित्त प्रदान से है। इन व्यवहारो मे से "आगम-व्यवहार" पूर्वधर अधिकारियो के साथ कभी का विच्छिन्न हो चुका है। दूसरा, तीसरा और चौथा व्यवहार भी आजकल बहुत ही कम व्यवहृत होता है। वर्तमान समय मे बहुधा "जीत-व्यवहार" प्रचलित है, जिसका यथार्थ रूप मे व्यवहार करने वाले मध्यम तथा जघन्य गीतार्थ होते हैं, पर इस प्रकार के गीतार्थ भी अल्प सख्या मे पाये जाते है। वर्तमान समय मे "जीत" शब्द का "कर्त्तव्य" के अर्थ मे भी प्रयोग हुआ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु इस जीत का जीत-व्यवहार से कोई सम्बन्ध नही है। वर्तमान समय मे कतिपय साधु अपनी गुरु-परम्पराओ को "जीत-व्यवहार" के नाम से निभाते हैं। वे आगमिक व्यवहारो से अनभिज्ञ हैं, यही समझना चाहिए।

(६) शासन के प्रतिकूल तत्व :

ऊपर के शीर्षक के नीचे मतदानपद्धति को विदेशीय पद्धति कहकर कोसते हैं और जैन शासन के लिए अहितकर मानते हैं। हमारी राय मे लेखको के दिमागो मे विदेशीय अनेक बातो के विरुद्ध का जो भूसा भरा हुआ है उसी का यह एक अश बाहर निकाला है, अन्यथा इस चर्चा का यहा प्रसग ही क्या था। मतदान-प्रदान की पद्धति विदेशीय नही बल्कि भारतीय है। जैन-सूत्रो तथा जैनेतरो के साहित्य मे ऐसी अनेक घटनाएँ उपलब्ध होती हैं कि जिनका निर्णय सर्वसम्मति से अथवा बहुमति से किया जाता था। सघसमवसरण, स्नानमह आदि प्रसगो पर सघहित की

अनेक बातें उपस्थित होती थीं और उन पर वाद विवाद होकर सर्व-सम्मति से अथवा बहुमति से प्रस्ताव मान्य किये जाते थे। लेखकों ने पुराण की बात को विदेशियों की कहकर जैन शास्त्रों से अपनी अनभिज्ञता मात्र प्रकट की है।

(७) अनुकम्पा :

संघ के बधारण की रूपरेखा के १५वें फिकरे में दिए गए "अनुकम्पा' इस शीर्षक के नीचे लेखक लिखते हैं—' जिनेश्वर प्रणीत पांच प्रकार के दानों में अनुकम्पा का समावेश है।

ऊपर के अवतरण में लेखक अभय सुपात्र अनुकम्पा उचित और कीर्ति दान इन पांच दानों को अर्हत्प्रणीत मानते हैं जो जैन शास्त्र विरुद्ध है। प्राचीन आगमों प्रकरणों और विक्रम की दसवीं शताब्दी तक के चरित्रादि ग्रन्थों में केवल तीन दानों का ही प्रतिपादन मिलता है। वे तीन दान १ अभयदान २ ज्ञानदान ३ उपष्टम्भदान इन नामों से वर्णित हैं। अनुकम्पा दान का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी की समराइच्चकहा में मिलता है। उपर्युक्त तीन दानों का सविस्तार प्रतिपादन करने के बाद आचार्य हरिभद्रजी कहते हैं— अनुकम्पा दान का जिनेश्वरों ने निषेध नहीं किया है अर्थात् अनुकम्पा दान का न शास्त्र में विधान है न उसका प्रतिषेध। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आगमों में अनुकम्पादान की चर्चा ही नहीं है। आचार्य हरिभद्रसूरि के उपर्युक्त उल्लेख के बाद लगभग तीन सौ वर्षों के पश्चात् अनुकम्पा-दान को उपयुक्त तीन दानों के समीप स्थान मिला और उचित तथा कीर्तिदान धार्मिक रूप में कब माने गये इसका तो कोई आधार ही नहीं मिलता। अर्वाचीन औपदेशिक ग्रन्थों में स्थान प्राप्त—

> "अभयं सुपत्तदाणं अणुकम्पा उचिय कित्तिदाणाइं।
> दुन्निहिं मुक्खो भणिओ तिन्नि य भोगाइयं विति॥"

इस गाथा में पांच दानों का निरूपण मिलता है, परन्तु यह गाथा किस ग्रन्थ की है, इसका कोई पता नहीं मिलता। इस प्रकार की अर्वाचीन

गाथा के आधार पर पांच दानो को अर्हत्प्रणीत कहना अनभिज्ञता का सूचक है।

(८) जीवदया :

उसी परिशिष्ट के १६वें फिकरे मे लेखको ने "जीवदया" यह शीर्षक देकर अनुकम्पा से जीवदया को पृथक् किया है। अनुकम्पा-दान के पात्र लेखको ने मनुष्यो को बताया है; तब जीवदया के पात्र पशु, पखियो को। लेखको के इस पृथक्करण का आधार शास्त्र अथवा प्रामाणिक परम्परा तो नही है। अत. इसका आधार इनकी कल्पना ही हो सकती है।

दान-क्षेत्रो की सख्या आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी महाराज ने सात होना लिखा है—जिनप्रतिमा, जिनचैत्य, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, ये सात स्थान जैन समाज मे सात क्षेत्र के नाम से पहिचाने जाते हैं। बारहवी शताब्दी के आचार्य जिनचन्द्रसूरिजी ने साधारण, पौषधशाला, जीवदया, इन तीन को बढाकर दानक्षेत्रो को १० बनाया। परन्तु "रूपरेखा" के लेखको ने तो एक-एक स्थान को अनेक विभागो मे बाटकर दान के स्थानक १७ बना दिए। जिन-शासन सस्था के नियमों के शाश्वतपन की बातें करने वाले लेखको को कोई पूछेगा, कि आपने दानक्षेत्रो की यह लम्बी सूची किस शास्त्र अथवा प्रामाणिक परम्परा के आधार पर बनाई है। हम तो निश्चय रूप से मानते हैं, कि ये सभी लेखको की फलद्रूप कल्पनाओ के नमूने हैं।

(९) संचालन का अधिकारी :

इस शीर्षक के नीचे के विवेचन मे लेखको ने पचाशक की दो गाथाएँ दी है और उनका स्वाभिमत अपूर्ण अर्थ लिखकर बताया है, कि "इन गुणो से युक्त, श्रद्धावान्, गृहस्थ चैत्यादि कार्य का अधिकारी है।" उक्त गाथाओ में वास्तव में "जिनचैत्य बनाने का अधिकारी कैसा होना चाहिए, इस विषय का आचार्यश्री ने वर्णन दिया है, न कि चैत्य-द्रव्यादि की

व्यवस्था आदि करने वाले के गुणों का। लेखकों ने गोलमाल बात लिख कर चरण-द्रव्यादि धन-सम्पत्ति की व्यवस्था करने वालों को भी इस योग्यता में शामिल करने की चेष्टा की है परन्तु इस प्रकार करना प्रामाणिकता से विरुद्ध है। पूर्वकाल में न तो धार्मिक क्षेत्रों में इतना खर्च था न उन क्षेत्रों में आज की तरह लाखों की सम्पत्ति का संचय ही किया जाता था। चैत्य की प्रतिष्ठा के समय चैत्यकारक स्वयं तथा उसके इष्टमित्रादि अपनी तरफ से अमुक द्रव्य इकट्ठा करके आवश्यकता के समय चैत्य में खर्च करने के लिए एक छोटा फण्ड कायम कर लेते थे जो नीवि मूलधन अथवा समुद्रक' इन नामों से व्यवहृत होता था। इस समुद्रक का धन चैत्य के रिपेयरिङ्ग जीर्णोद्धार अथवा देश में विप्लव होने पर गाँव छोड़कर चले जाने के समय वेतन से पूजक को रखकर प्रतिमा पुजाने के काम में खर्च किया जाता था इसलिए उसकी रक्षा की विशेष चिन्ता ही नहीं होती थी। धन को इकट्ठा करने वाला गृहस्थ ही बहुधा उस समुद्रक को सम्भाले रखता था अथवा गोष्ठिक मण्डल' के हवाले कर देता था जिससे उसके नाश की आशंका ही नहीं रहती और न अमुक योग्यता वाले मनुष्य की खोज करनी पड़ती।

जैन संघ के संघारण की रूपरेखा 'लिखने वाले लेखक युगल में से एक लेखक की इच्छा इस 'रूपरेखा' के सम्बन्ध में मेरी सम्मति जानने की है। यह बात जानने के बाद मैंने 'संघारण की रूपरेखा' की समीक्षा के रूप में उपर्युक्त छोटा सा विवरण लिखा है जिसके अन्तर्गत जैन संघ के मौलिक नियमों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव में वर्तमान जैन संघ की कतिपय रूढ़ियों को लक्ष्य में लेकर लेखकों ने यह रूपरेखा खींची है जो किसी भी समय के जैन संघ की व्यवस्था के लिये उपयोगी नहीं है। जैन-संघ की व्यवस्था के लिये इस प्रकार की समीतायें अस्तव्यस्त साधुओं और भिन्न-भिन्न बाड़ों में रहने वाले गृहस्थों से बनी हुई इस प्रकार की शासन-संस्था कभी सफल नहीं हो सकती। मेरा स्पष्ट मत तो यह है कि यदि जैन-संघ को उज्ज्वल बनाना है तो श्रमण-श्रमणियों को गृहस्थों का अतिपरिचय और अतिभक्ति का मोह छोड़कर श्रमण-श्रमणी

रूप द्विविध सघ को सघटित करना चाहिए और श्रमणधर्म के विरुद्ध जो-जो आचार-विचार प्रवृत्तियां उनमे घुस गई हैं उनका परिमार्जन करना चाहिए। इसी प्रकार श्रावक-श्राविकात्मक द्विविध सघ को भी गच्छ-मतों की बाडा-बन्दियो से मुक्त होकर जैन-सघ के एक अग रूप से अपना सघटन करना चाहिए। इस प्रकार सघ के दो विभाग अपने-अपने कर्त्तव्य की दिशा मे आगे बढ सकेंगे और गृहस्थवर्ग साधुओ के कार्य मे हस्तक्षेप न करते हुए अपने कार्यों को वजाते हुए जैन-शासन-सस्था की उन्नति कर सकेंगे, इसमे कोई शक नही है! तथास्तु।

: २५ :

बधारणीय शिस्त के हिमायतिश्रों को

ले० : पं० कल्याणविजय गणि

❖

ता० ११–७–६१ के 'हितमित-पथ्य'सत्यम्' नामक एक मासिक पात्रे में 'महत्त्वनी नोंधो' इस शीर्षक के नीचे उक्त पात्रे के सम्पादक अरविन्द जेम० पारख ने पण्डित बेचरदासजी दोशी ने 'कल्याण-कलिका' की प्रस्तावना के आधार पर कुछ समय पहले 'जैन' पत्र में एक लेख प्रकाशित कराया था उस लेख को पढ़कर शासनसंस्था के अनुशासन की हिमायत करते हुए सम्पादक महोदय ने हमें सलाह देने का साहस किया है। जो कि उन्होंने 'कल्याण-कलिका' को अथवा उसकी प्रस्तावना को पढ़ा नहीं है न हमारी अन्य कृतियों को ही पढ़कर हमारे विचारों से परिचित हुए हैं। केवल 'जिन-पूजा-पद्धति' को ही पढ़ा हो इतना उनके लेख से ज्ञात होता है।

सम्पादक की टिप्पणी का सार यह है कि पन्यासजी को ऐसी प्रस्तावना लिखने के पूर्व शासन-संस्था के अनुशासन के खातिर इस विषय के ज्ञाता पुरुषों से परामर्श करके ऐसी कोई प्रामाणिक प्रस्तावना लिखनी चाहिए थी।

श्री पारख को हम पूछना चाहते हैं कि किसी भी शास्त्रविषयक लेख के लिखने के पहले उस विषय के ज्ञाताओं से सलाह लेना हमारे लिए ही जरूरी है अथवा अन्य लेखकों के लिए भी ? यदि हमारे लिए ही उनका यह मार्ग-दर्शन है तो इसका कोई अर्थ ही नहीं। सम्पादक ने हमारा कोई ग्रन्थ पढ़ा नहीं हमारे विचारों से परिचित नहीं और हमको हित सलाह देने को तत्पर होना इसका हम कोई अर्थ नहीं समझते। हमारी जिन

जा-पद्धति" के सम्वन्ध मे विद्वान् साधुओ ने बहुतेरा ऊहापोह किया, फर भी वे उस पुस्तक का एक शब्द भी अप्रामाणिक ठहरा नही सके। ह सब जानते हुए भी सम्पादक महाशय "जिन-पूजा-पद्धति" को भयभीत ष्टि से क्यो देखते है, यह बात हमारी समझ मे नही आती।

(१) १७वी शताब्दी मे मूर्तिपूजक जैन-गच्छो मे कलहाग्नि भडकाने वाले उपाध्याय श्री धर्मसागरजी ने "सर्वज्ञशतक" नामक ग्रन्थ बनाकर सभी जैन-गच्छो को उत्तेजित किया। इतना ही नही परन्तु कई ऐसी शास्त्रविरुद्ध बातें लिखी कि जिनसे उनके गुरु आचार्य भी बहुत नाराज हुए और उन्हे अपने गच्छ से बाहर उद्घोषित किया। इस कडी शिक्षा के परिणामस्वरूप इनकी आँखें खुली और गुरु से माफी ही नही मागी वल्कि "सर्वज्ञ-शतक" का सशोधन किये विना प्रचार न करने की प्रतिज्ञा की। वही "सर्वज्ञ-शतक" ग्रन्थ थोडे वर्ष के पहले एक साधु द्वारा छपकर प्रकाशित हुआ है। जिन जैनशास्त्र-विरुद्ध बातो की प्ररूपणा के अपराध मे उसके कर्ता उपाध्याय श्री धर्मसागरजी गच्छ से बाहर हुए थे, वे सभी विरुद्ध प्ररूपणाएँ मुद्रित सर्वज्ञ शतक पुस्तक मे आज भी विद्यमान हैं। क्या श्री पारख तथा इनके मुरब्बी ज्ञाता-पुरुष इस विषय मे उक्त पुस्तक के प्रकाशक मुनिजी को शासन-सस्था के अनुशासन की सलाह देंगे ?

(२) उक्त उपाध्याय श्री धर्मसागरजी के शिष्य श्री पद्मसागरजी ने दिगम्बराचार्य श्री अमितगति की "धर्मपरीक्षा" मे से १५०–२०० श्लोक हटाकर उसे अपनी कृति के रूप मे व्यवस्थित किया था और उसे उसी रूप मे और उसी नाम से कुछ वर्षों पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की एक पुस्तक प्रकाशक सस्था ने छपवाकर प्रकाशित भी कर दिया है। वास्तव मे पद्मसागर की यह "धर्मपरीक्षा" आज भी दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है। उसमें अनेक दिगम्बरीय मान्यताएँ ज्यो की त्यो विद्यमान हैं, जो श्वेताम्बर परम्परा को मान्य नही हैं। क्या श्री पारख तथा इनके शासन-सस्था के अनुशासनवादियो ने इस विषय पर कभी विचार किया है ?

(३) आज के यान्त्रिक युग में प्रतिवर्ष कितनी ही सस्कृत, प्राकृत तथा लोक-भाषा की पुस्तके प्रकाशित हो रही हैं। पिछले सौ वर्षों मे

ऐसी सैकड़ों पुस्तकें छपकर जैनों के हाथ में गई हैं। उनमें रही हुई अल्पश्रुत-कर्त्ताओं की भूलें अल्पज्ञ और अनुभवहीन सम्पादकों की भूलें और प्रेस की भूलें गिनकर इकट्ठी कर दी जायें तो उनकी संख्या हजारों के ऊपर चली जायेगी। इन साहित्यिक भूलों के परिणामस्वरूप जैन संस्कृति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। इसका शासन-संस्था के अनुशासनवादियों ने कभी विचार किया है?

(४) उपर्युक्त साहित्यिक भूलों से भी अधिक भयङ्कर घटना तो यह घटी है कि हमारे श्वेताम्बर साहित्य में कुछ ऐसे ग्रन्थ बन पड़े हैं जो जैन संस्कृति के लिए बहुत ही अहितकर हैं। इनमें कुछ ग्रन्थ तो कल्पित उपन्यासों की तरह गढ़े हुए हैं तब कतिपय ग्रन्थ अर्वाचीन और मध्य कालीन शिथिलाचारी साधुओं की कृतियां होने पर भी प्राचीन तथा प्राचीनतर प्रामाणिक आचार्यों के नाम पर चढ़े हुए हैं। ऐसे अनेक ग्रन्थों का हमने पता लगाया है इन कृत्रिम ग्रन्थों का प्रभाव इतना गहरा पड़ा है कि विक्रम की १०वीं शती से २०वीं शती तक की जैन संस्कृति का कायापलट-सा हो गया है जिससे आगमिक और अगठ्गीतार्थाचरित मार्गों और शिथिलाचारी शठगीतार्थों तथा अल्पज्ञ साधुओं द्वारा प्रचारित परम्पराओं का पृथक्करण करना कठिन हो गया है। क्या शासन-संस्था के अनुशासनवादी और श्री पारख इस अन्धेरगर्दी पर विचार कर सकते हैं?

श्री पारख के कथन का ध्वनि हमें तो यही मालूम हुआ कि शास्त्र का संशोधन भले ही हो पर जो परम्पराएँ आज तक चली आ रही हैं, उनका खण्डन नहीं होना चाहिए। हम कहना चाहते हैं कि श्री पारख तथा इनके शासन-संस्था के अनुशासनवादी "जैन संस्कृति किसे कहते हैं यह पहले समझ लें। "हम स्वयं तो जन-आगम और अशठ-गीतार्था चरित मार्गों में व्यवस्थित धार्मिक परम्परा को ही जैन-संस्कृति समझते हैं और इसका रक्षण करना जन मात्र का कर्त्तव्य मानते हैं। इस संस्कृति का उच्छेद करने वाला जन नहीं अजन कहलाने योग्य है। यदि अनागमिक अगीतार्थ-शठाचरित परम्पराओं तथा अल्पज्ञ साधुओं यतियों द्वारा

प्रचालित रूढियो तथा निर्मूलक गुरु-परम्पराओ को जैन-सस्कृति मे सम्मिलित किया जाय तो धीरे-धीरे खरी सस्कृति इन कुपरम्पराओ के नीचे लुप्त ही हो जायेगी, जिस प्रकार वस्त्र पर लगे हुए मैल के स्तर क्षार और निर्मल जल के द्वारा दूर हटते है और वस्त्र शुद्ध होता है, इसी प्रकार आगमिक तथा गीतार्थाचरित मार्गो मे घुमी हुई निरर्थक परम्पराओ को दूर हटाने से ही जैन-सस्कृति अपने विशुद्ध स्वरूप मे रह सकती है।" हमारी इस मान्यता के साथ श्री पारख तथा इनके अनुशासनवादी मुरब्बी सहमत नही हो सकते है तो उनकी मर्जी की बात है। कोई भी मनुष्य अपनी शुद्ध बुद्धि से अपने सच्चे मन्तव्य पर दृढ रहे और उसका प्रतिपादन करे, उसे बुरा कहना सभ्य मनुष्य का काम नही ।

अनागमिक और शठ-अगीतार्थाचरित परम्पराओ को खुल्ला न पाडने से आज जैन-धर्म, इसका उपदेश कई बातो मे आगमिक न रहकर पौराणिक बन गया है। यही नही पर कई मनस्वी मुनियो ने तो अपनी पौराणिक मान्यताओ को प्रामाणिक साबित करने के लिए नकली ग्रन्थ तक बना डाले हैं, जो "कृत्रिम-कृतिया" इस शीर्षक के नीचे दिए हुए वर्णनो से पाठकगण समझ सकेंगे।

: २६

तिथि-चर्चा पर सिंहावलोकन

❖

(१)

१ सांवत्सरिक पर्व की आराधना में मतभेद खड़ा करने वाले श्री सागरानन्दसूरिजी थे यह मैं ही नहीं लगभग सारा जैन समाज मानता है। सं० १९५२ तथा १९८९ में सागरजी और उनके शिष्यों ने भा० शु० ५ का सांवत्सरिक पर्व किया था, यह सब जानते हैं।

सं० १९९३ में और १९९४ में (गुजराती १९९२–१९९३ में) भाद्रपद शुक्ल ५ की वृद्धि में सागरजी अकेले ही पड़ जाते। परन्तु इस समय इनको श्री नेमिसूरिजी श्री वल्लभसूरिजी श्री नीतिसूरिजी आदि सहायक मिल जाने से श्री सागरजी का साथ बढ़ गया। तीन-तीन बार पंचमी के क्षय में चतुर्थी को आगे-पीछे न करने वाले हमारे पूज्य गुरुजियों ने पंचमी की वृद्धि में तृतीया अथवा चतुर्थी की वृद्धि करके तपागच्छ के श्रमण-संघ को दो विभागों में बांट लिया। यह चक्र कैसे फिरा इसका भी इतिहास है परन्तु गत वस्तु को आज ताजा करने की आवश्यकता नहीं। १९९४ के वर्ष में यह चर्चा उग्र हो उठी आमने-सामने शास्त्रार्थ की चेलेंजें की गईं। किसी भी समुदाय के प्रतिनिधित्व के बिना ही श्री सागरानन्दसूरिजी अपनी जवाबदारी से शास्त्रार्थ के लिये तैयार हुए। श्री विजयसिद्धिसूरिजी तथा श्री विजयप्रेमसूरिजी की तरफ से तिथि-चर्चा करने के अधिकार-पत्र लिखकर मुझे सुपुर्द किये गये थे। इतना होने पर भी उस प्रसंग पर प्रचार के सिवा अधिक कुछ नहीं हुआ।

२ चातुर्मास्य के बाद हमने अहमदाबाद से मारवाड़ की तरफ विहार किया। तिथि चर्चा वर्षों तक चलती रही। मारवाड़ में आने के

बाद हम इस प्रकरण से सर्वथा लक्ष्य खीचकर अन्य कार्यो मे व्यस्त हो गये थे। इतने मे पालीताना में श्री सागरानन्दसूरिजी तथा श्री रामचन्द्र-सूरिजी के बीच सेठ श्री कस्तूरभाई लालभाई द्वारा तिथिविषयक शास्त्रार्थ करके इस चर्चा का अन्त लाने का निर्णय हुआ। निर्णायक पच श्री पी० अेल वैद्य की सेठ द्वारा नियुक्ति हुई। वादी की योग्यता से श्री सागरानन्द-सूरिजी ने श्री वैद्य को अपना वक्तव्य सुपुर्द किया। निर्णायक पच ने वादी के वक्तव्य के उत्तर के लिए उसकी कॉपी श्री रामचन्द्रसूरिजी को दी। श्री रामचन्द्रसूरिजी ने उक्त वक्तव्य अहमदाबाद वाले जौहरी बापालाल चूनीलाल तथा श्री भगवानजी कपासी को देकर पहिली ट्रेन से हमारे पास भेजा। दोनो गृहस्थ सुमेरपुर से जाने-आने का इक्का लेकर हमारे पास गुडा-बालोतरा (मारवाड) आये। सध्या समय हो गया था, हम प्रति-क्रमण करने बैठ गये थे। प्रतिक्रमण हो जाने पर वे धर्मशाला मे आये, सर्व हकीकत कहकर सागरानन्दसूरिजी का वक्तव्य हमारे हाथ मे देकर बोले—"साहिब! अभी का अभी आप इसे पढ लें और मुद्दो पर विचार कर प्रातः समय इनके लिखित उत्तर हमे देने की कृपा करें। हमे बहुत उतावल है, इक्का वाला ठहरेगा नही।" हमने कहा—हम दीपक के प्रकाश मे पढ़ते नही हैं और ऐसे गम्भीर मामलो मे पूर्ण विचार किये विना कुछ भी लिखना योग्य नही है। इस पर वे कुछ ठण्डे पडे और परदे की ओट मे दीपक रखकर सागरजी का वक्तव्य पढ सुनाया। हमने कहा—"इसका उत्तर कल चार बजे तक तैयार कर देंगे।" थोड़ा समय बैठकर वे सोने को चले गये।

प्रात कालीन आवश्यक कार्यो से निपट कर हमने सागरजी महाराज का वक्तव्य ध्यान से पढा और एक एक मुद्दे के उत्तर मन मे निश्चित किये। साधन-सामग्री प्रस्तुत करके लिखने की तैयारी करते पहर दिन चढ गया। आहार-पानी करके ११॥ बजे ऊपर एकान्त मे बैठकर सागरा-नन्दसूरिजी के पूरे वक्तव्य के उत्तर १४ पृष्ठो मे पूरे किये। एक साथ लगभग ४॥ घण्टो तक लिखने से हाथ ने भी उत्तर दे दिया था। शाम को ४॥ बजे दोनो को बुलाकर कहा—जवाबदावा का मसविदा तैयार है।

अब कल का दिन ठहरो तो इसकी फेयर कॉपी लिख देंगे। परन्तु उसके लिये तो एक-एक घड़ी एक मास हो गया था, कहने लगे—' साहब ! बड़ा अर्जेन्ट काम है अब तो हमको जल्दी से जल्दी रवाना करो इसी में लाभ है। हमने रफ कॉपी और ४ हमारे पट्टक इनको देकर कहा— देखो ! ये हमारे ४ पट्टक और जबाबवाले की यह हमारे हाथ की रफ कॉपी वहाँ का काम निपटने के बाद हमको वापिस भेजना होगा। बापा-लाल ने कबूल किया और शाम का भोजन कर वे गुड़ा-बालोतरा से एरनपुरा रोड स्टेशन के लिए रवाना हुए।

३ हम मारवाड़ में थे तब जनविकास के एक मासिक अङ्क में *श्री आनन्दविमलसूरि*' के नाम पर चढ़े हुए एक नकली पन्ने का छपा हुआ ब्लोक देखा। उस पन्ने में श्री आनन्दविमलसूरि के समय में श्रावण सुदि १५ की वृद्धि में त्रयोदशी की वृद्धि की थी ऐसा उल्लेख था जिस पर से ब्लोक बनाया था। वह पन्ना लिपि की दृष्टि से बीसवीं शती का लिखा हुआ था और भाषा तथा इतिहास की दृष्टि से भी वह सन्दिग्ध कल्पित था। यह सब होते हुए भी गणित की कसौटी पर चढ़ा कर जाँच करने के लिये हमने उसे जोधपुर आर्कियोलोजिकल सुप्रिन्टेन्डेन्ट की ऑफिस में भेजा। *गणितीय उपाय होने के बाद वहाँ से रिपोर्ट मिली* कि जिस वर्ष में श्रावण पूर्णिमा की वृद्धि होना इसमें लिखा है उस वर्ष में वास्तव में श्रावणी पूर्णिमा की वृद्धि नहीं हुई थी और न उस दिन तथा उसके पूर्व तथा अगले दिन भी मंगलवार था। यह रिपोर्ट भी श्री रामचन्द्रसूरि पर भेजी गई थी। इसी वर्षों के दमियान *श्री सागरानन्द* सूरिजी की तरफ से 'शास्त्रीय पुरावा संग्रह' इस नाम से कतिपय कूट पन्ने छपकर प्रकाशित हुए थे। हमने इन सब पन्नों को ध्यान से पढ़ा और वे बहुधा कूट साबित हुए थे और लगभग ८० पृष्ठों में उन सब का हमने खण्डन *लिखकर तैयार* किया था और वह खण्डन भी श्री रामचन्द्र सूरिजी के पास भेज दिया था।

वादि-प्रतिवादियों के वक्तव्यों पर गम्भीर विचार करने के बाद पंच श्री वैद्य ने *तिथि-मतभेद* विषयक फैसला दिया था जिसमें हमारे पक्ष की

मान्यता को सत्य ठहराया था। परन्तु इस फैसले को सागरानन्दसूरिजी ने नामन्जूर किया। सागरजी के नामन्जूर करने पर उनकी पार्टी के अग्रगण्य आचार्य महाराजों ने कहा—"जिन्होंने शास्त्रार्थ किया है वे जानें। हमारा इस निर्णय के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।"

पञ्च का निर्णय छपकर बाहर पड़ने पर हमने श्री रामचन्द्रसूरिजी का उत्तर ध्यान से पढ़ा तो ज्ञात हुआ कि हमारे लेख का एक भी शब्द उन्होंने छोड़ा नहीं था। केवल हमारे लेख को उन्होंने अपनी भाषा में परिवर्तित किया था। श्री रामचन्द्रसूरिजी ने अपने उत्तर में "हमारे पट्टक को श्री दानसूरि ज्ञान-मंदिर का पट्टक लिखा था।" इसका कारण शायद यह होगा कि "इस विषय में श्री रामचन्द्रसूरिजी ने कल्याणविजय की सहायता ली है ऐसी किसी को शंका न हो।" कुछ भी हो, परन्तु हमारे पक्ष की सत्यता साबित हुई इतना ही हमें तो सन्तोषप्रद हुआ।

४. जहाँ तक हमें स्मरण है १९९६ की साल का चातुर्मास्य बदला उस समय हमारे आराध्य आचार्यप्रवर श्री सिद्धिसूरीश्वरजी के श्रीमुख से उनके नादान भक्तों ने जाहिर करवाया था कि "यह पन्ना आनन्दविमल-सूरिजी का है ऐसा कोई भी साबित कर देगा तो हम उसके अनुसार चलने को तैयार हैं।" जिस पन्ने की हम ऊपर चर्चा कर आये हैं उसी पन्ने के सम्बन्ध में पूज्य आचार्य की उक्त जाहिरात थी और बिल्कुल सच्ची बात थी। परन्तु उसे सच्चा करके बताने वाला उस समय उनके पास कोई मनुष्य न था। इस अवसर का लाभ लेके श्री हर्षसूरिजी के शिष्य कल्याण-सूरि उछल पड़े और "यह पन्ना आनन्दविमलसूरि का ही है यह सिद्ध करने को मैं तैयार हूँ" यह नोटिस पढ़कर मुझे बड़ा दुःख हुआ।

कल्याणसूरि पर उतनी नाराजगी नहीं हुई, जितनी कि हमारे पक्ष के इन नादान मित्रों पर हुई। जब यह पन्ना नकली है यह वस्तु सिद्ध करने की किसी में शक्ति न थी, तब इस विषय में पूज्य वृद्ध आचार्य को आगे करने की क्या जरूरत थी? परन्तु हो क्या सकता था, हम दो सौ माईल के अन्तर पर थे। मन मसोस कर रह गये और वृद्ध आचार्य की मौन

करना पड़ा। इस घटना वाले वर्ष में श्री विजयनीतिसूरिजी महाराज का चातुर्मास्य मारवाड़ में वांकली में था। उनकी तबियत नादुरुस्त थी और चातुर्मास्य के बाद ज्यादा नादुरुस्त होने के कारण से श्री कल्याणसूरि भी मारवाड़ में आये थे। ये समाचार हम को भीनमाल तरफ के विहार में मिले। कल्याणसूरि की सिद्धिसूरिजी को दी हुई नोटिस को मैं भूला नहीं था तुरन्त श्री नीतिसूरिजी महाराज पर पत्र लिखा और सूचित किया कि आपकी तबीयत अस्वस्थ सुनकर बड़ा दुःख हुआ। अब तबीयत कैसी है कृपया सूचित करायें। आप श्रीजी की तबीयत अस्वस्थ रहा करती है हमारे पूज्य आचार्य श्री सिद्धिसूरिजी भी तद्रूप हैं। आप दोनों पूज्य पुरुषों की उपस्थिति में तिथि-चर्चा का कुछ निपटारा हो जाता तो अपने गच्छ में से यह मतभेदजन्य अवश्य क्लेश हमेशा के लिए शांत हो जाता।"

हमारे इस पत्र के उत्तर में श्री नीतिसूरिजी महाराज की तरफ से श्री कल्याणसूरि द्वारा लिखा हुआ पत्र हमें नीचे लिखे भाव का मिला—

'तुम और तुम्हारा पक्ष किस रीति से तिथि-मतभेद का निपटारा करना चाहते हो वह लिखना ताकि उस पर विचार किया जायेगा।"

हमने उक्त पत्र के उत्तर में लिखा— 'दूसरे सभी प्रमाण पुरावों को एक तरफ रखकर "जन विकास" में जिसका श्लोक छपाया है उसी श्री आनन्दविमलसूरिजी के पन्ने की परीक्षा कराई जाय और यह श्लोक वाला पन्ना सच्चा साबित हो जायगा तो हम तथा हमारा पक्ष सब मंजूर कर लेंगे। पाने में लिखे मुजब दो पूर्णिमाओं की दो त्रयोदशी करेंगे और यदि पन्ना जाली ठहरेगा तो आपको प्रचलित मान्यता को छोड़कर हमारी मान्यता को स्वीकार करना होगा।

हमारे उक्त पत्र का जो नीतिसूरिजी या अहमदाबाद में नोटिस देकर पराक्रम बताने वाले श्री कल्याणसूरि की तरफ से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। हमको जरा निराशा हुई और साथ-साथ संतोष भी हुआ कि सिद्धिसूरिजी को नोटिस देने वाले कितने गहरे पानी में हैं।

५ सं० २०१२ की बात है, हमको अधिकार-पत्र देने वाले पक्ष के साधुओ की एक पार्टी की तरफ से हमारे ऊपर भलामन पत्र आया कि "प्रतिपक्ष यदि समाधान की भावना वाला हो तो अपने पक्ष को भी समाधान का कोई मार्ग सोच रखना जरूरी है।"

ऐसे पत्र लिखने वालो को हमारे मूल उद्देश्य की खबर न थी, इसीलिये वे हमको समाधान के लिए अनुकूल बनाते थे, अन्यथा हमारा तो मूल से उद्देश्य यही था कि जिस तिथि-क्षय-वृद्धि-विषयक भूल के परिणाम-स्वरूप वार्षिक पर्व तक भूल पहुँची है उस मूल भूल को खुल्ली पाडने से ही सावत्सरिक पर्वविषयक भूल का सुधारा हो सकेगा। पिछले १०० वर्ष से देवसूरि गच्छ के यतियो और श्रीपूज्यो ने पूर्णिमा के क्षय-वृद्धि मे त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करने का मार्ग निकाला है और इस मार्ग को प्रामाणिक मानकर ही पचमी के क्षय-वृद्धि मे तृतीया का क्षय-वृद्धि करने की कल्पना मूर्तिमती हुई है, इसलिए मूल भूल को पकडने से ही वार्षिक पर्व मे नयी घुसी हुई भूल सुधर सकेगी और जब इस विषय की चर्चा निपटारे की परिस्थिति मे आयेगी तब यदि १०० वर्षों की भूल को चलाने के बदले मे सावत्सरिक भूल सुधरती होगी तो उन पुरानी भूलो को चलाने की हम आनाकानी नही करेंगे। १९९३–९४ मे हमने इस वस्तु को समझा कर ही अपने पक्ष को चर्चा के मोर्चे पर खडा किया था।

६ १९९४ की साल मे श्री विजयनीतिसूरिजी महाराज अहमदाबाद चातुर्मास्यार्थ आये तब नगर-प्रवेश के दिन आप विद्याशाला मे आकर पूज्य विजयसिद्धिसूरिजी को वन्दन करके आगे गये थे। उस समय के उनके हृदयोद्गारो को सुनने से मुझे नवाई लगी, उन्होंने वन्दन करने के बाद कहा—

"मेरे पर आपका बडा उपकार है, मैं इनके नाम की नित्य माला गिनता हूँ।"

सिद्धिसूरि की विरोधी पार्टी को दृढ बनाने के लिए पाटन का नियत चातुर्मास्य रद्द करके शिष्यपरिवार के साथ अहमदाबाद आने वाले

आचार्य के उक्त उद्गार को सुनके मुझे आश्चर्य हुआ और उनके जाने के बाद पूज्य बापजी महाराज को इस भावुकता का कारण पूछा और उत्तर में बापजी महाराज ने इस विषय का इतिहास सुनाया।

श्री नीतिसूरिजी की पूज्य बापजी की तरफ की सद्भावना जानने के बाद मुझे लगा कि यदि श्री नीतिसूरिजी महाराज और हमारे बीच कुछ समझौता हो जाय तो अहमदाबाद में तो प्रायः तिथि-विषयक समाधान हो जाय। ऐसा विचार करके मैंने पूज्य आचार्य महाराज की सलाह भी तो आपने कहा—नीतिसूरि का अपनी तरफ सद्भाव है इसमें शक नहीं पर तिथि चर्चा के विषय में ये कुछ कर नहीं सकेंगे। मुझे नहीं लगता कि इनके शिष्य इनको कुछ भी करने दें। मैंने कहा— आपकी आज्ञा हो तो मैं इनको मिलूं ? यदि कुछ होगा तो ठीक अन्यथा अपना कुछ जाता तो नहीं। पूज्य आचार्य श्रीजी ने मुझे लुहार की पोल में श्री नीतिसूरिजी के पास जाने की आज्ञा दी। मैंने पूछा—किस प्रकार का समाधान आपको स्वीकार्य होगा ? उत्तर मिला— 'तुमको जो योग्य लगे वैसा करना मैंने कहा—नीतिसूरिजी दूसरे पञ्चांग के आधार से भाद्रपद शुदि ६ की वृद्धि मानकर बुधवार को सांवत्सरी करने का कबूल करें तो अपने कबूल करना या नहीं ? आपने कहा— अपने दो पञ्चमियां मानें और वे दो षष्ठी मानें इसमें कुछ फरक नहीं पड़ता अपने तो औदयिक चतुर्थी और बुधवार मानना चाहिए। पूज्य आचार्य के इस खुलासा के बाद मैंने एक दूसरा प्रश्न पूछा—यदि श्री नीतिसूरिजी पूर्णिमा की क्षय वृद्धि में त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करवाने की अपने पास स्वीकृति मांगें तो अपने क्या करना ? वैसी स्वीकृति देकर भी समाधान करना या आ जाना ? पूज्य आचार्य देव ने कहा— यदि सांवत्सरिक पर्व के सम्बन्ध में एकमत्य हो जाता हो तो दूसरे सामान्य मतभेदों को महत्त्व न देना चाहिए।

पूज्य गुरुदेव के पास ऊपर लिखित बातों का खुलासा लेकर तीसरे दिन मैं लुहार की पोल बिराजते श्री विजयनीतिसूरिजी के पास गया। वे धर्मशाला के पिछले भाग में अकेले बैठे थे। वन्दनादि करके

मैं भी बैठ गया और प्रसग आते पर्युषणाराधन के सम्बन्ध मे बात निकाली। आसपास की बहुत-सी अन्य बाते भी हुई। अन्त मे मैंने १९८९ की साल मे उनकी तरफ से छपकर बाहर पडी हुई एक पुस्तिका की तरफ उनका ध्यान खीचकर कहा—"नवासी मे आपने भाद्रपद शुदि ५ का क्षय माना था तो इस साल मे भाद्रपद शुदि ५ की वृद्धि मानने मे क्या आपत्ति है ?

श्री नीतिसूरि ने कहा—"१९८९ मे हमने भा० शु० ५ का क्षय नही माना था, किन्तु दूसरे पचाग के आधार से भाद्रपद शु० ६ का क्षय माना था।"

मैंने कहा—"भले ही आपने ६ का क्षय किया होगा तो इस वर्ष मे भी अन्य पचागो मे ६ की वृद्धि भी है। वैसे आप भी उन पचागो के आधार से ६ की वृद्धि मानकर चतुर्थी के दिन पर्व करें, इसमे हमको कोई आपत्ति नही।"

सूरिजी ने विचार करके कहा—"हाँ ऐसा करे तब तो बात बैठ सकती है।"

मैंने कहा—आपको जिस प्रकार ठीक लगे वही कहिये, ताकि मैं पूज्य श्री सिद्धिसूरिजी महाराज को सूचित करूँ।"

सूरिजी ने कहा—कल्याणविजयजी! ६ की वृद्धि करके चतुर्थी कायम रखने की बात ही हमको समाधानकारक लगती है। पर इसका निश्चित उत्तर मैं आज नही दे सकता।"

मैंने पूछा—"निश्चित उत्तर के लिए मैं कब आऊँ ?"

श्री नीतिसूरिजी ने कहा—"निश्चित उत्तर मैं परसो दे सकूँगा।"

मैं खडा हुआ और बोला—"तब मैं परसो आऊँगा" कहकर मत्थएण वदामि कर विद्याशाला पहुँचा। पूज्य आचार्य श्रीजी को सब वृत्तान्त कहा। पूज्य बापजी ने कहा—"हमको कुछ होने की आशा नही लगती,

मै भी बैठ गया और प्रसग आते पर्युषणाराधन के सम्बन्ध मे बात निकाली। आसपास की बहुत-सी अन्य बातें भी हुई। अन्त मे मैंने १९८९ की साल मे उनकी तरफ से छपकर बाहर पडी हुई एक पुस्तिका की तरफ उनका ध्यान खीचकर कहा—"नवासी मे आपने भाद्रपद शुदि ५ का क्षय माना था तो इस साल मे भाद्रपद शुदि ५ की वृद्धि मानने मे क्या आपत्ति है ?

श्री नीतिसूरि ने कहा—"१९८९ मे हमने भा० शु० ५ का क्षय नही माना था, किन्तु दूसरे पचाग के आधार से भाद्रपद शु० ६ का क्षय माना था।"

मैंने कहा—"भले ही आपने ६ का क्षय किया होगा तो इस वर्ष मे भी अन्य पचागो मे ६ की वृद्धि भी है। वैसे आप भी उन पचागो के आधार से ६ की वृद्धि मानकर चतुर्थी के दिन पर्व करें, इसमे हमको कोई आपत्ति नही।"

सूरिजी ने विचार करके कहा—"हाँ ऐसा करे तब तो बात बैठ सकती है।"

मैंने कहा—आपको जिस प्रकार ठीक लगे वही कहिये, ताकि मैं पूज्य श्री सिद्धिसूरिजी महाराज को सूचित करूँ।"

सूरिजी ने कहा—कल्याणविजयजी ! ६ की वृद्धि करके चतुर्थी कायम रखने की बात ही हमको समाधानकारक लगती है। पर इसका निश्चित उत्तर मैं आज नही दे सकता।"

मैंने पूछा—"निश्चित उत्तर के लिए मैं कब आऊँ ?"

श्री नीतिसूरिजी ने कहा—"निश्चित उत्तर मैं परसों दे सकूँगा।"

मैं खडा हुआ और बोला—"तब मैं परसो आऊँगा" यह कहकर मत्थएण वदामि कर विद्याशाला पहुँचा। पूज्य आचार्य श्रीजी को सब वृत्तान्त कहा। पूज्य बापजी ने कहा—"हमको कुछ होने की आशा नही लगती

नीतिसूरि के शिष्य उनको रास्ते चलने नहीं देंगे। उपमुख हो बृद्ध आचार्य श्री की वाणी सच्ची हुई। तीसरे दिन मैं सुहार की पोल के उपाश्रय में श्री नीतिसूरिजी के पास गया पर इस समय उस भले आचार्य के मुख पर प्रसन्नता नहीं थी।

वन्दनादि अनन्तर पूछा — साहिबजी ! कुछ निर्णय हुआ ? उत्तर मिला निर्णय जो होना था वह गतवर्ष हो गया था। अब कोई नया निर्णय होने के संयोग ज्ञात नहीं होते। ये अन्तिम शब्द उनके मुख से निकले तब मुझे कुछ ग्लानि-सूचक ध्वनि लगी। मैंने कहा—इसमें निराशा जैसी कोई वस्तु न होनी चाहिए। जो भावी होता है वह होकर ही रहता है। मैं क्षणभर रुका फिर विदा हुआ। चर्चा के सिंहावलोकन में जो आ सकें ऐसी अनेक घटनाएँ हैं परन्तु उन सब का संग्रह कर अवलोकन को विस्तृत करना बेकार है। जो महत्त्वपूर्ण और अद्यावधि अप्रकाशित बातें थीं उनमें से कतिपय आवश्यक बातों का ऊपर निर्देश कर दिया है।

हमारा उद्देश्य तब और अब

(२)

१ ई० १६०० के आसपास में देवसूरि गच्छ के श्रीपूज्यों और यतियों ने जो तिथि-विषयक परम्पराएँ प्रचलित की थीं उनको तपागच्छ पालता था। पूर्णिमा के क्षय-वृद्धि प्रसंग में त्रयोदशी का क्षय-वृद्धि करने की रीति वास्तव में गलत थी तथापि श्रीपूज्य और यतियों के प्राबल्य काल में प्रचलित हुई कतिपय रीतियों को पालने के लिए हमारी संविग्न शाखा को भी बाध्य होना पड़ा था और एक बार कोई भी वस्तु व्यवहार में प्रविष्ट होने के बाद वह खरी है या खोटी इसकी कोई परीक्षा नहीं करता। हमारे पूर्ववर्ती गुरुओं और हमने किसी भी परम्परा को एक रीति रूढ़ि के रूप में भी पालन किया कि वह 'गीतार्थाचरणा' हो गई। यह तिथि-विषयक रूढ़ मान्यता खोटी होने का सर्वप्रथम श्री विजयदान सूरिजी महाराज ने जाहिर किया था परन्तु उन्होंने भी इस चीले को छोड़ने का साहस नहीं किया। कारण कि एकच्छत्र और सर्वमान्य बने

हुए गलत चीले का बदलना भी विचारणीय बन जाता है। जब तक समाज गलत चीज को भी गलत के रूप मे न समझ ले तब तक वह उसे छोडने के लिए तैयार नही होता। परन्तु असत्य प्रवृत्ति को सदा उसी रूप मे चलाते जाना यह भी कभी हानिकारक हो जाता है।

स० १९९३ के पर्युषणा-प्रसग पर अनेक आचार्य अपनी चलती परम्परा से हटकर तृतीया की वृद्धिकारक श्री सागरजी की मान्यता की तरफ झुके। इसका यही कारण था कि प्राचीन भूल का परिमार्जन किसी ने नही किया था। स० १९९३ के भाद्रपद शुदि ५ को वृद्धि थी। परन्तु पर्युषणा तिथि भा० शुदि ६ की होने से मतभेद को अवकाश नही था, पर सागरानन्दसूरिजी जिन्होने स० १९५२ मे भाद्रपद शु० चतुर्थी के क्षय मे तृतीया का क्षय मानकर वार्षिक पर्व तपागच्छ की परम्परा से विरुद्ध होकर भाद्रपद शु० ३ को किया था।

स० १९९३ मे किसी ने तृतीया दो मानी, किसी ने चतुर्थी दो मानी पर सावत्सरिक पर्व भाद्रपद शुदि प्रथम पचमी रविवार को किया। इसी प्रकार स० १९९४ को भाद्रपद शुदि प्रथम पचमी गुरुवार को वार्षिक पर्व किया तब हमारे पक्ष ने तथा खरतर गच्छ ने भा० शु० ४ बुधवार को वार्षिक पर्व मनाया था।

उस समय हमे लगा कि पूर्णिमा अमावस्या की वृद्धि मे त्रयोदशी की वृद्धि और उनके क्षय मे त्रयोदशी का क्षय करने की जो गलत परम्परा लगभग १०० वर्षों से चली है उसके परिणामस्वरूप ही भा० शुक्ल ५ के क्षय-वृद्धि मे तृतीया की क्षय-वृद्धि करने की सागरजी को कल्पना सूझी है। अत अब मूल भूल को सुधारना आवश्यक है, यह निर्णय कर हमने मूल चण्डु पचाँग मे हो उसी मुजब तिथि का क्षय-वृद्धि मानने का निर्णय किया और उसी प्रकार भीतियें। जैन-तिथि पत्रको मे छपवाने का जारी किया। यह बात हमने लम्बी छानबीन के बाद प्रचलित की थी। जोधपुर दरबार के पुस्तक प्रकाश मे रहे हुए १६०१ से १८०० तक मे बने हुए तमाम पचागो की

फाइलों में जांच करवाकर देखा गया तो श्री विजयहीरसूरिजी की कारकीर्दी दर्मियान ३ बार मा० सु० ५ की वृद्धि आई थी। पर सांवत्सरिक पर्व प्रत्येक बार औदयिक चतुर्थी को ही हुआ था।

प्राचीन कालीन जैन-तिथि पत्रकों में भी पूर्णिमाएँ तथा पंचमियां जहां-जहां बढ़ी थीं वहां सर्वत्र दो ही लिखी थीं और उनमें दूसरी पूर्णिमा और पंचमियों को पालनीय तिथि लिखा था। सब खुलासों को हृदयगत करने के बाद ही हमने नवीन भीतियें तिथि-पत्रकों का प्रचार करवाया था। यह बात भी हमारे ध्यान बाहर नहीं थी कि हमारा यह कार्य एक पाक्षिक है सब मान्य होने की आशा नहीं है। लगभग १०० वर्षों से जो वस्तु रूढ़ हो चुकी है उसे गलत समझ कर सत्य मार्ग को ग्रहण करने वाले मनुष्य बिरले निकलेंगे। कुछ समय के लिए मतभेद तो रहेगा ही, पर बार बार के संघर्ष से भविष्य में इस विषय में ऊहापोह होता रहेगा और कोई शुभ समय भी आयेगा कि जब सांवत्सरिक पर्व के दिन का ऐक्य हो जायगा। बाद में तो पूर्णिमादि का ही मतभेद रहेगा क्योंकि यह भूल प्राचीन है। हमने तथा हमारे गुरु प्रगुरुओं ने भी यह भ्रान्त मान्यता मानी है। किसी भी प्रकार इसका समाधान न हुआ तो हम इस विषय की सत्य वस्तु को छोड़ के भी गच्छ में समाधान कर लेंगे। यदि तपागच्छ का सब संघ औदयिक चतुर्थी के दिन को इधर-उधर न करने का विश्वास दिलायेगा तो दूसरे सब बखेड़ों को छोड़कर समाधान कर लेंगे।

इस समय अहमदाबाद आने के बाद यहां का वातावरण समाधान के लिए अनुकूल लगा। हमने सोचा यदि पूज्यपाद आचार्यदेव श्री विजय-सिद्धिसूरीश्वरजी की भावना समाधान की हो और पूर्णिमा अमावस्या की हानि वृद्धि का बखेड़ा छोड़ दें तो तिथि-मतभेद का अन्त आ जाय। पूज्यपाद के जीवन की शताब्दी पूरी होने के प्रसंग पर नयी शती के प्रवेश में आपके मुख से समाधानकारक चार शब्द कहला दिये जायें तो संघ के लिए आनन्ददायक होंगे और धीरे धीरे तपागच्छ में से तिथि-विषयक मतभेद दूर होने का मार्ग भी निकल आयेगा इस आशय से हमने पूज्यपाद से कोई निवेदन बाहर पड़वाने का निश्चय किया और समय पाकर पूज्य

बापजी महाराज को उक्त निवेदन करने की प्रार्थना की । कुछ समय तक हमने दो के बीच परस्पर विचारो का आदान-प्रदान होने के वाद पूज्यपाद बोले–ठीक है । पर्युषणा तक मे कुछ हो जाय तो वहुत अच्छा 'तहत्ति' कह कर मैं उनसे जुदा पडा ।

प्रथम भाद्रपद शुदि १२ की शाम को जब मैंने वन्दना कर प्रत्याख्यान मागा तब पूज्यपाद ने पूछा–कौन ? मैंने कहा 'कल्याणविजय' इन्होने कहा– 'कल्याणविजयजी' उस विषय मे–मेरे कहने योग्य जो हो उसे लिख रखना । "महावीर स्वामी के जन्मवाचन-प्रसग पर मैं व्याख्यान की पाट पर बैठता हूँ उस समय उसे सुना दू गा" । मैंने 'तहत्ति' कहकर आभार माना । दूसरे ही दिन पूज्यपाद के नाम से जाहिर करने का निवेदन तैयार किया ।

"श्रेयासि बहुविघ्नानि" इस कथनानुसार अच्छे कार्य विघ्नवहुल तो होते ही हैं । मैंने इस कार्य सम्बन्धी गुप्तता नही रखी थी, न गुप्तता रखने के सयोग ही थे । पूज्य आचार्य की श्रवणेन्द्रिय वहुत ही कमजोर हो गई थी । बात कुछ भी हो, जोरो से कहने पर ही आप सुनते थे । "खड-कपाली" जो आपका टाइमकीपर था और हर समय समीपवर्ती रहता था, आपको कही हुई बात सर्वप्रथम सुनता था और उसमे वह बात "पश्चात्कृत" के पास जाती । मानो ये दोनो रामचन्द्रसूरि के एजेन्ट थे, मैं बापजी महाराज को बहका न दूँ इसके लिये दोनो नियुक्त थे । हमारी भावना समाधान कराने की अवश्य थी, परन्तु उनके मन का समाधान कायम रख कर । दुर्जनो की उल्टी-सुल्टी बातो से डावाडोल होकर उनका मन आर्त-ध्यान मे पडे ऐसो परिस्थिति को दूर रखने का हमारा ध्येय था । हमारे कार्य मे विघ्नकारक दो मनुष्य थे, इसलिये हमने पहले ही उनको सूचना कर दी थी कि मै पूज्य वापजी महाराज की जन्म-शती के प्रसग पर उनकी तरफ से एक निवेदन वाहर पडवाना चाहता हूं । खडकपाली ने निवेदन पढकर कहा–"ठीक है, परन्तु मुझे नही लगता कि वे ऐसा वक्तव्य वाहर पाडे । पश्चात्कृत ने वक्तव्य पढकर कहा–साहव यह तो उल्टा होता है । मैंने कहा–तुम और तुम्हारे गुरु दो ही गीतार्थ की पूंछडी हो जो सच्चे झूठे को समझते हो । दूसरा कोई समझने वाला रहा ही नही ।"

पश्चात्कृत ने तब से हमारे पास आना छोड़ दिया और अभयकपाली की मार्फत पूज्यपाद का सम्पर्क विशेष साधने लगा। पूज्यपाद के ध्यान रूम में घुस द्वार बन्द कर दोनों उन पर दबाव डालते और कहते–'ऐसा करने से तो सेठ कस्तूरभाई नाराज हो जायेंगे। आपके पक्ष में रहने वालों का एक प्रकार से विश्वासघात किया माना जायेगा" इत्यादि बातें कानों पर डालकर इस भद्र स्थविर का मन डांवाडोल कर दिया।

कतिपय दिनों के बाद मुझे दोपहर को ध्यान के रूम में बुलाकर कहा– भाई ! मैं तो बोलते-बोलते भूल जाता हूँ, सभा में एक के स्थान में दूसरा कुछ बोल जाऊँ तो कैसा गिना जाय।

मैंने कहा–साहिबजी आपका वक्तव्य आप ही सुनायें ऐसा कोई नियम नहीं है। आप दूसरे से कहला सकते हैं अथवा पढ़वा सकते हैं।

मेरे स्पष्टीकरण के बाद उनके मुंह से ऐसी अनेक बातें निकलीं जो पश्चात्कृत ने भराई थीं। सेठ कस्तूरभाई की नाराजगी के सम्बन्ध में मैंने कहा–साहिब ! सेठ कस्तूरभाई को यह निवेदन पहले पढ़ाकर उनका अभिप्राय ले लेंगे। जो वे कहेंगे कि इसमें कुछ बाधा नहीं है तब तो यह निवेदन बाहर पाड़ना अन्यथा नहीं। मेरे उक्त कथन से वे मौन रहे।

मैंने आगे कहा–आपको कुछ भी बात गले नहीं उतरती ? आपने कहा– 'भाई, मुझे तो कुछ भी गम नहीं पड़ता और संकल्प विकल्प हुआ करते हैं।

मैंने कहा–साहिबजी ! बात प्रसंग के अनुरूप थी आपका महत्त्व बढ़ाने वाली थी। इस पर भी आपके गले न उतरती हो तो छोड़ दीजिये मैं अपनी प्रार्थना वापिस खींच लेता हूँ। आप अब इस विषय में कुछ भी संकल्प विकल्प न करें।

मेरे उपर्युक्त कथन पर उन्होंने कहा– 'दूसरे बारोबार कर लेते हों तो मैं कब इन्कार करता हूँ। अब दो तेरस करेंगे तो मैं कहाँ जुदा पड़ने वाला हूँ। अहमदाबाद में श्रीपूज्य ने दो पूनम की दो तेरस कराई तब से

सुबाजी ने असत्य प्ररूपणा जानकर उनके व्याख्यान मे जाना बन्द किया, फिर भी दो तेरस उन्होने भी की थी। वैसे दो तेरस करना शास्त्रीय है नही, फिर भी दूसरे कर लेंगे तो हम अकेले दो पूनम पकड कर नही बैठेगे। तथापि जो बात झूठी है उसे हम सच्ची के रूप मे कैसे स्वीकार करे।

मैंने कहा—साहिबजी, अब इस बात को छोडिये, दूसरे जैसा करना होगा कर लेगे। आपको उनको कुछ कहने की आवश्यकता नही, आप किसी प्रकार के सकल्प-विकल्पो मे न पडियेगा।

निबन्ध-निचय

तृतीय खण्ड

卐 卐

दिगम्बर जैन साहित्य
का
अवलोकन

卐

दिगम्बर जैन परम्परा का प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य

दिगम्वर परम्परा, श्वेताम्वर सघ तथा यापनीय सघ से सर्वथा पृथक् हो गई थी और उनके आगमो तक का त्याग कर दिया था। तव उसे अपने साहित्य की चिन्ता उत्पन्न हुई। पार्थक्य के समय तक श्वेताम्वर-मान्य आगमो की दो वाचनाएँ हो चुकी थी, इसलिए श्वेताम्वर मान्य आगमो का मिलना दुष्कर नही था। दिगम्वर मुनियो ने अपने धार्मिक दानो मे "पुस्तकदान" को महत्त्व दिया और भक्त गृहस्थो ने कही से भी हस्त-लिखित पुस्तक प्राप्त कर अथवा उसकी प्रति लिखवाकर अपने पूजनीय मुनियो को दान देने की प्रथा प्रचलित की। परिणामस्वरूप उन सूत्र पुस्तको का आधार लेकर विद्वान् साधुओ ने सिद्धान्त-विपयक ग्रन्थो का सूत्रो मे अथवा गाथाओ मे निर्माण किया। इस प्रकार के ग्रन्थो मे "षट् खण्डागम, भगवती आराधना, मूलाचार" आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। "षट्-खण्डागम" का प्रथम खण्ड भूतवलिकी और शेष पाच खण्ड पुष्पदन्त की कृति मानी जाती है। "भगवती आराधना" आचार्य शिवार्य की कृति है, ऐसा उसकी प्रशस्ति मे ग्रन्थकार स्वय लिखते हैं। "मूलाचार" नामक ग्रन्थ आचार्य "वट्टकेर" अथवा तो "वट्टकेरल" की कृति मानी माती है।

उपर्युक्त तीनो ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति को मानने वाले हैं। पिछले दो ग्रन्थ साधुओ के लिए आपवादिक उपधिका भी प्रतिपादन करते हैं और "षट्-खण्डागम" सूत्र मे भी कुछ ऐसे विषय हैं जो इन ग्रन्थो का अर्वाचीनत्व सूचित करते हैं। हमारी राय मे इन तीनो प्राचीन ग्रन्थो का निर्माण विक्रम की सप्तम शती के पूर्व का और अष्टम शती के बाद का नही है,

ऐसा उनके निरूपित विषयों और परिभाषाओं से ज्ञात होता है। पिछले दो ग्रन्थों में श्वेताम्बरमान्य आगमों और उनकी नियुक्तियों की सकड़ों गाथाएँ संग्रहीत हैं। यहां पर हम सर्वप्रथम "षट्-खण्डागम ! मूलाधार' और 'भगवती आराधना" पर ऊहापोह करके फिर अन्य पठित ग्रन्थों का अवलोकन लिखेंगे।

: २७ :

षट् खण्डागम

❖

षट्-खण्डागम—यह दिगम्बर जैन परम्परा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसके षट्-खण्डो के नाम क्रमश.—(१) जीवस्थान, (२) क्षुद्रबन्ध, (३) बन्धस्वामित्व, (४) वेदनाखण्ड, (५) वर्गणाखण्ड और (६) महाबन्ध हैं। दिगम्बर परम्परा मे प्रथम खण्ड के कर्त्ता पुष्पदन्त और शेष पाच खण्डो के कर्त्ता भूतवलि मुनि माने जाते हैं, जो अर्हद्बलि के शिष्य थे। टीकाकार भट्टारक वीरसेन ने भी पाँच खण्डो के कर्त्ता भूतवलि को ही माना है। परन्तु आगम के सम्पादको ने पिछले पाँच खण्डो के नामो के साथ भी पुष्पदन्त का नाम जोड दिया है। इसका कारण पुष्पदन्त और भूतबलि दोनो ने यह आगम-ज्ञान धरसेन से प्राप्त किया था, ऐसी किंवदन्ती हो सकती है।

सटीक इस सिद्धान्त के पढने से जो विचार हमारे मन मे स्फुरित हुए हैं उनका दिग्दर्शन निम्न प्रकार से है—

अर्हद्वलि के पुष्पदन्त और भूतवलि ये दो शिष्य थे, ऐसा दिगम्बर परम्परा के प्राचीन साहित्य से अथवा शिलालेखो से ज्ञात नही होता। दिगम्बरीय मान्यता के अनुसार यतिवृषभ की मानी जाने वाली "तिलोय-पण्णत्ति" मे ये नाम उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर जैन विद्वान् यतिवृषभ का समय विक्रम की षष्ठ शती मानते हैं, परन्तु हमारे मत से "यतिवृषभ" ऐतिहासिक व्यक्ति हुए ही नही है। "यतिवृषभ" यह नाम धवला टीका के कर्त्ता भट्टारक वीरसेन का एक कल्पित नाम है और उनकी कही जाने

वासी तिलोयपण्णत्ति भी बारहवीं शती के आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती 'माघनन्दी' तथा उनके शिष्य सिद्धान्तचक्रवर्ती 'बालचन्द्र' की कृति है।

षट्-खण्डागम में प्रथम खण्ड से लेकर पंचम खण्ड के दो भागों तक सूत्र दिए गए हैं। तृतीय भाग के प्रारम्भ में थोड़े से सूत्र आये हैं शेष भाग वीरसेन की टीका से भरे हुए हैं। इसके बाद 'महाबन्ध' प्रारम्भ होता है। महाबन्ध में भी सूत्र जैसी कोई वस्तु नहीं है केवल टीकाकार वीरसेनसूरि ने इस बन्ध के विषय को भङ्गोपभङ्ग प्रस्तारों द्वारा पल्लवित करके महाबन्ध को एक खण्ड के रूप में तयार किया है। इसके साथ पुष्पदन्त तथा भूतबलि का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस स्थिति में वीरसेन स्वयं महाबन्ध को 'भट्टारक भूतबलि की रचना' कहते हैं यह आश्चर्य जनक है।

इन आगम-सूत्रों को ध्यानपूर्वक पढ़कर हमने यह निश्चय किया कि ये सूत्र विक्रम की अष्टम शती से परवर्ती समय में बने हुए हैं। इनके भीतर अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो इनका अर्वाचीनत्व सिद्ध करते हैं। स्थविर धरसेन का सत्ता समय और खण्डों के रचनाकाल के बीच कम से कम ५०० वर्षों का अन्तर बताते हैं। इस दशा में आचार्य धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को गिरि नगर में षट्-खण्डागम का ज्ञान दिया।" यह मान्यता किस प्रकार सत्य हो सकती है यह एक गम्भीर और विचार णीय प्रश्न उपस्थित होता है।

हमारी राय में षट्-खण्डागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी स्वयं रहस्यमय पुरुष प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपनी टीकाओं में तथा इनकी अन्तिम प्रशस्तियों में अपने लिए जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं वे अवश्य विचारणीय हैं। "एक खण्ड की टीका में आप अपने को प्रसिद्ध सिद्धान्तों का सूर्य समस्त वैयाकरणों का सिरताज गुणों की खान तार्किकों के चक्रवर्ती प्रवरवादियों में सिंह समान बतलाते हैं। अन्तिम प्रशस्ति में भी आपने इन्हीं विशेषणों को प्राकृत भाषा में परिवर्तित करके प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त प्रशस्ति में आपने अपने को [illegible] तथा

ज्योतिष शास्त्र का वेत्ता भी बताया है।" इतना ही नही, इस महती टीका मे आपने छोटे से छोटे अनुयोग द्वार तथा प्रकरण के प्रारम्भ मे "वण्णइस्सामो, कस्सामो" आदि बहुवचनान्त क्रियाओ का प्रयोग करके अपने महत्त्व का परिचय दिया है। मालूम होता है, टीकाओ का पुनरुक्तियो द्वारा दुगुना तिगुना कलेवर बढाने मे भी उनका महत्त्वाकाक्षीपन ही काम कर गया है, अन्यथा धवला जयधवला टीकाओ मे जो कुछ लिखा है, वह एक चतुर्थांश परिमाण वाले ग्रन्थ मे भी लिखा जा सकता था। इसका आपने कई स्थानो पर बचाव भी किया है कि हमने अतिमुग्ध-बुद्धि-शिष्यो के बोधार्थ यह पुनरुक्ति की है। हमारी राय मे यह बचाव एक बहाना है। एक वस्तु को घुमा-घुमाकर लिखने से तो मुग्ध-बुद्धि मनुष्य उल्टे चक्कर मे पडते हैं। खरी बात तो यह है कि भट्टारकजी को इन ग्रन्थो का कलेवर बढाकर इस तरफ अपने अनुयायियो का मन आकृष्ट करना था और इस कार्य मे आप पूर्णतया सफल भी हुए है।

टीका की प्रशस्ति मे आपने अपने इस निर्माण का समय सूचित करने मे भी जाने-अजाने गोलमाल किया है।
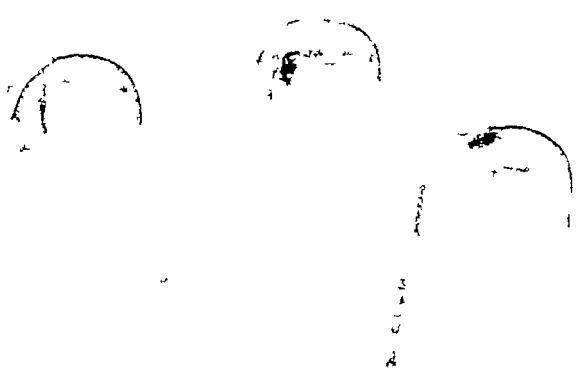
卐 卐

। २८ ।

धवला की प्रशस्ति

सिद्धंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण ।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥
अट्ठत्तीसम्हि सासियविक्कमरायम्हि एयाइ संरंभो ।
पोसे सुतेरसीए, भावविलग्गे धवलपक्खे ॥६॥
जगतुंगदेवरज्जे रि(हि)यम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥७॥
चावम्हि वर (धर) णिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मेंढि चंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥८॥
बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते ।
सिद्धंतगंथमत्थिय-गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥९॥

भट्टारकजी ने प्रशस्ति की ५ से ९ तक की ५ गाथाओं से यह धवला टीका कब लिखी यह बात सूचित की है। परन्तु निर्माण के समय के सूचक 'अट्ठत्तीसम्हि' इन दो शब्दों के अतिरिक्त कोई शब्द नहीं है। 'सासिय' अथवा 'सासियविक्कमरायम्हि' इन शब्दों से भी कोई स्पष्टार्थ नहीं होता। शासक अथवा त्यागी विक्रम राज्य के समय क्या हुआ? इसका कोई फलितार्थ नहीं मिलता। 'अट्ठत्तीसम्हि' से विक्रम का सम्बन्ध नहीं मिलता, क्योंकि दोनों असम्बन्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'जगतुंगदेवरज्जे' और अन्त में 'बोद्दणरायणरिंदे णरिंद चूडामणिम्हि भुंजंते' इस प्रकार दो राजाओं के असम्बन्ध नाम लिखे हैं। "विक्रमराज जगत्तुङ्गदेव और बोद्दणरायनरेन्द्र' इन तीन राजाओं का सम्मेलन करके भट्टारकजी क्या कहना चाहते हैं, इसका तात्पर्य समझ में नहीं आता। प्रशस्ति की गाथाओं

मे मास, पक्ष, तिथि, लग्न और लग्न-कुण्डली स्थित ग्रहो की राशियाँ बताई हैं। इससे इतना जाना जा सकता है कि यह प्रशस्ति विक्रम की दशवी शती अथवा उसके बाद की हो सकती है पहले की नही।

आचार्य वीरसेन ने वेदना-खण्ड की टीका मे दिगम्बर साधुओ के पाँच कुलो के नाम दिए है, वे ये है—"पचस्तूप, गुहावासी, शालमूल, अशोकवाटक और खण्डकेसर।" इसके साथ ही "गरण" तथा "गच्छ" की व्याख्या देते हुए लिखा है—"तिपुरिसओ गणो" "तदुवरि गच्छो" अर्थात् तीन पुरुषो की परम्परा के समुदाय को "गरण" कहते हैं। उसके ऊपर होता है उसे "गच्छ" कहते हैं। भट्टारकजी ने "कुल, गरण और गच्छ" की यह व्याख्या किस ग्रन्थ के आधार से की है यह कहना कठिन है। धवला के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन दिगम्बर जैन ग्रन्थ मे कुलो के इन नामो को हमने नही देखा, न "त्रिपुरुषकगरण" होता है—यह व्याख्या भी हमने कही पढी। दिगम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे "नन्दिगरण, सेनगरण, देवगरण, सिहगरण, देशीयगरणादि" गरणो के नाम मिलते हैं। परन्तु "त्रिपुरुषकगरण" होता है ऐसा कही भी लेख नही मिलता। न "गरणो" के ऊपर "गच्छ" होते हैं, यह बात देखने मे आई। प्रत्युत गरण शब्द ही प्राचीनकाल से साधु-समुदाय के अर्थ मे प्रचलित था। "गच्छ" शब्द तो बाद मे प्रचलित हुआ है। जहाँ तक हमने देखा है, साधु-समुदाय के अर्थ मे "गच्छ" शब्द ग्यारहवी तथा बारहवी शती के ग्रन्थो मे तथा शिलालेखो मे साधु-समुदाय के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। तब भट्टारक वीरसेन गणो के ऊपर गच्छ कहते हैं। इसका क्या वास्तविक अर्थ है, सो विद्वान् विचार करें। हमारी राय मे तो दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन परम्पराओ मे सर्वोपरि सघ होता है और सघ के छोटे विभाग "गरण" होते हैं। गरणो के विभागो को "गच्छ" कहते हैं। श्वेताम्बर परम्परा मे छठी, सातवी शताब्दी से "गच्छ" शब्द साधु-समुदाय के अर्थ मे प्रचलित हुआ है। तब दिगम्बर परम्परा मे तो इसके बहुत पीछे ग्यारहवी, बारहवी शती से "गरणो" मे से "गच्छो" की उत्पत्ति हुई है। इस दशा मे भट्टारकजी वीरसेन का उक्त कुलगण-गच्छो का निरूपण एक रहस्यपूर्ण समस्या बन जाती है।

आधुनिक दिगम्बर विद्वान् भट्टारक वीरसेन स्वामी का सत्तासमय विक्रम की नवमी शती में रखते हैं। तब भट्टारकजी स्वयं धवला टीका में तिलोयपण्णत्ति तिलोयसार आदि ग्रन्थों के नाम निर्देश करते हैं। तिलोयपण्णत्ति बारहवीं शती के पूर्व का सन्दर्भ नहीं है और तिलोयसार' इससे भी अर्वाचीन ग्रन्थ है। इस स्थिति में धवला' में इन ग्रन्थों का नाम निर्देश होना क्या रहस्य रखता है यह प्रश्न विचारकों के लिए एक समस्या बन जाती है। इसके अतिरिक्त धनञ्जयनाममाला' एवं गोम्मटसार की पचासों गाथाओं के उद्धरणों का धवला में मिलना भी कम रहस्यमय नहीं है। एक स्थान पर तो वीरसेन भट्टारकजी ने प्रसिद्ध दिगम्बर न्यायाचार्य भट्टारक प्रभाचन्द्र' का नाम निर्देश भी किया है और सिद्धि-विनिश्चय टीका' का उद्धरण भी दिया है। इन सभी बातों की समस्या दो प्रकार से ही हल हो सकती है एक तो यह कि भट्टारक वीरसेन को ग्यारहवीं शती का माना जाय। दूसरा यह कि इनकी टीकाओं में जिन २ अर्वाचीन ग्रन्थों के अवतरण तथा अर्वाचीन ग्रन्थकारों के नाम आते हैं वे बाद में प्रक्षिप्त हुए माने जायें। इसके अतिरिक्त समन्वय का तीसरा कोई उपाय नहीं है। हमारी राय में आचार्य वीरसेन को नवमी शताब्दी का न मानकर ग्यारहवीं शती का मानने से ही सब बातों का समाधान हो सकता है।

धवला टीका की प्रशस्ति जिसकी चर्चा ऊपर कर आये हैं वीरसेन के समय पर स्पष्ट प्रकाश नहीं डालती न उसमें दिये हुए राजाओं के नामों से ही समय की सिद्धि होती है। यह प्रशस्ति स्वयं उलझी हुई है। इसके भरोसे पर ग्रन्थकार को पूर्वकालीन ठहराना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। धवला के अन्तर्गत दूसरे भी अनेक शब्दप्रयोग ऐसे मिलते हैं कि जिनसे ग्रन्थकार ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं हो सकते।

षट्-खण्डागम के माने जाने वाले सूत्रों को वीरसेन ने 'सूत्र तथा 'चूर्णि' इन दो नामों से निर्दिष्ट किया है। परन्तु हमारी राय में इनको 'चूर्णि' कहना ठीक नहीं बैठता क्योंकि 'चूर्णि' एक प्रकार की टीका मानी गई है और टीका गद्य अथवा पद्यबद्ध ग्रन्थों के ऊपर बनती है।

षट्-खण्डागम के माने गये सूत्र किसी अश मे सूत्र कहे जा सकते हैं, तब कही-कही सूत्र चूर्णि का रूप भी धारण कर लेते है। यह मूल ग्रन्थ का दुरगा रूप स्वाभाविक नही पर कृत्रिम है। हमारी समझ के अनुसार वास्तव मे यह चूर्णी होनी चाहिए, परन्तु बाद मे किसी ने चूर्णी का अग-भग कर सूत्र बना दिए हैं। यह परिवर्तन किसने किया यह कहना तो कठिन है, परन्तु चौथे पाँचवें खण्डो मे कही-कही सूत्रो के रूप मे गाथाएँ दी गई है और उन पर चूर्णि न होकर वीरसेन की सीधी धवला टीका बनी है।

कपाय पाहुड की गाथाओ के कर्त्ता का नाम 'गुणधर" लिखा है और उसकी चूर्णि के कर्त्ता का नाम "यतिवृषभ"। हमारी राय मे ये दोनो नाम भट्टारकजी की कृति है। असत् को सत् बनाने मे भट्टारक वीरसेन एक सिद्धहस्त कलाकार मालूम होते हैं। "जयधवला" वाली चूर्णि के प्रारम्भ मे दो मगलाचरण की गाथाएँ दी हैं, उनमे "यतिवृषभ" नाम आता है, जिसे "यतिवृषभ" नामक आचार्य मानकर चूर्णि को उनके नाम पर चढा दिया है। यही चूर्णि टीका के बिना छपी है। उसमे न मगल गाथाएँ हैं, न "यतिवृपभ" का उल्लेख है। इससे प्रमाणित होता है कि "जयधवला वाली चूर्णी' मे वीरसेन ने अपना परिचय मात्र दिया है।

अपनी टीका मे स्थान-स्थान पर "जईवसहायरिओ" उल्लेख कर भट्टारकजी ने यति वृषभाचार्य को मूर्तिमन्त बना दिया है। इसी प्रकार कषायपाहुड की गाथाओ मे कही भी कर्ता का नाम निर्देश नही है, तथापि वीरसेन ने अपनी टीका मे "गुणहर भडारओ" इत्यादि स्थान-स्थान पर निर्देशो द्वारा "गुणधर भट्टारक" को भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति बना दिया है।

षट्-खण्डागम के चूर्णि सूत्र, कपाय पाहुड के चूर्णि सूत्र और इन दोनो पर की वीरसेन की टीकाओ की प्राकृत भापा एक है। फरक इतना ही है कि टीकाओ मे कही-कही सस्कृत पद अथवा वाक्य दिए गए हैं, तब चूर्णियो मे यह बात नही है। प्राकृत भापा न पूरी शौरसेनी है, न मागधी

और न प्राकृत । इसमें शौरसेनी का एक ही लक्षण मजबूत पकड़े रखा है कि "त" को द बनाना । मागधी का लक्षण एक ही पकड़ा है कि तो के "त" को "ड बनाना । बाकी प्राकृत प्रयोग भी अधिकांश अलाक्षणिक ही हैं जैसे– सुद्दावन्ध नामागोद मीचागोद रहस्स सभवरण' इत्यादि सैकड़ों ऐसे अलाक्षणिक शब्द हैं जो प्राकृत व्याकरण से सिद्ध नहीं हो सकते । इन अलाक्षणिक शब्दों को लाक्षणिक बनाने की इच्छा प्राकृत शब्दानुशासनकार–श्री त्रिविक्रमदेव' को हुई थी और प्रारम्भ में उन्होंने लिखा भी था कि 'वीरसेन आदि प्रयुक्त शब्दों को सिद्ध करने की भी मेरी इच्छा है । पर बाद में शब्दानुशासन की समाप्ति तक देखा तो वीरसेन अथवा उनके द्वारा प्रयोग में लाए गए प्राकृत शब्दों की सिद्धि कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुई । मालूम होता है कि त्रिविक्रम देव को भट्टारकजी के अलाक्षणिक शब्दों को लाक्षणिक बनाने का कार्य असम्भव प्रतीत हुआ होगा । इसी से उन्होंने अपने व्याकरण में कहीं उल्लेख तक नहीं किया ।

भट्टारकजी अपनी भाषा की अलाक्षणिकता जानते थे इसी से इन्होंने एक स्थान पर प्राकृतव्याकरण के नाम से अर्धपद्य के रूप में एक बॉम फेंका कि 'प्राकृत में ए, ऐ आदि सन्ध्यक्षरों के स्थान में आ ई आदि अक्षर परस्पर एक दूसरे के स्थान में हो जाते है ।

आपकी होशियारी का पार ही नहीं आता स्थान-स्थान पर केवि आयरिया आयरियोवदेसेण महावाचक-खमासमणा' आदि साक्षी के रूप में तुक्का भर देते हैं, पर नाम न देने की तो प्रतिज्ञा ही कर रखी है । हम तो इसका अर्थ यही समझते हैं कि भट्टारकजी के पास एकाध गणित का कोई अच्छा ग्रन्थ होगा और एक दो भंग-प्रस्तारों के कर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ उनके आधारों से यह टीका ग्रन्थ–जिसे टीका न कहकर 'महाभाष्य' कहना चाहिये बना हुआ है । कुछ भी हो परन्तु दिगम्बर जैन परम्परा के लिये तो वीरसेन एक वरदेव हैं जिन्होंने 'कर्म-सिद्धान्त-विषयक–धवला तथा जयधवला' दो टीकाएँ बनाकर दिगम्बर जैन समाज को उन्नतमस्तक कर दिया है ।

卐 卐

: २६ :

मूलाचार-सटीक

"मूलाचार" ग्रन्थ प्राकृत गाथावद्ध १२ अधिकारो मे पूरा किया गया है। वारह अधिकारो के नाम तथा गाथासख्या निम्न प्रकार से है—

(१) मूलगुणाधिकार
(२) वृहत्प्रत्याख्यान-सस्तर-स्तवाधिकार
(३) सक्षेप-प्रत्याख्यानाधिकार
(४) सामाचाराधिकार
(५) पचाचाराधिकार
(६) पिण्डशुद्धि-अधिकार
(७) षडावश्यकाधिकार
(८) द्वादशानुप्रेक्षाधिकार
(९) अनगार-भावनाधिकार
(१०) समय-साराधिकार
(११) शील-गुणाधिकार
(१२) पर्याप्त्यधिकार

ऊपर लिखे अनुसार वारह अधिकारो मे क्रमश: ३६–७१–१४–७७–२२२–८३–१९३–७६–१२५–१२४–२६–२०६ गाथा सख्या है, जो सम्मिलित सख्या १२३० होती है। इसके कर्त्ता "वट्टकेर" अथवा "वट्टकेरल" वताये जाते हैं। इस ग्रन्थ पर टीकाकार सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य वसुनन्दी हैं। इनका सत्तासमय ज्ञात नही है, फिर भी इनके कतिपय उल्लेखो से ये धारणा से भी अधिक अर्वाचीन प्रतीत होते हैं।

पापश्रुत का निरूपण करते हुए इन्होंने 'वात्स्यायन' शास्त्र के साथ 'कोकशास्त्र' का भी नाम निर्देश किया है जो इनकी अर्वाचीनता प्रमाणित करता है। वसुनन्दि की सिद्धान्तचक्रवर्ती' इस उपाधि के अनुसार ये "कर्मग्रन्थ" तथा 'त्रिलोयपण्णत्ति के विषय के अच्छे जानकार मालूम होते हैं। अधिकार ११–१२ की टीका में इन्होंने जो विद्वत्ता दिखाई है–इससे इनके सिद्धान्त-चक्रवर्तित्व का आभास मिलता है परन्तु शेष सब अधिकारों की संख्या में इन्होंने कमजोरी ही नहीं अनभिज्ञता तक दिखाई है। इसके दो कारण ज्ञात होते हैं—एक तो यह कि इस ग्रन्थ पर वसुनन्दि के पूर्व की बनी हुई कोई टीका नहीं थी और दूसरा यह कि यह ग्रन्थ खासकर श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ 'आवश्यक-निर्युक्ति, दश वैकालिक सूत्र' आदि के आधार पर संग्रहीत किया गया है और वसुनन्दि के पास न उक्त श्वेताम्बर ग्रन्थ थे न श्वेताम्बर परम्परा की आचार विषयक परिभाषाओं का ज्ञान। इसलिये कई स्थानों पर बिना समझे ही मूल ग्रन्थ की बातों को गुड़गोबर कर दिया है। सबसे अधिक इन्होंने षडावश्यकाधिकार" में अपनी अनभिज्ञता प्रकाशित की है। अन्य स्थानों पर भी जहाँ कहीं श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों की गाथाओं की व्याख्या की है वहाँ कुछ न कुछ भूल की ही है। उदाहरण के लिए-पंचाचाराधिकार की ८०वीं गाथा श्वेताम्बरीय आवश्यक-निर्युक्ति की है। इसमें गणधर प्रत्येकबुद्ध श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वधर स्थविर की रचना को ('सूत्र' के नाम से व्यवहार करने का कहा है। इसके चतुर्थ चरण में ('अभिण्णदसपुब्विकथिदं च' इसकी व्याख्या करते हुए अभिन्न दश पूर्व" का अर्थ करते हुए आप कहते हैं–'अभिन्नानि रागादिभिरपरिणतानि दश पूर्वाणि' अर्थात्–'रागादि से अपरिणत दश पूर्व ऐसा अर्थ लगाया है। परन्तु वास्तव में इसका अर्थ होता है– सम्पूर्ण दशपूर्व और एसे सम्पूर्ण दश पूर्वों के जानने वाले श्रुतधर की कृति को सूत्र' माना गया है। यह तो एक मात्र उदाहरण बताया है वास्तव में इस प्रकार की साधारण भूलें अगणित हैं।

आचार्य वसुनन्दी ने इस टीका में अपना विशेष परिचय नहीं दिया। अन्त में एक पद्य में इस मूलाचार की वृत्ति का 'वसुनन्दी वृत्ति' के नाम से

परिचय कराया है। यह पद्य यदि वसुनन्दी का खुद का भी हो तब भी इससे इनका तथा इनके समय का कोई परिचय नही मिलता। इनके "वसुनन्दिश्रावकाचार, प्रतिष्ठासार" आदि ग्रन्थो मे भी इन्होने अपना परिचय नही दिया, ऐसा स्मरण है।

मूलाचार के कर्त्ता का नाम "वट्टकेराचार्य, वट्टेरकाचार्य अथवा वट्टकेरलाचार्य ?"—

प्रस्तुत मुद्रित सटीक ग्रन्थ के सम्पादक ने एक दो स्थान पर "वट्टेर-काचार्य", तब अन्य स्थानो मे "वट्टकेराचार्य" लिखा है। वसुनन्दी ने टीका के उपक्रम मे इनका नाम "वट्टकेरलाचार्य" लिखा है। इन भिन्न-भिन्न नामोल्लेखो का होना हमारी राय मे इस ग्रन्थ के कर्त्ता के नाम का बनावटीपन साबित करता है। इस बात के समर्थन मे अन्य भी कई कारण हैं। प्रथम तो दिगम्बरीय शिलालेखो मे यह नाम कही भी दृष्टिगोचर नही होता। ग्रन्थ-प्रशस्तियो मे भी इनका नाम कही लिखा नही मिलता। भट्टारकीय प्रशस्तियो मे भी किसी भी लेखक ने नही लिखा, ऐसा हमारा ध्यान है। आचार्य श्रुतसागर १६वी शताब्दी के दिगम्बर विद्वान् थे। आचार्य वसुनन्दी भी श्रुतसागर से दो तीन शताब्दियो से अधिक पूर्ववर्ती नही हैं। मूलाचार के भिन्न-भिन्न अधिकारो मे आने वाले अनेक ऐसे शब्द-प्रयोग है जो विक्रम की १२वी शताब्दी के किसी ग्रन्थ मे प्रयुक्त हुए दृष्टिगोचर नही होते। मूलाचार ग्रन्थ के अधिकारो की योजना भी इस वेढबी से की गई है कि यह ग्रन्थ एक मौलिक ग्रन्थ नही पर सग्रहग्रन्थ प्रतीत होता है। ग्रन्थ की प्राकृत भाषा भी दिगम्बरीय शौरसेनी है, जो १२वी शताब्दी से प्राचीन नही। छन्दोभग जैसी भूलो को ध्यान मे न भी लें तो भी व्याकरण सम्बन्धी ऐसी अनेक अशुद्धियाँ हैं जो दिगम्बरीय प्राचीन साहित्य मे नही देखी जाती। परन्तु बारहवी तेरहवी शती और इसके बाद के ग्रन्थो मे इनकी भरमार है। सग्रहकार ने शताधिक गाथाएँ श्वेताम्बर ग्रन्थो से लेकर इसमे रख दी हैं। केवल 'त' 'य' के स्थान पर दिगम्बरीय शौरसेनी का 'द' बना दिया है। नमूने के रूप मे कुछ गाथाओ के अङ्क हम नीचे उद्धृत करते है—

मूला०	पंचाचाराधिकार	गाथा नं०	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	
	सामाचाराधिकार	१२४	आ० नि० ६६७	पृ० २५८
"		१३२	६८४	२६१
"	"	१३३	६८८	२८४
"	पचाचाराधिकार	१६५	१४१८	७६४
	षडावश्काधिकार	३	९१८	३८७
		४	९२२	४०६
"	"	५	९५३	४३८
	"	९	९८४	४४८
"	"	१०	९९७	४४९
"	"	११	१००२	४४९
"	"	१६	८९	६२
"	"	२४	७९७	३२९
"		२५	७९८	३२९
"	"	३३	७९९	३२९
"		३६	१२४६	५६३
"	"	४३	१०५८	४९६
"	"	५५	१०५९	४९६
		५६	१०६०	४९७
"		५८	१ ६२	४९७
"		५९	१०६१	४९७
"	"	६२	१०६६	४९८
"		६३	१ ६९	४९८
"	"	६४	१ ७६	५००
"	"	६५	९२१	४९६
		६६	१ ७७	५००
	"	६७	१०७९	५ ०
		६८	१०९३	५ ८
"		६९	१ ९४	५ ८

मूला०	षडावश्यकाधिकार	गाथा	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	पृष्ठ
,,	,,	७०	१०६५	५०८
,,	,,	७१	१०६६	५०६
,,	,,	७२	१०६७	५०६
,,		७८	अवश्य सूत्र	५११
,,	,,	७६	आ नि ११०२	५११
,,	,,	८०	११०३	५११
,,	,,	६३	११६७	५४१
,,	,,	६४	११६५	५४०
,,	,,	६५	११०५	५१६
,,	,,	६६	११०६	५१६
,,	,,	६८	११०७	५१६
,,	,,	१००	११०८	५४१
,,	,,	१०१	११६६	५४१
,,	,,	१०२	५४१	
,,	,,	१०३	१२०१	५४२
,,	,,	१०४	१२०२	५४३
,,	,,	१०६	१२०७	५४३
,,	,,	१०७	१२०८	५४४
,,	,,	१०८	१२०६	५४४
,,	,,	१०६	१२१०	५४४
,,	,,	११०	१२११	५४४
,,	,,	१११	१२१२	५४४
,,	,,	११३	१२२५	५४६
,,	,,	११५	१२३४	५५२
,,	,,	११६	१२४८	६६३
,,	,,	११७	१२३१	५५१
,,	,,	११८	१२३२	५५१
,,	,,	१२०	१२५०	५६४

मूला०	षडावश्यकाधिकार	गाथा	श्वेताम्बर आवश्यक नि०	पृष्ठ
,,		१२६	१२४४	५६३
,	,	१३०	१२४५	५६१
,,		१३६	१५५५	८०३
	,,	१३६	१५६३	८४०
,		१४०	१५६४	८४०
,	,,	१४१	१५६५	८४०
,,	,	१५१	१४४७	७७०
		१५५	१४६०	७८०
,		१५६	१४५८	७७२
		१६०	१५३०	७६५
,,		१६१	१५३१	७६५
		१६२	१५३८	७६५
,,		१६६	१५५१	८०१
,	,,	१७१	१५४६	७६
		१७२	१५४७	७६८
		१७४	१५४१	७६७
,,		१७५	२३५	७६७
,,		१७७	१४७६	७७६
,,		१७८	१४८६	७७६
,,		१७६	१४६०	७७६
,,		१८	१४६२	७७६
,,	,,	१८६	७२२	२७२
,,	,,	१८७	१२२	२६७
,,	,,	१६०	१२१	२६६
,,	समयसाराधिकार	८		
		१२१	दशवैकालिक ७	
,,	,,	१२२	दश० ८	
		१२३	दश०	

मूला०	शीलगुणाधिकार	गाथा १६	छेद सूत्र
,,	पर्याप्त्यधिकार	१०७	आ० सू० ४६ पृ० ३६

उपर्युक्त गाथाओ मे वर्णभेद तो सर्वत्र किया ही है, परन्तु कही कहीं दिगम्बर परम्परा की मान्यता के अनुकूल बनाने के लिए शाब्दिक परिवर्तन भी किया है। इनके अतिरिक्त अनेक गाथाओ के चरण तथा गाथार्ध तो सैकडो की सख्या मे दृष्टिगोचर होते है। पचाचाराधिकारादि मे भगवती आराधना की कतिपय गाथाएँ भी ज्यो की त्यो उपलब्ध होती है। भगवती आराधना यापनीय सघ के विद्वान् मुनि शिवार्य की कृति है, इसी तरह दिगम्बर ग्रन्थो की गाथाओ का भी अनुसरण किया गया है। इन सब बातो का विचार कर हमने यह मत स्थिर किया है कि मूलाचार न कुन्द-कुन्दाचार्य की कृति है, न वट्टकेर, वट्टेरक अथवा वट्टकेरल नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं। मूलाचार यह सग्रह ग्रन्थ है। इसके सग्राहक यापनीय अथवा अज्ञातनामा कोई दिगम्बर विद्वान् होने चाहिए।

भगवती आराधना :

भगवती आराधना का सविस्तार अवलोकन "श्रमण भगवान् महावीर" पुस्तक के "स्थविरकल्प और जिनकल्प" नामक परिशिष्ट मे दिया गया है, जिज्ञासु पाठक वही से जान लें।

। ३० ।

पच-सग्रह ग्रन्थ

❖

१ आवश्यक सूचन ।

प्रथम पच-सग्रह जो भाषान्तर के साथ मुद्रित है करीब २५०० श्लोक परिमाण है। इसके पाँचों प्रकरणों के नाम क्रमश: नीचे लिखे अनुसार हैं—

१ जीव-समास—गाथा २०६
२ प्रकृति-समुत्कीर्तन—गाथा १२ शेष गद्यभाग
३ कर्म-स्तव—गा० ७७
४ शतक—गा० कुल १२२ मूल गाथा १०५
५ सप्ततिका—गाथा कुल १०७ मूल गाथा ७२

यह ग्रन्थ भाषान्तर के साथ ५३१ पेजों में पूरा हुआ है।

२ प्राकृत वृत्ति सहित पंच-सग्रह ।

श्रुतवृक्ष का निरूपण उपोद्घात में गाथा ४३ जिसमें अंग उपांग पूर्वश्रुत व विवरण के साथ सब की पदसख्या दी है।

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन—गाथा १६
२ कर्म-स्तव—गाथा ८८ ६ गाथाएँ इसी विषय की प्रसग अंक वाली हैं।
३ जीवसमास—गा० १७६ यह ग्रन्थ ५४ से ६६२ तक के १२२ पृष्ठों में पूरा हुआ है।
४ शतक—गा० १३६ अन्त में मङ्गलाचरण की दो गाथाएँ।
५ लघुसित्तरी सप्तति—गाथा ६६,

इस प्राकृत टीका वाले पंच-संग्रह के कर्ता पद्मनन्दी नामक आचार्य हैं और टीका भी इनकी स्वोपज्ञ प्रतीत होती है।

३. संस्कृत पद्यबद्ध पंच-सग्रह :

प्राग्वाट वणिक् जाति के विद्वान् श्रीपालसुत डड्ड की कृति है। इसके पाच प्रकरणो के नाम इस प्रकार हैं—

१. जीव-समास—श्लोक २५७
२. प्रकृति-समुकीर्तन—श्लो० ४४
३ कर्म-स्तव—श्लो० ९०
४ शतक—श्लो० ३३९
५. सत्तरि—श्लो० ४२८
६ सप्ततिका चूलिका ८५

४ पंच-संग्रह संस्कृत आचार्य अमितगति कृत :

१ बधक—श्लोक ३५३
२ बध्यमान—श्लोक प्रकृति-स्तव मे ४८
३ बध-स्वामित्व—श्लोक कर्म-बन्ध-स्तव १०६
४. बधकारण—३७५ श्लोको के बाद शतक समाप्त ऐसा उल्लेख किया है,
५ बध भेद— परन्तु अगले प्रकरण का गाथाक भिन्न नही दिया है किन्तु ७७९ श्लोको के बाद "इति मोहपाकस्थानप्ररूपणा समाप्ता" यह लिखकर आगे गुणेषु मोहसत्त्वस्थानानि आह—यह लिखकर नये अङ्क के साथ प्रकरण शुरु किया है और बीच मे भिन्न-भिन्न शीर्षक देकर कुल ७९ श्लोक पूरे करके "सप्ततिकाप्रकरण समाप्तम्" लिखा है।

शतक, सप्ततिका इन दोनो प्रकरणो की समाप्ति के उल्लेखो मे इनके नाम आये हैं, मूल श्लोको मे नही। परन्तु इन दो प्रकरणो मे दृष्टिवाद का नामनिर्देश श्लोको मे हुआ है।

इसके वाद सामान्य विशेष रूप से बन्ध-स्वामित्व का निरूपण है, जो भिन्न-भिन्न शीर्षको के नीचे ९० श्लोको मे पूरा किया है। बीच मे गद्य भाग मे भी विवरण किया है। ग्रन्थकार की प्रशस्ति से जाना जाता है कि १०७३ विक्रम मे यह ग्रन्थ पूरा किया है।

卐 卐

: ३१ :

कर्ता अकलंक देव

अकलंक-ग्रन्थत्रय

❖

लघीयस्त्रय ग्रन्थ में प्रथम प्रमाण प्रवेश नय प्रवेश तथा प्रवचन प्रवेश आदि प्रकरण हैं।

नय-प्रवेश की ३३वीं कारिका के उपक्रम में पुरुषाद्वैतवाद का उल्लेख करके पुरुष को मिलतम तत्त्व और जीवादि पदार्थों को उपप्लव कहा गया है। वास्तव में यह हकीकत वेदान्तवाद की है। आगे कारिका ३८वीं में स्पष्ट रूप से ब्रह्मवाद का निर्देश मिलता है—

'संग्रहः सर्वभेदैक्य–मभिप्रैति सदात्मना।
ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृते' ॥३८॥ इत्यादि।

आगे प्रवचन प्रवेश की ६१वीं कारिका में भी—

सद्भेदात्समस्तैक्य–सग्रहात् संग्रहो नयः।
दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवाप्तितः ॥६१॥'

ब्रह्मवाद को दुर्नय कहा गया है।

अकलंक देव के उपर्युक्त निरूपणों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका लघीयस्त्रय ग्रन्थ शंकराचार्य का ब्रह्मवाद प्रचलित होने के बाद निर्मित हुआ है। अन्य विद्वानों का यह मन्तव्य है कि लघीयस्त्रय अकलंक देव का प्रारम्भिक ग्रन्थ है। पर हम इस मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। हमारी राय में यह लघीयस्त्रय ग्रन्थ अकलंकदेव ने पिछली अवस्था में इस विचार से रचा है कि स्याद्वाद के अभ्यासी विद्यार्थी इन लघु ग्रन्थों में प्रवेश कर स्याद्वाद के आकर ग्रन्थों में सुगमता से प्रवेश कर सकें।

卐 卐

: ३२ :

प्रमाण-संग्रह

कर्ता : अकलंक देव

❖

प्रमाण-सग्रह भी इसो कोटि का ग्रन्थ है। इसमे ग्रन्थकर्त्ता ने सिद्धसेन, देवनन्दि और समन्तभद्र के नामो का सूचन किया है। इसके अतिरिक्त इसमे नयचक्र ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

卐 卐

कर्ता श्री विद्यानन्दी

: ३३ :

श्री तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक

तत्त्वार्थसूत्र पर रची गयी अनेक टीकाओं में से विक्रमीय एकादशवीं शताब्दी के पूर्वार्ध जात आचार्य विद्यानन्दी की 'तत्त्वार्थसूत्र श्लोकवार्तिकालंकार' का तीसरा नम्बर है। यह टीका भाष्य के रूप में लिखी गई है। तत्त्वार्थ के मूल सूत्रों का विवरण लिखने के बाद उसी का सार प्राय: कारिकाओं में दिया गया है।

टीका ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग प्रथम अध्याय के पांच आह्निकों में पूरा किया है। शेष टीका ग्रन्थ दूसरे अध्याय के तीन आह्निकों और शेष आठ अध्यायों के दो दो आह्निक कल्पित करके पूरा किया है।

टीकाकार ने अपनी टीका में पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों तथा विद्वानों का नाम निर्देश किया है।

जैन विद्वानों के नामों में समन्तभद्र का नाम निर्देश मात्र है। तब अकलंकदेव कुमारनन्दी श्रीदत्त के नाम वादी के रूप में उल्लिखित हैं। आश्चर्य है देवनन्दी सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्ता माने जाते हैं परन्तु ग्रन्थ भर में देवनन्दी का नाम निर्देश कहीं नहीं मिलता। अकलंकदेव ने 'सिद्धिविनिश्चय' की एक कारिका में सिद्धसेन तथा समन्तभद्र नामों के साथ देवनन्दी का भी नाम निर्दिष्ट किया है। परन्तु तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी देवनन्दी का उल्लेख नहीं है।

जैनेतर विद्वानों में से टीकाकार ने उद्योतकर, शबर भर्तृहरि, वराहमिहिर प्रभाकर भट्ट धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर गुप्त आदि के अनेक बार नाम निर्देश किये हैं।

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ मे अनेक वादों की चर्चा कर उनका खण्डन किया है। स्फोटवाद का तो बहुत ही विस्तार के साथ निराकरण किया है। इतना ही नही किन्तु सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक शाब्दिको की चार भाषाओं की चर्चा करके उनका खण्डन किया है।

बौद्धो के अन्यापोहवाद की काफी चर्चा करके उसका खण्डन किया है।

वादी-प्रतिवादी के शास्त्रार्थ सभा का निरूपण तथा उनके जय, पराजय के कारणों का विशद वर्णन किया है।

केवली के कवलाहार मानने वालो को दर्शनमोहनीय कर्म बांधने वाला माना है। परन्तु स्त्री उसी भव मे मोक्ष पा नही सकती इसकी चर्चा कही नही दीखती।

: २४ :

आप्त-परीक्षा और पत्र-परीक्षा

❖

कर्ता श्री विद्यानन्दी

आचार्य विद्यानन्दी ने आप्तपरीक्षा में १२४ कारिकाओं तथा टीका में आप्त पुरुष की चर्चा की है। इस ग्रन्थ में जैन जैनेतर विद्वानों के नाम निर्देश निम्न प्रकार से हुए हैं—

समन्तभद्र अकलंकदेव शंकर, प्रशस्तकर (वेदान्त) और भट्ट प्रभाकर आदि के नाम उल्लिखित हैं।

देवागमालंकृतौ तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्दमहोदये च विस्तरतो निर्णीतं प्रतिपत्तव्यं। इस प्रकार आप्तपरीक्षा में अपने लिये उल्लेख किया है इसी प्रकार तत्त्वार्थवार्तिकालंकार में भी दो एक जगह विद्यानन्दमहोदय शब्द का उल्लेख करके अपने अन्य ग्रन्थ की गर्भित सूचना की है।

पत्र-परीक्षा में भी अन्य नामनिर्देशों के अतिरिक्त कुमारनन्दी भट्टारक की तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं। पत्र-परीक्षा में शास्त्रार्थ के लिए पत्रावलम्बन किये जाते थे। उन पत्रों के स्वरूप तथा पत्रावलम्बनादि वाक्यों का स्वरूप लिखा है।

: ३५ :

कर्ता : समन्तभद्र

आप्त-मीमांसा

वृत्ति–वसुनन्दि, अष्टशती-अकलंक

आप्तमीमासा की मूल कारिकायें ११५ है, जो "देवागम नभोयान-चामरादिविभूतय." इस पद्य से शुरु होती हैं। मीमासा मे आचार्य ने आप्त-पुरुप की विस्तृत विचारणा की है और उनके सिद्धान्त प्रमाण नय आदि का समर्थन किया है। साथ-साथ अन्यान्य दार्शनिक मन्तव्यो का निरसन भी किया है।

मूल कृति मे कर्ता ने अपना नाम सूचन नही किया है, फिर भी टीकाकारो ने इसका कर्त्ता समन्तभद्र माना है और उन्हे सबहुमान वन्दन किया है।

टीकाकार वसुनन्दी ने आचार्य कुलभूषण को नमस्कार कर टीका का प्रारम्भ किया है और अकलक ने समन्तभद्र को ही नमस्कार कर मीमासा को शुरु किया है।

"अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो०" इस कारिका के विवरण मे अकलक ने ब्रह्म-प्राप्ति के सम्बन्ध मे उल्लेख किया है।

श्री वसुनन्दि ने अपनी टीका मे धर्म-कीर्ति, मस्करि पूरण का भी उल्लेख किया है।

श्री समन्तभद्र का समय इतिहासवेत्ताओ की दृष्टि मे ईसा की छठी शताब्दी तथा पट्टावली के अनुसार दूसरी शताब्दी का प्रारम्भिक काल है, ऐसा सम्पादक ने प्रस्तावना मे उल्लेख किया है।

हमारी राय मे आचार्य समन्तभद्र विक्रमीय पचम शताव्दी के पूर्ववर्ती नही हो सकते।

卐 卐

: ३६ :

प्रमाण-परीक्षा

ले० : विद्यानन्दी

प्रमाण-परीक्षा में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के मान्य प्रमाणों की चर्चा करके सत्य ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया है। इस परीक्षा में ग्रन्थकार ने भट्टारक कुमारनन्दि, अकलंकदेव आदि आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं और न्यायवार्तिककार उद्योतकर, बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर, समन्तभद्र, शाबर भाष्य, प्रभाकर, भट्ट, बृहस्पति, कणाद आदि ग्रन्थकारों के भी उल्लेख किये हैं।

आचार्य विद्यानन्द ने कुमारनन्दी के नाम के साथ दो स्थानों पर भट्टारक शब्द का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि विद्यानन्द के समय में "भट्टारक' युग आरम्भ हो चुका था।

卐 卐

: ३७ :

प्रमेयकमलमार्तण्ड

कर्ता : प्रभाचन्द्र

इस ग्रन्थ मे कुल छ परिच्छेद है—१, प्रमाणपरिच्छेद, २ प्रत्यक्ष-प्रमाणपरिच्छेद, ३. परोक्षप्रमाणपरिच्छेद, ४. प्रमाण-विषय-फल निरूपण परिच्छेद, ५ प्रमाणाभास परिच्छेद, ६, नय-नयाभासाधिकार परिच्छेद। लेखक की शैली प्रौढ है। खण्डनात्मक पद्धति से भिन्न-भिन्न विषयो का निरूपण कर लगभग बारह हजार श्लोक प्रमाणात्मक यह ग्रन्थ निर्मिन किया है।

यद्यपि ग्रन्थ मे ऐतिहासिक सूचनो का सग्रह विशेष नही है, फिर भी कुछ उल्लेखनीय बातें अवश्य है, जो नीचे सूचित की जाती हैं—

"प्रमेयकमलमार्तण्ड" माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख सूत्रो पर विस्तृत भाष्यात्मक टीका है। माणिक्यनन्दी का सत्ता-समय सम्पादक वशीधरजी शास्त्री ने विक्रम सवत् ५६९ होना बताया है, जो दन्तकथा से वढकर नही। हमारी राय मे माणिक्यनन्दी विक्रम की दशवी तथा ग्यारहवी शती के मध्यभाग के व्यक्ति हैं। ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजराजा के शासनकाल मे विद्यमान थे। इससे निश्चित होता है कि इनका सत्ता-समय ग्यारहवी शताब्दी का मध्यभाग अथवा उत्तरार्ध होना चाहिए।

चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के त्रिलोकसार ग्रन्थ की कतिपय गाथाएँ प्रभाचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ मे उद्धृत की हैं। त्रिलोकसार का रचनासमय विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इससे सुतरा सिद्ध है कि प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड की रचना विक्रमीय

एकादशी सदी के तृतीय अथवा चतुर्थ चरण की मानी जा सकती है। सम्पादक वंशीधरजी शास्त्री के मत से विक्रम संवत् १०६० से ११११ तक का होना निश्चित है।

प्रथम परिच्छेद में ग्रन्थकार ने सूक्ष्मा अनुपश्यन्ती मध्यमा और वैखरी इन चार भाषाओं का संक्षेप में स्वरूप बतलाया है।

द्वितीय परिच्छेद के अन्त में लेखक ने केवली-कवलाहार का खण्डन किया है और स्त्रीनिर्वाण का भी सविस्तार खण्डन किया है। साथ में सवस्त्र निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता और नैर्ग्रन्थ्य बिना मुक्ति नहीं हो सकती, इन दो विषयों के सम्बन्ध में लिखी गई युक्तियों में ऐसी कोई भी युक्ति या तर्क दृष्टिगोचर नहीं होता जो इनकी मान्यता को सिद्ध कर सके।

तृतीय परिच्छेद में बौद्धों के अपोह-सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। शब्दाद्वैतवादियों के स्फोट के सम्बन्ध में प्रतिपादन तथा लौकिक वैदिक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में जैनों का मन्तव्य प्रतिपादित किया है।

अन्तिम प्रशस्ति में ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दी को गुरु के रूप में याद किया है और अपने को पद्मनन्दि सैद्धान्तिक का शिष्य और श्री रत्ननन्दि का पदस्थित बताया है। धाराधीश भोजराज के राज्यकाल में माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्रों पर यह विवरण समाप्त करने का ग्रन्थकार ने सूचन किया है।

: ३८ :

भद्रबाहु-संहिता

भद्रबाहुसहिता का प्रथम भाग पढने से ज्ञात हुआ कि यह ग्रन्थ बहुत ही अर्वाचीन है। मुनि जिनविजयजी इसे बारहवीं तेरहवीं शताब्दी का होने का अनुमान करते हैं, परन्तु यह ग्रन्थ पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व का नही हो सकता। इसकी भाषा बिल्कुल सरल और हल्की कोटि की सस्कृत है। रचना मे अनेक प्रकार की विषय सम्बन्धी तथा छन्दो-विषयक अशुद्धिया बताती हैं कि इसको बनाने वाला मध्यम दर्जे का भी विद्वान् नही था। "सोरठ" जैसे शब्दप्रयोगो से भी इसका लेखक पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शती का ज्ञात होता है। इसके सम्पादक श्री नेमिचन्द्रजी इसे अष्टमी शताब्दी की कृति अनुमान करते है, परन्तु यह अनुमान केवल निराधार ही है।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुखतार ने इसे सत्रहवी शती के एक भट्टारकजी के समय की कृति बतलाया है, जो हमारी सम्मति मे ठीक मालूम होता है।

: ३६ :

हरिवंश पुराण और इसके कर्ता आचार्य जिनसेन

•

(१) कथावस्तु का आधार : : :

प्रस्तुत पुराण के सम्पादक पण्डित श्री पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य का अभिप्राय है कि "हरिवंश-पुराण" का कथावस्तु जिनसेन को अपने गुरु "कीर्तिषेणसूरि" से प्राप्त हुआ होगा परन्तु यह अभिप्राय यथार्थ नहीं है। सामान्य रूप से 'हरिवंश-पुराण' का विषय "महापुराण और त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्रों' के अन्तर्गत "नेमिनाथ चरित्र" और 'कृष्ण वासुदेव' आदि के चरित्रों के प्रसंगों पर तो आता ही है परन्तु जिनसेन ने हरिवंश" की उत्पत्ति के प्रारम्भ से ही 'वसुदेवहिण्डी' के नाम से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध 'वसुदेव-चरित" के आधार से ही सब प्रसंगों को लिखा है। "वसुदेव-हिण्डी के प्रथम काण्ड' से तो अनेक वृत्तान्त लिये ही हैं, परन्तु मध्यम काण्ड' के आधार से भी अनेक प्रकार के तथ्यों का निरूपण किया है जो अधिकांश श्वेताम्बरमान्य आगमों में भी प्रतिपादित हैं।

पुराणकार ने पुराण के प्रथम सर्ग में निम्नोद्धृत श्लोकों में पुराण का विषय निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है—

> "लोकसंस्थानमत्रादौ राजवंशोद्भवस्ततः ।
> हरिवंशावतारोऽतो वसुदेवविचेष्टितम् ॥७१॥
> चरितं नेमिनाथस्य द्वारवत्या निवेशनम् ।
> युद्धवर्णन-निर्वाणे पुराणेऽष्टौ शुभा इमे ॥७२॥

अर्थात्—"तीन लोक का आकार प्रथम बताकर फिर राजवशोत्पत्ति; उसके बाद हरिवशोत्पत्ति, वसुदेव का भ्रमण, नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका नगरी का निर्माण, युद्ध का वर्णन और नेमिनाथ आदि का निर्वाण, ये आठ अर्थाधिकार इस पुराण मे कहे जायेंगे। ७१। ७२।'

लेखक ने सर्वप्रथम तीन लोको का जो निरूपण किया है वह जैन-शास्त्रोक्त है। शेष अर्थाधिकार राजवशोत्पत्ति, हरिवशोत्पत्ति, वसुदेव की प्रवृत्ति, नेमिनाथ का चरित्र, द्वारिका का बसाना, युद्ध का वर्णन और निर्वाण का वर्णन "चउपन्न महापुरिसचरिय" और "वसुदेव-हिण्डी" इन प्राचीन ग्रन्थो के ऊपर से लिये गये हैं।

(२) प्रतिपादन शैली : : :

सम्पादको ने आचार्य जिनसेन की इस कृति के सम्बन्ध मे अपना अभिप्राय बहुत ही अच्छा व्यक्त किया है। परन्तु हमको इनके विचारो से जुदा पडना पडता है, यह दु ख का विषय है। पर इसका कोई प्रतिकार भी तो नही। सम्पादको ने इनकी हर एक प्रवृत्ति और परिपाटी पर सन्तोष व्यक्त किया है, परन्तु मुझे इनकी प्रतिपादन-शैली पर सन्तोष नही। जहा तक मुझे लेखक की लेखिनी का अनुभव हुआ है, इससे यही कहना पडता है कि आपकी लेखिनी परिमार्जित नही। पढने पर यही लगता है कि आचार्य धार्मिक सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त व्याकरण पढ कर "हरिवश" की रचना मे लगे हैं, इसीलिये लेख मे अलकार और रसपोषण का कही दर्शन नही होता। युद्ध जैसे प्रसग मे भी "वीर" अथवा "अद्भुत" रसो का नाम-निशान नही होना—इसका अर्थ यही हो सकता है कि लेखक ने अपनी साहित्यिक योग्यता प्राप्त करने के पहले ही इस पुराण की रचना कर डाली है। इसीलिये कही कही तो लेख भ्रान्ति-जनक भी हो गया है, जैसे—

"युधिष्ठिरोऽर्जुनो ज्येष्ठो, भीमसेनो महाबल.।
नकुल. सहदेवश्च, पञ्चैते पाण्डुनन्दना.॥ (२)" (४५ सर्ग)

भगवान पढ़ने वाले मनुष्य को ऊपर के श्लोक से पाण्डवों के ज्येष्ठादि क्रम में यह भ्रान्ति हुए बिना नहीं रहेगी कि पांच पाण्डवों में युधिष्ठिर अर्जुन महाबली भीम नकुल और सहदेव ये क्रमशः ज्येष्ठ कनिष्ठ थे। इस भ्रान्ति को ध्यान में लेकर यदि नीचे लिखे अनुसार श्लोक बनाकर पांच पाण्डवों का निरूपण करते तो कैसा स्वाभाविक होता ?

'युधिष्ठिरो भीमसेनोऽर्जुनश्चापि यथाक्रमम्।
नकुलः सहदेवश्च पञ्चैते पाण्डुनन्दना ॥'

(२) लेखक ऐतिहासिक, भौगोलिक सीमाओं के अनुभवी नहीं : : :

तीसरे सर्ग के ५ श्लोकों में कवि ने पञ्चशैलपुर और पञ्चशैलों का वर्णन किया है। वे कहते हैं— पञ्चशैलपुर श्रीमुनिसुव्रत जिन के जन्म से पवित्र बना हुआ है जो शत्रु की सेना के लिये पांच पर्वतों से परिवृत होने से दुर्गम है। पांच शैलों में 'पूर्व की तरफ ऋषिगिरि' है जो चतुरस्र और जल-निर्झरों से युक्त है। यह पर्वत दिग्गज की तरह पूर्व दिशा को सुशोभित करता है। 'वैभार पर्वत जो त्रिकोणाकार' है दक्षिण दिशा को आश्रित हुआ है। इसी प्रकार 'विपुल पर्वत भी त्रिकोणाकार' है और नैर्ऋत कोण के मध्य में रहा हुआ है। प्रत्यञ्चा चढ़ाए हुए धनुष की तरह 'बलाहक' नामक चतुर्थ पर्वत उत्तर, वायव्य पश्चिम इन तीन दिशाओं में व्याप्त है और पांचवां पाण्डुक' पर्वत ईशान कोण में स्थित है।

कवि ने जिसको पंचशैलपुर कहा है वह अर्वाचीन राजगृह नहीं। क्योंकि राजगृह नगर का निवेश राजा बिम्बिसार के पिता प्रसेनजित के समय में हुआ है जब कि मुनि सुव्रत तीर्थङ्कर का जन्म राजगृह के निर्माण के पूर्व ही हो चुका था। उस समय पांच पर्वतों के बिचला नगर राजगृह अथवा पञ्चशैलपुर नहीं कहलाता था किन्तु वह गिरिव्रज' के नाम से प्रसिद्ध था। कवि का पंच-पर्वत स्थिति-विषयक वर्णन भी ठीक प्रतीत नहीं होता।

भगवान् महावीर जब कभी राजगृह की तरफ जाते तब उसके ईशान दिशा विभाग में अवस्थित गुणशिलक' चैत्य में ठहरते थे। महावीर के

सभी गणधरो ने राजगृह के गुणशिलक उद्यान मे ही अनशन करके निर्वाण प्राप्त किया था। तब महावीर के सैकडो साधुओ ने वैभार पर्वत और विपुलाचल पर अनशन करके परलोक प्राप्त किया था। इससे ज्ञात होता है कि महावीर जहा ठहरते थे वहा से वैभार और विपुलाचल निकटवर्ती थे।

११वे सर्ग के ६५वें श्लोक मे कवि ने भारत के मध्य-देशो का वर्णन करते हुए सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान्, कोशल, मोक नामक देशो को मध्यदेशो मे परिगणित किया है, जो यथार्थ नही है। इन नामो मे से पहला नाम भी गलत है। देश का नाम सोल्व नही किन्तु "साल्व" है और यह प्राचीनकाल मे पाच विभागो मे बटा हुआ था और पश्चिम भारत मे अवस्थित था। अन्य प्रमाणो से "आवृष्ट" देश के अस्तित्व का ही समर्थन नही होता। त्रिगर्त देश भारत के मध्यभाग मे नही किन्तु नैर्ऋत कोण दिशा मे था, ऐसा प्राचीन सहिताओ से पता लगता है। "कौशल" भी उत्तर भारत मे माना गया है, मध्यभारत में नही और "मोक" देश तो पश्चिम मे था। आज के पजाब से भी काफी नीचे की तरफ, उसको भी मध्यभारत मे मानना भूल ही है और "कुणीयस्" देश का अन्यत्र कही उल्लेख नही मिलता। "काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, माहेभ, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद" इन देशो को पश्चिम दिशा के देश माने हैं। "दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नेपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन, और विविहाल" ये विन्ध्याचल के पृष्ठ भाग मे थे और "भद्र, वत्स, विदेह, कुशभग, सैतव, वज्रखण्डिक" ये देश मध्यभारत के सीमावर्ती माने हैं।

उस भूमिभाग में ईति उपद्रवादि नहीं होते। अहोरात्रादि समय शुभ बन जाता है और "अन्धे रूप देखते हैं बहरे शब्द सुनते हैं गूंगे स्पष्ट बोलते हैं और पंगुजन भी जोरों से चलने लगते हैं।" इस निरूपण में कवि ने ७७वें श्लोक में अन्धे रूप देखते हैं इत्यादि जो कथन किया है वह शास्त्रानुसारी नहीं है। तीर्थङ्करों के पुण्य अतिशयों के कारण ईति उपद्रवादि का शान्त होना नई अशुभ घटनाओं का न होना और ऋतुओं का अनुकूल होना आदि सब ठीक हैं परन्तु अन्धे व्यक्ति का देखना बधिर का सुनना गूंगे का बोलना और पंगु का चलना इत्यादि बातें अतिशय साध्य नहीं हैं। ऐसी असम्भवित बातों को सम्भवित मानकर तीर्थङ्करों के खरे प्रभाव पर भी लोगों की अश्रद्धा उत्पन्न करना है।

भगवान् नेमिनाथ को सुराष्ट्र मत्स्य लाट सूरसेन पटच्चर, कुरु जांगल कुशाग्र मगध अंग-बंग कलिंगादि अनेक देशों में विहार करा कर कवि मलय देश के भद्दिलपुर नगर के बाहर सहस्राम्रवन में पहुंचाते हैं, परन्तु जैन सूत्रों के आधार से भगवान् नेमिनाथ का विहार सुराष्ट्र के अतिरिक्त उत्तर भारत के देशों में ही हुआ था। भगवान् स्वयं और उनके शिष्य थावच्चा-पुत्रादि हजारों साधु काश्मीरी घाटियों हिमालय की श्वेत पहाड़ियों और उनके निकटवर्ती नगरों में विचरते थे। थावच्चापुत्र मुनि उनके शिष्य शुक परिव्राजक और उनके हजार शिष्य उन्हीं धवल पहाड़ियों पर जो पुण्डरीक पर्वत के नाम से पहिचानी जाती थी अनशन करके निर्वाण प्राप्त हुए थे। तीर्थङ्कर नेमिनाथ गिरनार पर्वत पर और उनके अनेक शिष्य सौराष्ट्र स्थित "शत्रुञ्जय" पर्वत पर अनशन करके सिद्ध हुए थे। इस परिस्थिति में नेमिनाथ के अंग बंग आदि सुदूरपूर्ववर्ती देशों में विहार करने का वर्णन करना संगत नहीं हो सकता।

कवि ने तीर्थङ्कर नेमिनाथ को अंग बंग तक ही नहीं दक्षिण में सुदूर द्रविड़ प्रदेश तक भ्रमण करा दिया है। कृष्ण वासुदेव ने जब पाण्डवों को अपने देश से *निर्वासित करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने सकुटुम्ब दक्षिण में* जाकर मल्ल देश में मथुरा नामक नगरी बसा कर वहाँ का राज्य करने लगे। कालान्तर में तीर्थङ्कर नेमिनाथ पल्लव देश की तरफ विचरे और

पाण्डवो को प्रतिबोध देकर अपने श्रमरण शिष्य बनाए। आचार्य जिनसेन कर्णाटक की तरफ से पश्चिम भारत मे आये थे, परन्तु उनके हृदय मे दक्षिण भारत के लिये मुख्य स्थान था। इसीलिये इन्होंने दक्षिणापथ की तरफ तीर्थङ्कर को विहार करा कर उस भूमि को पवित्र करवाया; परन्तु उस प्रदेश को पल्लव लिखकर आपने अपने भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञान की कमजोरी प्रदर्शित की है। क्योकि दक्षिण मथुरा के आस-पास का प्रदेश नेमिनाथ के समय पल्लव नाम से प्रसिद्ध होने का कोई प्रमाण नही है। दक्षिण प्रदेश मे पल्लवो की चर्चा विक्रम की चतुर्थ शती के प्रारम्भ मे शुरु होने और आठवी शती तक उनका उस प्रदेश मे राज्य व्यवस्थित रूप से चलने की इतिहास चर्चा करता है। इस परिस्थिति मे नेमिनाथ के समय मे मदुरा तथा काञ्जिवर के आस-पास के प्रदेश की "पल्लव" नाम से प्रसिद्धि नही हुई थी और न उस प्रदेश मे तब तक सभ्यता का ही प्रचार हुआ था। पाण्डवो के पाण्ड्यमथुरा मे भगवान् नेमिनाथ के श्रमणो मे से एक स्थविर उस प्रदेश मे विहार करके गए थे और उन्ही के उपदेश से पाण्डवो ने श्रमणधर्म की प्रव्रज्या ली थी और बाद मे वे सब सौराष्ट्र की तरफ विहार कर गये थे। जब वे आधुनिक सौराष्ट्र स्थित "शत्रुञ्जय" पर्वत के आस-पास पहुँचे तो उन्होने सुना कि "उज्जयन्त" पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ का निर्वाण हो चुका है। इस पर से पाण्डवों ने भी शत्रुञ्जय पर जाकर अनशन कर लिया और निर्वाण प्राप्त हुए। श्वेताम्बर साहित्य मे नेमिनाथ के विहार और पाण्डवो के प्रतिबोध का वृतान्त उपर्युक्त मिलता है।

(४) आचार्य जिनसेन यापनीय :।

आचार्य जिनसेन मूल मे यापनीय सघीय थे ऐसा हरिवश के अनेक पाठों से ध्वनित होता है। इन्होंने पुराण की प्रशस्ति के अन्तिम पद्य में अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—

"व्युत्सृष्टाऽपरसघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसघान्वये,
व्याप्त. श्री जिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधेः पुनः।

इष्टोऽस्य हरिवंशपुण्यचरितः श्रीपर्वतः सर्वतो,
व्याप्ताशामुखमण्डलः स्थिरतरः स्थेयात् पृथिव्यां चिरम् ॥"

जिसने अन्य संघों की परम्पराओं को त्याग दिया है ऐसे बृहत् पुन्नाट संघ के वंश में व्याप्त हरिवंशपुराण रूप 'श्रीपर्वत' को मवान्तर में बोधितमार्य कवि जिनसेन ने ग्रन्थ-रचना द्वारा सब दिशाओं में प्रसिद्ध किया जो पृथ्वी पर सदा स्थिर रहे ।

ऊपर के पद्य में कवि ने दो बातों की सूचना की है—

(१) यह कि कवि जिनसेन के पुन्नाट संघ का पहले यापनीय कूर्चक श्वेताम्बर आदि अनेक अन्य संघों के साथ सम्पर्क था जो जिनसेन की पुराणरचना के पहले ही टूट गया था ।

(२) हरिवंश पुराण का कथावस्तु पुन्नाट संघ के वंश में से प्राप्त किया है ।

(१) कवि की अन्य संघों से सम्बन्ध विच्छेद होने की बात बताती है कि प्रस्तुत पुराण का रचनाकाल विक्रम की ११वीं शती के प्रारम्भ का है पहले का नहीं । क्योंकि विक्रम की दशवीं शती के पूर्वार्ध तक "यापनीय संघ" उन्नति पर था । 'अमोघ वर्ष' जैसे इसके सहायक थे, आचार्य "शाक्यकीर्ति (शाकटायन)" जैसे इसके उपदेशक थे । उस समय में यापनीयों का सम्बन्ध अन्य संघों से बना हुआ था । यही कारण है कि उस समय में केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति का समर्थन करने वाले प्रकरण बने थे परन्तु उसके बाद धीरे धीरे यापनीय संघ का ह्रास होता गया और परिणामस्वरूप विक्रम की १२वीं शती तक इसका अस्तित्व ही नामशेष हो गया था । नग्नता के नाते अधिकांश यापनीय संघ दिगम्बर परम्परा में सम्मिलित हो गया था । कूर्चक आदि छोटे सम्प्रदाय श्वेताम्बरों के अन्तर्गत हो गये । परिणाम यह आया कि इस समय के बाद के लेखों अथवा ग्रन्थों की प्रशस्तियों में से यापनीय संघ और कूर्चक संघ ये नाम अदृश्य हो गये । आचार्य जिनसेन के अनेक उल्लेखों से प्रमाणित होता है

कि पहले वे यापनीय सघ के अन्तर्गत थे। यापनीय श्रमरण, कल्पसूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर जैनसूत्रो को मानते थे। इसी कारण से इन्होने अपने इस पुराण मे श्वेताम्बर सूत्र ग्रन्थो के सस्कृत मे नाम निर्देश किये हैं। इतना ही नही, कही कही तो गाथाओ और उनके चरणो के सस्कृत भाषान्तर तक कर दिये हैं।

दशम सर्ग के १३४, १३५, १३६, १३७, १३८ तक के पाँच श्लोको मे अगवाह्य श्रुत का वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि "दशवैकालिक सूत्र" साधुओ की गोचरचर्या की विधि बतलाता है। "उत्तराध्ययन" सूत्र वीर के निर्वाणगमन को सूचित करता है। "कल्प-व्यवहार" नाम का शास्त्र श्रमणो के आचारविधि का प्रतिपादन करता है और अकल्प्य सेवना करने पर प्रायश्चित्त का विधान करता है। "कल्पाकल्प" सज्ञक शास्त्र कल्प और अकल्प दोनो का निरूपण करता है। "महाकल्प सूत्र" द्रव्य क्षेत्रकालोचित साधु के आचारो का वर्णन करता है, "पुण्डरीक" नामक अध्ययन देवो की उत्पत्ति का और "महापुण्डरीक" अध्ययन देवियो की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाला है और "निषद्यका" नामक शास्त्र प्रायश्चित्त की विधि का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार अगवाह्य श्रुत का प्रतिपादन किया।

कवि जिनसेन का उपर्युक्त निरूपण अर्धसत्य कहा जा सकता है, क्योकि इसमे कोई कोई बात श्वेताम्बरो की मान्यतानुसार है। तव कोई उसके विरुद्ध भी, "दशवैकालिक" के विषय मे इनका कथन श्वेताम्बरीय मान्यतानुगत है, तब उत्तराध्ययन के सम्बन्ध मे जो लिखा है वह यथार्थ नही। उत्तराध्ययन मे महावीर के निर्वाण गमन सम्बन्धी कोई बात नही है, परन्तु कल्प सूत्र मे ३६ अपृष्ट व्याकरण के अध्ययनो की जो बात कही है, उसके ऊपर से उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन मानकर वीर के निर्वाण गमन की बात कह डाली है। 'कल्प व्यवहार" नामक शास्त्र को एक समझ कर इसका तात्पर्य आपने समझाया, परन्तु वास्तव मे "कल्प" तथा "व्यवहार" भिन्न-भिन्न हैं। पहले मे प्रायश्चित्तो की कल्पना और दूसरे मे उनके देने की मुख्यता है।

'कल्पिका-कल्पिक' नामक शास्त्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अवश्य था परन्तु उसका विच्छेद बहुत काल पूर्व हो चुका है। "महाकल्प" भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अवश्य था परन्तु इसका भी विच्छेद हुए लगभग १५०० वर्ष हो चुके हैं। देवों तथा देवियों की उत्पत्ति का निरूपण करने वाले ग्रन्थों को जिनसेनसूरि क्रमशः 'पुण्डरीक' तथा 'महापुण्डरीक' नाम देते हैं परन्तु यह मान्यता भी आपकी सुनी सुनायी प्रतीत होती है। जहां तक हमने देखा है श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में उपर्युक्त नाम वाले ग्रन्थ नहीं हैं। कवि ने प्रायश्चित्तविधि को बताने वाला 'निषद्यका' नाम का शास्त्र बताया है। यह नाम दिगम्बरों में प्रसिद्ध है परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इस ग्रन्थ को 'निशीथ' कहते हैं।

१८वें सर्ग के ३७वें श्लोक में 'दशवैकालिक' के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा का पूर्वार्ध का संस्कृत रूपान्तर बनाकर ज्यों का त्यों रख दिया है।

'दशवैकालिक' की प्रथम गाथा का पूर्वार्ध "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो" जिनसेनसूरि का उक्त गाथार्ध का संस्कृत-अनुवाद— "धर्मो मंगलमुत्कृष्टमहिंसा संयमस्तपः"।

उक्त प्रकार के पुराणान्तर्गत अनेक प्रतीकों से ज्ञात होता है कि आचार्य जिनसेन और इनके पूर्व गुरु यापनीय संघ में होंगे, अन्यथा श्वेताम्बरों में प्रचलित ग्रन्थ सूत्रों के नाम और उनके प्रतीक इनके पास नहीं होते। मालूम होता है जिनसेन के समय तक इनका श्वेताम्बरीय सम्बन्ध पर्याप्त रूप से छूट चुका था इसीलिये कई सूत्रों की परिभाषाओं के सम्बन्ध में आपने अतथ्य निरूपण किया है। इनके बाद के वसुनन्दी आदि टीकाकार आचार्यों ने वट्टकेर कृत 'मूलाचार' की श्वेताम्बरीय सूत्र गाथाओं की व्याख्या करने में बहुत ही गोलमाल किया है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों दोनों सम्प्रदायों के बीच पार्थक्य बढ़ता ही गया।

यद्यपि 'जिनसेन' हरिवंशपुराण का कथावस्तु बृहद् पुन्नाट संघ के ग्रंथ में से उपलब्ध होने की बात कहते हैं, परन्तु वस्तुतः 'हरिवंश का

"कथावस्तु वसुदेवहिण्डी और महापुरुषचरित्र" आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थो के आधार से लिया है। यह बात "हरिवश के कथावस्तु का आधार" नामक शीर्षक के नीचे लिखी जा चुकी है।

(५) जिनसेन के पूर्ववर्ती विद्वान् : : :

आचार्य जिनसेनसूरि ने अपने पुराण के प्रथम सर्ग मे अपने पूर्ववर्ती कतिपय विद्वानो का स्मरण किया है, जिनमे समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, शान्तिषेण, प्रभाचन्द्र, प्रभाचन्द्र के गुरु कुमारसेन, वीरसेन गुरु और जिनसेन स्वामी आदि प्रमुख है। इनमे आचार्य समन्तभद्र, सूक्तिकार सिद्धसेन, व्याकरण ग्रन्थो के दर्शी देवनन्दी, वज्रसूरि आदि के नाम आने स्वाभाविक है। क्योकि ये सभी आचार्य हरिवशकार जिनसेन के निसन्देह पूर्ववर्ती थे, परन्तु कतिपय नामो का इस पुराण मे स्मरण होना शकास्पद प्रतीत होता है। कुमारसेन, वीरसेन, महापुराण के कर्ता "जिनसेन और प्रभाचन्द्र" का नाम "हरिवश पुराण" मे आना एक नयी समस्या खडी करता है। क्योकि 'महापुराण" के कवि जिनसेन अपने ग्रन्थ मे हरिवशपुराणकार जिनसेन की याद करते हैं, तब "हरिवश पुराण" मे पुन्नाट सघीय कवि जिनसेन, जिनसेन स्वामी की कीर्ति "पार्श्वाभ्युदय" नामक काव्य मे करते है। इसी प्रकार "हरिवशपुराण" मे "न्यायकुमुदचन्द्रोदय" के कर्ता प्रभाचन्द्र और उनके गुरु आचार्य कुमारसेन का नामोल्लेख होना भी समयविषयक उलझन को उत्पन्न करने वाला है।

भट्टारक वीरसेन ने भी हरिवशपुराणकार आचार्य जिनसेन का अपने ग्रन्थ मे स्मरण किया है, इसी प्रकार आचार्य वीरसेन ने अपने ग्रन्थ मे प्रभाचन्द्र का नाम निर्देश किया है और प्रसिद्ध कवि "धनजय" की "नाममाला" का अपने ग्रन्थ मे एक पद्य उद्धृत किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र और कवि धनज्जय मालवा के राजा भोज की राजसभा के पण्डित थे। इन सब बातो पर विचार करने से आचार्य वीरसेन भट्टारक, हरिवश पुराणकार आचार्य जिनसेन आदि के सत्ता-समय की वास्तविकता

पर अन्धकार फल जाता है। यदि भट्टारक वीरसेन और पुन्नाट संघीय जिनसेन समकालीन थे तो इन्होंने अपने अपने ग्रन्थों में एक दूसरे के नाम निर्देश कैसे किये ? क्योंकि धवला टीकाकार वीरसेन स्वामी सुदूर दक्षिण पथ में मूडबिद्री की तरफ विचरते थे और टीकाओं का निर्माण कर रहे थे तब हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन भारत की पश्चिम सीमा पर वर्द्धमान नगर में रहकर 'हरिवंशपुराण' की रचना कर रहे थे और इन दोनों आचार्यों की कृतियों की समाप्ति में भी तीन वर्षों से अधिक अन्तर नहीं है। इस परिस्थिति में उक्त आचार्यों द्वारा अपने ग्रन्थों में एक दूसरे का उल्लेख होना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।

हरिवंशपुराण में आचार्य प्रभाचन्द्र और इनके गुरु कुमारसेन के नाम उपलब्ध होते हैं। इन गुरु-शिष्यों का सत्ता-समय विक्रम की ११वीं सती का द्वितीय चरण हो सकता है।

कवि धनञ्जय जो 'धनञ्जयनाममाला' के कर्ता थे और भोज राजा के सभा-पण्डित इनका समय भी विक्रम की ग्यारहवीं सती के द्वितीय चरण से पहले का नहीं हो सकता।

आचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंशपुराण के निर्माणकाल में किस दिशा में कौन राजा राज्य करता था इसका निम्नलिखित पद्य में निरूपण किया है—

> 'शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
> पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
> पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृतिनृपे वत्सादिराजेऽपरां,
> सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥

अर्थात्—जिनसेन कहते हैं– ७०५ संवत्सर बीतने पर उत्तर दिशा का इन्द्रायुध नामक राजा रक्षण कर रहा था। कृष्ण राजा का पुत्र श्रीवल्लभ दक्षिण दिशा का रक्षण कर रहा था। अवन्तिराज पूर्व दिशा का पालन कर रहा था पश्चिम दिशा का श्रीवत्सराज शासन कर रहा था

और सूरमण्डल अर्थात् सौराष्ट्र-मण्डल का विजयी वीर वराह-धरणी वराह रक्षण कर रहा था ।

"कल्याणै. परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे,
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेप. पुर. ।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजाग्रजनिता प्राजार्चनावर्चने,
शान्ते. शान्तिगृहे जिनस्य रचितो वशो हरीणामयम् ।।५३।।

अर्थात्—'उस समय कल्याणो से बढते हुए श्री वर्धमानपुर मे "नन्नराज वसति" नामक पार्श्वनाथ जिनालय मे हरिवशपुराण को अधिकाश पूरा किया था और शेष रहा हुआ पुराण का भाग "दोस्तटिका" नामक स्थान मे शान्तिदायक शान्तिनाथ के चैत्य मे रहकर पूरा किया ।

आचार्य जिनसेन उक्त ५२वें पद्य के चतुर्थ चरण मे सौराष्ट्र-मण्डल के शासक का नाम "वराह" लिखते है । पुराण के सम्पादक वराह के साथ "जय" शब्द जोडकर उसका नाम "जयवराह" बनाते हैं, जो असगत है । क्योकि "जयवराह" नामक सौराष्ट्र का शासक कोई राजा ही नही हुआ । जिनसेन ने "वराह" शब्द का प्रयोग "धरणिवराह" के अर्थ मे किया है, परन्तु "धरणीवराह" के सत्तासमय के साथ पुराणकार का समय सगत न होने के कारण धरणीवराह को छोडकर "जयवराह" को उसका उत्तराधिकारी होने की कल्पना करते हैं, जो निराधार है । "वराह" यह कोई जातीय नाम नही, किन्तु "धरणीवराह" का ही सक्षिप्त नाम "वराह" है ।

जिनसेन के उपर्युक्त पद्य मे सूचित "इन्द्रायुध" राजा का समय विक्रम सवत् ८४०, वत्सराज पुत्र द्वितीय नागभट का राज्य विक्रम सवत् ८५७–८६३ तक विद्वान् मानते हैं । श्रीवल्लभ का समय विक्रम सवत् ८२७ के लगभग अनुमान करते हैं, तब "धरणीवराह" जो चापवशीय राजा था उसका सत्ता-समय शक सवत् ८३६ मे माना गया है जो विक्रम सवत् ९७१ के बराबर होता है । इस प्रकार हरिवशपुराणकार आचार्य जिनसेन का निर्दिष्ट समय इतिहाससगत नही होता ।

उपर्युक्त तमाम असंगतियों के निराकरण का उपाय हमको एक ही दृष्टिगोचर होता है और वह है जिनसेन के शक सवत को "कलचुरी सवत्" मानना। आचार्य जिनसेन उसी प्रदेश से विहार कर बर्द्धमान नगर की तरफ आये थे कि जहाँ कलचुरी सवत् ही प्रचलित था। इस दशा में हरिवंशपुराणकार द्वारा कलचुरी सवत् की पसन्दगी करना बिल्कुल स्वाभाविक है। कलचुरी सवत् ईशा से २४९ और विक्रम से ३०६ के बाद प्रचलित हुआ था।

(१) जिनसेन के 'हरिवंशपुराण" की समाप्ति ७०५ कलचुरी संवत्सर में हुई थी। इसमें ३०६ वर्ष मिलाने पर विक्रम वर्ष १०११ आयेंगे¹। इससे धरणीवराह" और जिनसेन के समय की सगति भी हो जाती है। पुन्नाट समीय जिनसेन की तरह ही भट्टारक वीरसेन तथा उनके शिष्य स्वामी जिनसेन का समय भी कलचुरी संवत्सर मान लेने पर इनके ग्रन्थों में होने वाले प्रभाचन्द्र कवि धनञ्जय आदि के निर्देशों की भी संगति बैठ जायगी।

जिस हैहय राजवश की तरफ से कलचुरी सवत् प्रचलित हुआ था उसका शृङ्खलाबद्ध इतिहास वि० सं० ९२० के आसपास से मिलता है और इसके पूर्व का कहीं कहीं प्रसंगवशात् निकल आता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि विक्रम की दशवीं शती में कलचुरी संवत् का सब से अधिक व्यवस्थित प्रचार चल पड़ा था। हैहयों के देश में ही नहीं गुजरात के चौलुक्य गुर्जर, सेन्द्रक और त्रैकूटक के राजाओं के ताम्रपत्रों में भी यही

---

(१) हैहयों का राज्य बहुत प्राचीन समय से चला आता था परन्तु अब इसका पूरा पूरा पता नहीं लगता। उन्होंने अपने नाम का स्वतन्त्र संवत् चलाया था जो कलचुरि संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु उसके चलाने वाले राजा के नाम का कुछ पता नहीं लगता। यह संवत् वि सं ३०६ आश्विन शुक्ला १ से आरम्भ हुआ और १४वीं शताब्दी के अन्त तक वह चलता रहा। कलचुरियों के सिवाय त्रैकूटक (लाट) के चौलुक्य गुर्जर सेन्द्रक और त्रैकूटक वंश के राजाओं के ताम्र पत्रों में भी यह संवत् लिखा मिलता है। (भारत के प्राचीन राजवंश प्रथम भाग पृ ३८)

सवत् लिखा जाता था। इससे भी निश्चित होता है कि जिनसेन का ७०५ वर्ष परिमित शक-सवत् वास्तव मे कलचुरी सवत् है।

उपर्युक्त मान्यता के अनुसार पुन्नाटसघीय आचार्य जिनसेन का सत्ता-समय विक्रम की ११वी शती तक पहुँचता है जो ठीक ही है। क्योकि हरिवशपुराण मे ऐसी अनेक बातो के उल्लेख मिलते है, जो जिनसेन को विक्रम की ११वी शती के पहले के मानने मे बाधक होते हैं। इस प्रकार के कतिपय उल्लेख उपस्थित करके पाठकगण को दिखायेंगे कि आचार्य जिनसेन की ये उक्तियाँ उन्हे अर्वाचीन प्रमाणित करती हैं।

पुराण के नवम सर्ग मे निम्नलिखित समस्यापूर्ति उपलब्ध होती है, जैसे—

"दृष्ट तैमिरिक कैश्चिदन्धकारेऽपि तादृशे।
स्पर्धमेव हि चन्द्राक्षै शतचन्द्र नभस्तलम् ॥१०६॥"

इस श्लोक का "शतचन्द्र नभस्तलम्" यह समस्या-पद विक्रमीय १२वी, १३वी शती के पूर्ववर्ती किसी साहित्यिक ग्रन्थ में दृष्टिगोचर नही हुआ। इससे जाना जाता है कि उक्त समस्या-पद विक्रम की ११वी शती के पहले का नही है।

पुराण के १४वें सर्ग के २०वें श्लोक मे—

"हिन्दोलग्रामरागेण, रक्तकण्ठा धरश्रिय.।
दोलाद्यान्दोलनक्रीडा, व्यासक्ताः कोमल जगु ॥२०॥"

इस प्रकार हिन्डोल राग दोलान्दोलन क्रीडा आदि शब्द अर्वाचीनता-सूचक हैं। प्राचीन साहित्य मे सप्तस्वरो का विवरण अवश्य मिलता है, परन्तु हिन्दोल राग, दोलान्दोलन क्रीड़ा आदि शब्द हमने १२वी शती के पहले के किसी भी साहित्यिक अथवा सगीत के ग्रन्थो मे नही देखे।

हरिवश के ४०वें सर्ग के—

'प्रशस्ततिथि-नक्षत्र-योग-वारादि सम्पद ।
सुलब्धसुकुला भूपा जग्मुरस्यै प्रयाणके' ॥२४॥

उपर्युक्त श्लोक में तिथि, नक्षत्र योग के अतिरिक्त 'वार' शब्द का प्रयोग किया गया है जो ग्रन्थ की अर्वाचीनता का सूचक है। क्योंकि नयी पद्धति का भारतीय ज्योतिष विक्रम की १०वीं शती के पहले लोकमान्य नहीं हुआ था। सर्वप्रथम तिथि नक्षत्र और मुहूर्त प्रचलित थे फिर करण आया परन्तु वार को कोई नहीं पूछता था। करण के बाद "लग्न" शब्द कहीं-कहीं प्रयुक्त होने लगा जो नवमी शती के किसी किसी लेख ग्रन्थ में मिलता है और वार शब्द तो नवमी शती तक भी किसी लेख या प्रशस्ति में दृष्टिगोचर नहीं होता। विक्रम की दशवीं शती के एक-दो लेखों में एक-दो स्थानों में वार शब्द दृष्टिगोचर हुआ है। इससे इतना कह सकते हैं कि हरिवंशपुराण' की रचना के समय में वार शब्द प्रयोग में आने लगा था।

हरिवंश के ५८वें सर्ग के श्लोक में आया हुआ अविद्या शब्द शंकराचार्य के ब्रह्मवाद के प्रचार के बाद का है। शंकराचार्य का सत्ता-समय विक्रम की नवमी शती में माना गया है। इससे ज्ञात होता है आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद का सार्वभिक प्रचार होने के बाद आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण की रचना की है।

हरिवंश के ६६वें सर्ग में भारत में दीपावली प्रचलित होने के कारण बताये हैं और तब से दीपावली भारत में होने का लिखा है। दीपावली की इस कथा से भी जिनसेन का यह पुराण अर्वाचीन ठहरता है। श्वेताम्बर साहित्य में दीपावली की कथा १२वीं शती के पहले की उपलब्ध नहीं होती।

हरिवंश के कवि आचार्य जिनसेन ने २४ तीर्थङ्करों के शासनदेव देवियों का सूचन किया है और "अप्रतिचक्रा" तथा "ऊर्जयन्तस्थ अम्बादेवी" का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं बल्कि ग्रह भूत पिशाच राक्षस

आदि जो लोक-विघ्नकारी हैं उनको जिनेश्वर शासनदेवगण अपने प्रभाव और शक्ति से शान्त करें और इच्छित कार्य की सिद्धि दे, ऐसी हरिवश-पुराणकार ने पढने वालो के लिये आशसा की है। इस प्रकार देवताओ की आशा और विश्वास १०वी ११वी शती के पूर्वकालीन जैन श्रमणो मे नही था।

पुन्नाटसघीय आचार्य जिनसेन की गुरु-परम्परा—

आचार्य जिनसेन ने "हरिवशपुराण" के अन्तिम सर्ग मे अपनी गुर्वावली के नामो की वडी सूची दी है। इस सूची के प्रारम्भिक लोहार्य तक के नाम "त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति" आदि अन्य ग्रन्थो मे मिलते हैं, परन्तु इनके आगे के विनयधर, श्रुतगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, मन्दरार्य, मित्रवीर्य, वलमित्र, देवमित्र, सिंहवल, वीरवित्त, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ती और जितदण्ड ये १४ प्रकीर्णक नाम शका से रहित नही है। क्योकि प्रस्तुत पुराण के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ या शिलालेख मे इन नामो का क्रमिक उपन्यास नही मिलता और इनके आगे के नन्दिषेण से जिनसेन पर्यन्त के १८ अव्यवच्छिन्न सेनान्त नाम है। इस नामावली मे भी हमको तो कृत्रिमता की गन्ध आती है, क्योकि सेनान्त नामो की इतनी लम्बी सूची अन्यत्र नही मिलती। आचार्य जिनसेन ने अपने "हरिवशपुराण" मे शक सवत् ७०५ का उल्लेख किया है, अर्थात् इस सवत्सर मे "हरिवश-पुराण" की समाप्ति सूचित की है। इनके पूर्ववर्ती सेनान्त नामो मे नन्दिषेण यह नाम १८वाँ होता है। प्रति नाम के पीछे उनके सत्ता-समय के २५ वर्ष मान लिये जाएँ, तो भी नन्दिषेण का समय जिनसेन के पहले ४५० वर्ष पर पहुचता है। परन्तु प्राचीन शिलालेखो तथा ग्रन्थो में सेनान्त नामो का कही नाम-निशान नही मिलता।

इस विषय मे डा० गुलाबचन्द्रजी चौधरी लिखते हैं—

"यद्यपि लेखो मे इसका सर्वप्रथम उल्लेख मूलगुण्ड से प्राप्त न० १३७ (सन् ९०३) मे हुआ है, पर इसके पहले नवमी शताब्दी के उत्तरार्ध (सन् ८९८ के पहले) मे उत्तरपुराण के रचयिता गुणचन्द्र ने अपने गुरु

जिनसेन और दादागुरु वीरसेन को सेनान्वयी कहा है। पर जिनसेन और वीरसेन ने "जयधवला और धवला टीका में" अपने वंश को पंचस्तूपान्वय लिखा है। यह 'पंचस्तूपान्वय' ईसा की पांचवीं शताब्दी में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साधुओं का एक संघ था। यह बात पहाड़पुर (जिला राजशाही बंगाल) से प्राप्त एक लेख से मालूम होती है। पंचस्तूपान्वय का सेनान्वय के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख गुणभद्र ने अपने गुरुओं के सेनान्त नामों को देखते हुए किया है। इससे हम कह सकते हैं, गुणभद्र के गुरु जिनसेनाचार्य इस गण के आदि आचार्य थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित होता है कि 'सेन-गण' और 'सेनान्त' नामों का जन्म विक्रम की १०वीं शती में हुआ था। इस दशा में हरिवंशपुराणकार जिनसेन की गुरु-परम्परा-नामावली पर कहां तक विश्वास किया जाय इस बात का निर्णय पाठकगण स्वयं कर सकते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में गणधर सुधर्मा से देवर्द्धिगणि पर्यन्त २७ श्रुत धरों में ९८० वर्ष पूरे होते हैं, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय इन्द्रभूति से लोहाचार्य पर्यन्त के २८ पुरुषों में ६८३ वर्ष व्यतीत करता है और इसमें ३ केवलियों के ६२, ५ चतुर्दश पूर्वधरों के १०० ११ दश पूर्वधरों के १८३, ५ एकादशांगधरों के २२० ४ आचारांगधरों के ११८ सब मिलाकर ६८३ वर्ष पूरे किये जाते हैं। यह कालगणना स्फुट और नि:सन्देह नहीं है। दिगम्बरीय मान्यतानुसार इन्द्रभूति गौतम भी केवलियों में परिगणित हैं। श्वेताम्बरों की मान्यतानुसार गौतम को और इनके ८ वर्ष केवलि पर्याय के हटा देने पर शेष नाम २७ और सत्ता-समय के वर्ष ६७५ रहते हैं जो कम ज्ञात होते हैं। गुरु-शिष्य क्रम से गिनने से ६-७ नाम बढ़ते हैं, मुकाबिले में वर्ष घटते हैं। पर अनुयोगधरों के क्रम से वर्षों का घटना गणना की अनिश्चितता का सूचक है। गुरु-शिष्य के क्रमानुसार देवर्द्धि ३४वें पुरुष थे पर अनुयोगधर क्रम से २७वें पुरुष और समय दोनों क्रमों में वही है ९८० वर्ष परिमित। इस हिसाब से दिगम्बरीय गणना के आधार से २८ युगप्रधानों का समय ६८३

वर्ष होना कम है। आचार्य जिनसेन की गुर्वावली के हर नाम गुरु शिष्य क्रम से मान लिये जायें तो भी इनके सत्ता-समय के वर्ष प्रति पीढ़ी २५ मानने पर भी ८०० मानने पड़ेंगे। ६८३-८००-१४८३ होंगे, इनमें से ४७० वर्ष बाद देने पर शेष १०१३ रहेंगे और इस परिपाटी से भी पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन का सत्ता-समय विक्रम की ग्यारहवीं शती का प्रथम चरण ही सिद्ध होगा।

निबन्ध-निचय

चतुर्थ खण्ड

卐 卐

वैदिक साहित्य
का
अवलोकन

卐

: ४० :

श्री कौटिलीय-अर्थशास्त्र

आचार्य चाणक्यप्रणीत

❖
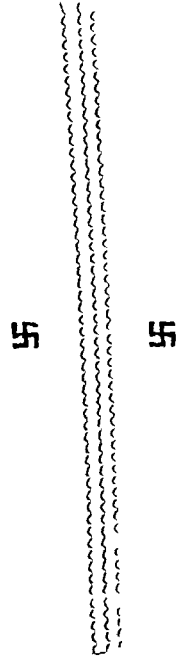
"कौटिल्य-अर्थशास्त्र" मौर्य चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री श्री कौटिल्य-प्रसिद्ध नाम चाणक्य की सस्कृत कृति है। इसमे राजनीति का सागोपाग निरूपण किया गया है। राज्य, अमात्य, पुरोहित, मत्रीमण्डल तथा भिन्न भिन्न कार्याध्यक्षो के निरूपण वडी सूक्ष्मता से किये है। देश की आवादी, आय-व्यय के मार्ग, देश-व्यवस्था को अच्छे ढग से करने के अनेक तरीके, प्रकट तथा गुप्तचर दूतो के प्रकार, उनकी कार्यप्रणालियाँ, सैन्य के विभाग, स्कन्धावारनिवेश, युद्ध के समय अनेक प्रकार के सैन्य-व्यूह और शत्रु को परास्त करने के लिये अनेक उपायो का निरूपण किया गया है। इतना ही नही, दीवानी तथा फौजदारी कार्यों के निपटारे के लिए, दीवानी, फौजदारी न्यायो का वडी छानवीन के साथ निरूपण किया है। जहा जहा अन्य आचार्यों के मतभेद पडते थे, वहा उनके मतो का नामपूर्वक उल्लेख करके अपना मन्तव्य प्रकट किया है। बार्हस्पत्य, औशनस, पाराशर्य, अर्थशास्त्रो को मानने वालो का निर्देश तो स्थान-स्थान पर किया ही है, परन्तु अन्य अर्थशास्त्रकारो के मतो का भी अनेक स्थानो पर निर्देश किया है। भारद्वाज, विशालाक्ष, कौणपदन्त, पिशुन, पिशुनपुत्र तथा आचार्य का मतनिर्देश करके समालोचना की है। सब से अधिक "इति आचार्य", नेति कौटिल्य" इत्यादि आचार्य के नाम का बार-बार उल्लेख कर उनसे अपना विरोध प्रकट किया है। इन नामोल्लेखो से पाया जाता है कि कौटिल्य के समय मे इन सभी आचार्यों के बनाये हुए प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रतिपादन करने वाले "अर्थशास्त्र" विद्यमान होगे। उक्त

नाम के आचार्यों द्वारा निर्मित 'अर्थशास्त्र' अब विद्यमान होंगे या नहीं यह कहना कठिन है। शुक्रनीति तथा बृहस्पतिनीति के प्रतिपादक जो छोटे-छोटे ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे सब पड़े हैं परन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र के सामने उनका कोई महत्त्व नहीं। कौटिल्य ने अपना यह ग्रन्थ पन्द्रह अधिकरणों, १५० अध्यायों और १८० प्रकरणों में पूरा किया है। ग्रन्थ का कलेवर ६००० अनुष्टुप् श्लोकों के बराबर गद्य से सम्पूर्ण बना दिया है।

ग्रन्थ के अधिकरणों के शीर्षकों के पढ़ने से ही पाठकगण को अच्छी तरह ज्ञात हो जायगा कि कौटिल्य ने इस ग्रन्थ में किन किन विषयों का प्रतिपादन किया है।

अधिकारों के शीर्षक—

(१) विनयाधिकरण
(२) अध्यक्ष-प्रचाराधिकरण
(३) धर्मस्थीयाधिकरण
(४) कण्टकशोधनाधिकरण
(५) योगवृत्ताधिकरण
(६) मण्डलयोनिअधिकरण
(७) षाड्गुण्य अधिकरण
(८) व्यसनाधिकारिकाधिकरण
(९) अभियास्यत्कर्माधिकरण
(१०) सांग्रामिकाधिकरण
(११) संघ-वृत्ताधिकरण
(१२) आबलीयसाधिकरण
(१३) दुर्गलम्भोपायाधिकरण
(१४) औपनिषदिकाधिकरण
(१५) तन्त्रयुक्ति-अधिकरण

धर्म को दयामूलक मानते है और सुख का मूल धर्म को"। फिर भी इनकी दृष्टि मे अर्थवर्ग सब से आगे है, ऐसा इनके अनेक उल्लेखो से जान पड़ता है। इतना ही नही, चाणक्य-सूत्रो मे अनेक ऐसे सूत्र है जिन्हे जीवन मे उतारकर मनुष्य सुखी ही नही एक नीतिज्ञ पुरुष बन सकता है। इन सूत्रो के पढने से पाठको को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह शब्दो द्वारा प्रकट नही किया जा सकता।

: ४१ :

सांख्यकारिका

❖

ईश्वरकृष्ण–विरचिता
माठरवृत्तिसहिता

सांख्य-कारिका' सांख्यदर्शन का मौलिक बोध कराने के लिए बहुत ही उपयोगी कृति है जो सांख्यदर्शन के प्राचीन षष्ठितन्त्र' सिद्धान्त के अनुसार बनाई गई है। इसमें कुल ७३ कारिकाएँ हैं।

सांख्य-कारिका' को 'माठरवृत्ति' के निर्माण के समय तक सांख्य दर्शन का संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार से था—

बुद्धि अहंकार, मन पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय पांच भूत तथा तन्मात्राएँ पांच स्थूल शरीर प्रकृति और पुरुष इन २५ तत्त्वों के ज्ञान से सांख्य-दर्शन में आत्मा का अपवर्ग अर्थात् मोक्ष माना गया है। जब तक आत्मा अपना स्वरूप नहीं जान पाता तब तक वह आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिक तापों को अनुभव करता है। जन्म-मरण के दुःखों को भोगता रहता है। आठ प्रकार के देवगति सम्बन्धी पांच प्रकार के पशुपक्षी स्थावरादि तिर्यञ्च गति सम्बन्धी और एक विध ब्राह्मण से लेकर चण्डाल तक के मनुष्य भव सम्बन्धी सुख-दुःखों को भोगता है। देवगति में सात्त्विक गुणों की प्रधानता रहती है। तिर्यग्गति में तमोगुण की और मनुष्यगति में रजोगुण की प्रधानता और शेष दो गुणों की गौणता रहती है।

सांख्य-दर्शन का आत्मा अथवा पुरुष प्रतिशरीर भिन्न होता है। वह कर्त्ता न होने पर भी प्रकृति के विकारों में फंसा होने से औपचारिक रूप से सुख-दुःख का भोक्ता माना गया है।

सांख्य-दर्शन काल स्वभाव अथवा ईश्वर को जगत्कर्त्ता नहीं मानता। जगत् की रचना प्रकृति के विकारों से होती रहती है।

सांख्य-दर्शन में कतिपय शब्द जैन पारिभाषिक शब्दो से मिलते-जुलते है, जैसे—"सम्यग्-ज्ञान, केवल ज्ञान" आदि। मोक्ष के लिए "कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष" आदि शब्दो का व्यवहार किया जाता है।

साख्य-दर्शन का प्रतिपादक शास्त्र "षष्टितन्त्र" कहलाता है। इसका कारण (६०) साठ पदार्थों का प्रतिपादन है। वे साठ पदार्थ ये हैं— (१) अस्तित्व, (२) एकत्व), (३) अर्थत्व, (४) पारार्थ्य, (५) अन्यत्व, (६) निवृत्ति, (७) योग, (८) वियोग, (९) पुरुषवहुत्व, (१०) स्थितिः। पाच विपर्यय, २८ अशक्ति, ९ तुष्टि, ८ सिद्धि। इन साठ (६०) पदार्थों का वृत्तिकार ने वृत्ति मे परिचय दिया है।

साख्य-दर्शन मे प्रमाण तीन माने गये हैं—प्रत्यक्ष (चाक्षुषज्ञान), अनुमान (शेष इन्द्रिय जन्य) और आगम (ब्रह्मादि वाक्यात्मक वेद, सनकादि वाक्यात्मक शास्त्र आप्त वाक्य)।

मूल कारिकाकार ईश्वरकृष्ण एक प्राचीन दर्शनकार हैं। इनका निश्चित समय जानने मे नही आया। वृत्तिकार माठराचार्य का समय विक्रम की पाचवी शती का उत्तरार्ध होना अनुमान करते है, यह इनका पूर्ववर्ती समय का स्तर है। इससे अर्वाचीन हो तो आश्चर्य नही। वृत्ति मे उपनिषत्कारो के वेदान्त का एक दो स्थल पर उल्लेख अवश्य आया है, परन्तु शकराचार्य के ब्रह्मवाद का प्रचार होने के पूर्व की यह वृत्ति है यह निश्चित है।

माठराचार्य वैदिक यज्ञादिक के कट्टर विरोधी थे, ऐसा इनके "यूप छित्वा" इत्यादि श्लोको के पढने से ज्ञात होता है। फिर भी माठराचार्य ने "पातञ्जल योगशास्त्र" की बातो के उल्लेख किये हैं, इससे ज्ञात होता है ये पतञ्जलि के मत से अनुकूल थे।

माठराचार्य ने अपनी वृत्ति मे साख्य-दर्शन के उपदेशको की परम्परा इस प्रकार लिखी है—"महर्षि कपिल–आसुरि–पचशिख–भार्गव–उलूक–वाल्मीकि–हारित–देवल" इत्यादि से ज्ञान आया तथा ईश्वरकृष्ण ने प्राप्त किया।

卐 卐

: ४२ :

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य

शंकराचार्य विरचित

❖

शांकर भाष्य बादरायण (महर्षि व्यास) कृत ब्रह्म-प्रतिपादक सूत्रों पर विस्तृत भाष्य है। इसे शारीरिक मीमांसा-भाष्य भी कहते हैं इसके प्रथम अध्याय में निर्गुण सगुण आदि ब्रह्म के स्वरूप का विशदतापूर्ण प्रतिपादन किया है।

दूसरे अध्याय के प्रथम पाद में सांख्य कणाद योगादि दर्शनों की चर्चा करके उनसे ब्रह्मवाद का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया है। दूसरे पाद में सांख्य कणाद परमाणुवाद ईश्वरकारणिक चार्वाक मीमांसक और बौद्धों के क्षणिकवाद विज्ञानवाद आर्हत दर्शन के स्याद्वाद सप्तभंगी, भागवत, पाशुपत मतों की मीमांसा करके सब को दोषयुक्त बताया है। तीसरे पाद में महाभूतों की उत्पत्ति सृष्टिसर्ग प्रलय आदि बातों की मीमांसा की है और इसके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न अभिप्राय व्यक्त करने वाले उपनिषद्-वाक्यों का समन्वय करने की चेष्टा की गई है। आश्मरथ औडुलोमि, काशकृत्स्न आदि आचार्यों के मतों का निर्देश करके जिनके साथ अपने मत का साम्य देखा उसे श्रुति-सम्मत ठहराया और अन्यान्य मतों की उपेक्षा की है। चतुर्थ पाद में इन्द्रियादि पदार्थों का निरूपण करने वाले परस्पर विरोधी श्रुतिवाक्यों का समाधान करने की चेष्टा की गई है।

तीसरे अध्याय के प्रथम पाद में जीव के परलोकगमन सम्बन्धी चर्चा करके वैराग्य का प्रतिपादन किया है। दूसरे पाद में 'तत्' तथा 'त्वम्' शब्दों की व्याख्या की है। तीसरे के तीसरे पाद में भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं के मन्तव्यों का निरूपण करते हुए उनके पारस्परिक

विरोधो का समन्वय करने की कोशिश की है। चतुर्थ पाद मे निर्गुण ब्रह्म के बहिरग साधनो की और आश्रमो की चर्चा कर उनकी आवश्यकता बताई है।

चौथे अध्याय के चारो पदो मे निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म की उपासना और उससे होने वाले स्वर्गीय तथा मुक्त्यात्मक फलो का प्रतिपादन किया है।

आचार्य की प्रतिपादन शैली प्रौढ है। अपने मन्तव्य के विरुद्ध जो जो बातें और सिद्धान्त दीख पडे उन सभी का खण्डन किया है। इस खण्डन मे सब से अधिक कटाक्ष साख्य दर्शन पर किये है, तब सबसे कम आर्हत, भागवत और पाशुपत सम्प्रदायो पर। अपना दर्शन निर्विरोध और व्यवस्थित बनाने के लिए पर्याप्त श्रम किया है। लगभग सभी उपनिषदो, आरण्यको, ब्राह्मण ग्रन्थो को छान डाला है। उनमे प्रयुक्त पारस्परिक विरुद्ध सिद्धान्तो को एक मत बनाने के लिए पर्याप्त श्रम किया है, फिर भी इस प्रयास मे वे अधिक सफल नही हो सके हैं। कई वाक्यो तथा शब्दो की व्याख्या करने मे इन्होने केवल अपनी कल्पना से काम लिया है। "वैदिक-निरुक्त, निघण्टु और लौकिक शब्दकोषो" की सहायता न होने और कल्पना मात्र के बल से शब्दो का अर्थ लगाकर किया गया समन्वय अथवा विरोधो का परिहार कहा तक सफल हो सकता है, इस बात पर पाठकगण स्वय विचार कर सकते हैं।

आचार्य शकर ने अपने भाष्य मे अधिकाश नामोल्लेख प्राचीन वैदिक आचार्यों के ही किये हैं, फिर भी कुछ उल्लेख ऐसे भी आये हैं कि उल्लिखित व्यक्ति विक्रम की ७ शती के परवर्ती है। अष्टम शताब्दी के "जैनाचार्य हरिभद्रसूरि, भट्टाकलक, कुन्दकुन्दाचार्य" आदि के ग्रन्थो मे बौद्धो के विज्ञान-वाद आदि का खण्डन प्रचुर मात्रा मे मिलता है, परन्तु आचार्य शकर के ब्रह्मवाद का नामोल्लेख तक उन ग्रन्थो मे नही पाया जाता। हाँ दशवी तथा ग्यारहवी शती के जैन दार्शनिक ग्रन्थो मे ब्रह्माद्वैतवाद का खण्डन अवश्य मिलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि शकराचार्य का

सत्तासमय विक्रम की अष्टम शती के बाद और दसवीं शती के पहले होना चाहिए। प्रस्तुत भाष्य में पुस्तक के टाइटल पेज के पास ही इनका फोटू दिया है जिस पर इनका उद्भव काल ८४५ बताया है। फोटो पर का संस्कृत लेख नीचे उद्धृत किया जाता है—

'अथैतेषां श्रीमच्छंकरभगवत्पादानां प्रादुर्भावसमयः कलिगताब्दाः ३८ ८६ वैक्रमः संवत् ८४५ निर्णीतमिदं शंकरमन्दारमन्दरसौरभे—

'प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या–
मेकादशाधिक-शतोनचतुः सहस्त्र्याम् ॥

ऊपर के लेख से यह निश्चित हो जाता है कि 'शंकराचार्य का जन्म नवमी शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ और प्रस्तुत भाष्य तथा अन्यान्य ग्रन्थ रचनाएँ विक्रम की नवमी शती के अन्त में हुई हैं। इसमें विशेष शंका नहीं रहती।

卐 卐

: ४३ :
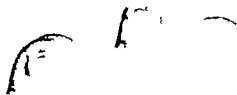
स्मृतिसमुच्चय

❖

स्मृतिसमुच्चय पुस्तक मे कुल २७ स्मृतियाँ है, जिनके अवलोकन का सार क्रमश. नीचे मुजब है—

(१) अंगिरा-स्मृति :

अगिरा-स्मृति प्राचीन मालूम होती है, १६८ श्लोको मे समाप्त हुई है।

(२) अत्रि-संहिता :

अत्रि-सहिता यो तो प्राचीन ही ज्ञात होती है, फिर भी अगिरा-स्मृति के पीछे की ही हो सकती है। इसका कर्ता दाक्षिणात्य ब्राह्मण हो तो आश्चर्य नही, क्योकि एक स्थल पर मागध, माथुर, कानन (कान्य-कुब्जी) आदि ५ ब्राह्मणो को अपूज्य होने का उल्लेख किया है। इस सहिता मे कुल ४०० पद्य हैं।

(३) अत्रि-स्मृति :

अत्रिस्मृति मे कुल अध्याय ६ और श्लोक १५४ है।

(४) आपस्तम्ब-स्मृति :

आपस्तम्ब-स्मृति मे कुल अध्याय १० और श्लोक २०१ है।

(५) औशनस-स्मृति :

इस स्मृति मे कुल ५१ श्लोक हैं। इसमे चार वर्ण के स्त्री-पुरुषो के अनुलोम प्रतिलोम सयोग से उत्पन्न होने वाली अनेक जातियो का निरूपण किया है।

(६) गोभिल-स्मृति :

इस स्मृति के तीन प्रपाठकों और कण्डिकाओं के मिलकर ४११ श्लोक हैं।

(७) दक्ष-स्मृति :

इस स्मृति के सात अध्याय हैं और कुल श्लोक २२१ हैं।

(८) देवल-स्मृति :

देवल-स्मृति में कुल ९० श्लोक हैं। यह प्राचीन भी ज्ञात होती है।

(९) प्रजापति-स्मृति :

इस स्मृति में कुल १९८ श्लोक हैं। स्मृति में एक स्थान पर दिन-वार का उल्लेख होने से यह स्मृति नवमी शती के आसपास की अथवा पीछे की भी हो सकती है।

(१०) बृहद्यम-स्मृति :

इस स्मृति में १८२ श्लोक हैं तथा ५ अध्याय हैं।

(११) बृहस्पति-स्मृति :

इस स्मृति में ८० श्लोक हैं तथा पुरानी भी लगती है।

(१२) यम-स्मृति :

इस स्मृति में ९९ श्लोक हैं।

(१३) लघु विष्णु-स्मृति :

इसमें ११४ श्लोक हैं तथा ५ अध्याय।

(१४) लघु शंख-स्मृति :

इसमें ७१ श्लोक हैं।

(१५) (लघु) शातातप-स्मृति :

इसमें १७३ श्लोक हैं।

(१६) लघु हारीत-स्मृति :

इसमें ११७ श्लोक हैं।

(१७) लघ्वाश्वलायन-स्मृति :

इसमे २४ प्रकरण है तथा ७४२ श्लोक है ।

(१८) लिखित-स्मृति :

इस स्मृति मे ९६ श्लोक हैं ।

(१९) वसिष्ठ-स्मृति :

इसमे ३० अध्याय और ७७९ श्लोक है ।

(२०) वृद्ध शातातप-स्मृति :

इसमे ६८ श्लोक हैं ।

(२१) वृद्धहारीत-स्मृति :

इसमे ११ अध्याय तथा २७९१ श्लोक है ।

हारीत-स्मृति सभवत दाक्षिणात्य वैष्णव सम्प्रदायो की उत्पत्ति के बाद की ग्यारहवी बारहवी शती की बनी हुई प्रतीत होती है । इसमे गोपीचन्दन का भी उल्लेख मिलता है । इतना ही नही अन्य वैदिक शैव, सम्प्रदायो पर भी स्थान-स्थान पर कटाक्ष किये है और उन्हे लोकायतिक तक कह डाला है ।

(२२) वेदव्यास-स्मृति :

केवल चार अध्याय तथा २७५ श्लोक है ।

(२३) शंखलिखित-स्मृति :

इसमे ३२ श्लोक है ।

(२४) शंख-स्मृति :

पृ० ३७५—"षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो, जाते वै जातकर्म च ।
आशौचे च व्यतिक्रान्ते, नामकर्म विधीयते ॥२॥"

इसमे श्लोक ३७३ हैं और १८ अध्याय हैं ।

(२५) शातातप-स्मृति :

इस स्मृति मे २६५ श्लोक हैं तथा छ अध्याय हैं और विषय कर्मविपाक है ।

(२६) सवर्त-स्मृति :

इसमें २३० श्लोक हैं।

(२७) बौधायन-स्मृति :

इसमें १६६४ श्लोक हैं चार प्रश्नों में पूरी हुई है। जिसकी समाप्ति में "बौधायनधर्मशास्त्रम् समाप्तम्" ऐसा उल्लेख है। यह वास्तव में धर्मशास्त्र ही है चार वर्ण के धर्म तथा आचार का इसमें बहुत ही विशद रूप से वर्णन किया गया है। यह स्मृति अन्य स्मृतियों की अपेक्षा विशेष प्राचीन ज्ञात होती है।

卐 卐

आह्निक - सूत्रावली

पृ० १२२—अष्टत्रिंशदुपचारा-ज्ञानमालायाम् :

"अर्घ्यं पाद्यमाचमनं मधुपर्कमुपस्पृशम् ।
स्नानं नीराजनं वस्त्र-माचाम चोपवीतकम् ॥
पुनराचमनं भूषा-दर्पणालोकनं ततः ।
गन्ध-पुष्पे धूपदीपौ, नैवेद्यं च ततः क्रमात् ।
पानीयं तोयमाचामं, हस्तवासस्ततः परम् ॥
(हस्तवासः—करोद्वर्तनम्)।
ताम्बूल-मनुलेपं च, पुष्पदानं ततः पुनः ॥
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं, स्तुतिं चैव प्रदिक्षणा ।
पुष्पाञ्जलि-नमस्कारावष्टत्रिंशत्समीरिताः ॥"

षोडशोपचार-पूजामन्त्राः बृहत्पाराशरसंहितायाम् :

आद्ययावाहयेद्देवमृचा तु पुरुषोत्तमम् ।
द्वितीययासनं दद्यात्पाद्यं चैव तृतीयया ॥
अर्घश्चतुर्थ्या दातव्यः पंचम्याऽऽचमनं तथा ।
षष्ठ्या स्नानं प्रकुर्वीत, सप्तम्या वस्त्रधौतकम् ॥
यज्ञोपवीतं चाष्टम्या, नवम्या गन्धमेव च ।
पुष्पं देयं दशम्या तु, एकादश्या च धूपकम् ॥
द्वादश्या दीपकं दद्यात्त्रयोदश्या निवेदनम् ।
चतुर्दश्या नमस्कारं, पंचदश्या प्रदक्षिणा ॥
षोडश्योद्वासनं कुर्याच्छेषकर्माणि पूर्ववत् ।

तच्च सर्वं अपेक्ष्याय पौरुष सूक्ष्ममेव च ॥

पृ० १२१— सिद्धार्थमक्षतांश्चैव दूर्वां च तिलमेव च ।
यव गन्ध फल पुष्प-मष्टाङ्ग त्वर्घ्यमुच्यते ॥

पृ० १३८—देवप्रतिमायां नित्यस्नानविचारः प्रयोगपारिजाते

प्रतिमा-पट्ट-यन्त्राणां नित्यस्नानं न कारयेत् ।
कारयेत् पर्वदिवसे यदा वा मलधारणम् ॥

पृ० १३६—पंचामृतम् :

धन्वन्तरि गव्यमाज्यं दधि क्षीर समाक्षिक ।
शर्करान्वितसमेकत्र दिव्यं पंचामृतं परम् ॥

पृ० १४१— द्वे भ धानुलेपनम्, कालिकापुराणे वाचस्पतौ :

चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा दाहकर्षित एव वा ।
रस सम्मर्दजो वापि प्राण्यङ्गोद्भव एव वा ॥
गन्ध पञ्चविध प्रोक्तो देवानां प्रीतिदायक ।

पृ० १४२—'पूजायां ग्राह्यपुष्पाणि' स्मृत्यन्तरे

समित्पुष्प-कुशादीनि ब्राह्मण स्वयमाहरेत् ।
पंकजं पञ्चरात्रं स्याद्दशरात्रं च बिल्वकम् ॥
एकादशाहं तुलसी नैव पर्युषिता भवेत् ।
जाती शमी कुशा कंबु मल्लिका करवीरजम् ॥
नागपुन्नागकाश्योक-रक्तनीलोत्पलानि च ।
चम्पक बकुल चैव पद्म बिल्व पवित्रकम् ॥
एतानि सर्वदेवानां संग्राह्याणि समानि च ।

पृ० १४३— वर्ज्यपुष्पाणि' भविष्ये :

कृमिकीटावपन्नानि शीर्णपर्युषितानि च ।
स्वयं पतितपुष्पाणि त्यजेदुपहृतानि च ॥

(तत्र टिप्पणिकायाम् (१) मर्य [ि धमस्तु चर्वपुष्पोर्वप्रतिमादिषु बोद्धव्यः ।
यदि चर्वपुष्पमूला प्रतिमा 'वर्ती' तर्हि तां नित्यमेव स्नापयेत् ।)

मुकुलैर्नाचयेद्देवमपक्व न निवेदयेत् ।
शूद्रानीतै क्रयक्रीतै, कर्म कुर्वन्पतत्यध ॥

प्र० १४४—'दीपम्' कालिकापुराणे :

न मिश्रीकृत्य दद्यात्तु, दीप स्नेहे धृतादिकम् ।
घृतेन दीपक नित्य, तिलतैलेन वा पुन. ॥
ज्वालयेन्मुनिशार्दूल ! सन्निधौ जगदीशितु ।
कार्पासवर्तिका ग्राह्या, न दीर्घा न च सूक्ष्मका ॥

आह्निक-सूत्रावलि कर्मकाण्ड का एक सग्रह ग्रन्थ है। इसका निर्माण प० विट्ठलात्मज नारायण ने सन् १९५३ मे किया है तथा श० स० १८७५ मे। आज तक इसकी ग्यारह आवृत्तिया निकल चुकी है।

शुद्धिपत्रक :

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
भट्ठो	भट्टी	३	२	सम्यक्	सम्यग्	३६	१
सता	सत्ता	३	२६	चरित्र	चारित्र	३६	१
वृत्ति	वृत्ति	६	१	यन्त्रो	मन्त्रो	३६	१८
चाय	चार्य	८	१३	चरित्र	चारित्र	३७	१
अनुष्टुप	अनुष्टुप्	६	६	चिनेभ्य:	जिनेभ्यः	३७	६
भाषा मे	भाषा के	६	८	गुरू	गुरु	३७	७
वृतान्त	वृत्तान्त	६	१०	गुरू	गुरु	३७	८
विधपिक्ष	विविपक्ष	११	२१	फरो	करो	३७	६
पही	नही	१३	२२	प्रतिष्ष्ठित	प्रतिष्ठित	३७	१६
पतद्ग्रह	पतद्ग्रह	१४	२६	उज्वल	उज्ज्वल	३७	१८
रजोहर	रजोहरण	१५	१०	जिर्जरा	निर्जरा	३७	१६
जाहिर	जाहिरात	२३	२२	ह्रीकार	ह्रींकार	३७	२१
भक्ति	शक्ति	२५	८	गुरू	गुरु	३७	२३
लभ का	लभ को	२५	१०	गुरू	गुरु	३७	२५
[illegible]	जीर्णो	२८	४	प्रज्ञप्या	प्रज्ञप्त्या	३७	२७
[illegible]	कर	२८	१६	निदिष्ट	निर्दिष्ट	३८	१०
	बिम्बो के	२६	५	पैत्रिक	पैतृक	३८	१५
[illegible]	शिला	२६	१०	साक्षिप्त	संक्षिप्त	३८	१८
[illegible]	उत्तेजित	३०	२२	वेढ़िका	वेदिका	३८	२१
[illegible]	अस्थि	३१	२३	पुकार	प्रकार	३६	२३
[illegible]	किसी	३४	१०	सविन्ग	संविग्न	४०	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
सोचड़ी	सीचड़ी	४१	१
कीडी	कोडी	४१	१५
वर्षे	वर्षों	४१	२५
वर्षो	वर्षों	४२	६
पट	पट्ट	४२	२६
प्रचिमत	प्रचलित	४३	४
टिस	टप	४३	८
टिस	टस	४३	१०
श्लाक	श्लोक	४३	१६
चतुर्विंघति	चतुर्विंशति	४३	१७
हुए मे	हुए वे	४४	२
सन को	सन की	४४	१६
होते	होता	४४	२३
पट्टदिपु	पट्टद्वित	४५	१२
च स य	च सा म	४५	२४
म्मा	म्मा	४६	१
किरिटो	किरिटी	४६	१७
बार	बारह	४७	६
परि	पारि	४७	११
प्रची	प्राची	४७	१२
स्यान	स्थानों	४७	१८
हुवा	हुता	४८	१
सत्तर	सत्र	४८	१८
कुरकुल	कुलकुला	५	१
गुरू	गुरु	५	८
ह्रीं श्री	ह्रीं श्रीं	५	२४
ह्री	ह्रीं	५०	२७
कीर्ति	कीर्ति	५१	६
ग्राम	ग्रामा	५१	२२
चक्र	चक्र	५२	६
प्राम्भिक	प्रारम्भिक	५२	२७
वास्एग	वास्एग	५३	१
भिक्स धी	भिक्स की	५३	१७
है, कि	है म कि	५३	२१
वह	यह	५४	१५
पदी	पद	५४	१७
माहत्म्य	माहात्म्य	५६	२
पदार्थो	पदार्थी	५७	१
मिम्यादि	मिथ्यादि	५७	६
साधसा	साधना	५७	७
सम्यक	सम्यक्त्व	५८	२
सिद्ध	सिद्धसेन	५९	३
घोपए	घोषणा	५९	१८
गुरू	गुरु	६२	३
पर्यासों	पन्यासों	६२	७
पर्यासों	पन्यासों	६२	६
बटामों	बटनामों	६२	२३
गुरू	गुरु	६३	६
पुदे	पुद्गा	६३	६
रण रु	रण से	६३	१६
पार्टी	पार्टी	६३	१८
गुरू	गुरु	६४	१२
गुरू	गुरु	६४	१४
गुरू	गुरु	६४	१६
गुरू	गुरु	६५	११
वृतान्त	वृत्तान्त	६५	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	प०
साधुओ का	साधुओं को	६५	१५
गुरू	गुरु	६५	१६
देव	देव	६५	२१
सविज्ञ	सविग्न	६६	१४
सविज्ञ	सविग्न	६६	२०
ही चुको	हो चुकी	६६	२२
संविज्ञ	सविग्न	६६	२६
सविज्ञ	सविग्न	६६	२७
सविज्ञ	सविग्न	६७	२
रगों	सघो	६७	१८
इप	उप	६७	१९
नडी	नही	६७	२०
गुरू	गुरु	६८	१६
सम्बन्धियो	सम्बन्धियो	७०	१८
ङ्करो ने	ङ्करो के	७३	१६
कजी ने	कजी के	७५	११
गुरुत्व	गुरुतत्त्व	७७	९
तत्व	तत्त्व	७७	११
तत्व	तत्त्व	७७	१६
शिचतो	शिचत्तों	७७	२०
शिचतो	शिचत्तो	७८	४
तत्व	तत्त्व	७८	५
तत्व	तत्त्व	७८	१०
यशी	यशो	७८	२२
आध्यात्म	अध्यात्म	८०	८
क्रांत	कृति	८१	१०
गच्छ से	गच्छ के	८२	२१
विद्वान	विद्वान्	८३	२४
वाद की	वाद का	८४	१
ष्टुप	ष्टुप्	८५	११
ध्यायजो	ध्यायजो	८५	१२
परि	पारि	८६	२३
सत्व	सत्त्व	८७	१३
वन्द्रा	चन्द्रा	८७	१६
आनंद	आनन्द	८८	२८
विद्वान	विद्वान्	८९	३
लक्ष्मी	लक्ष्मी	९०	१
अकेक	अनेक	९२	१५
नवम्	नवम	९२	१७
द्धात	दधात	९४	२
शिला	शीला	९४	२
सग्रही	सगृही	९६	४
सग्रही	सगृही	९७	१२
पस्य	परस्य	९८	२५
होना	होनी	१००	१८
सग्रही	सगृही	१००	२५
पन्यास	पन्यास	१०१	६
वर्षे	वर्षे	१०५	४
सौमे	सोमे	१०५	४
खिलने	लिखने	१०५	७
तपाच्छी	तपागच्छी	१०५	२०
साम्दे	सद्भि	१०५	२७
रप	रपा	१०५	२७
षट	षट्	१०६	२६
निशिनं	निशिन	१०९	९
सट्ठ	सट्ठा	११०	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
तर	तरा	१११	१
र्गक	र्गके	११२	२१
उसको	उसकी	११२	२५
दिमम	दिय	११३	२१
हाप्पम	हापभि	११३	२१
तिइमो	तिईमो	११३	२३
ते कालि	तैकालि	११३	२५
वृत्य	वृत्य	११४	१२
महादित्ता	मयूवादित्ता	११४	१७
निम्बिति	निम्बिति	११५	१४
सम्म	न सम्म	११६	११
गडहरि	गहूरि	११६	१२
वाला	वाला	११७	१४
रहस्य	हास्य	११८	२
बवी	बनी	११८	१
वासे	वासों	११८	१२
ऊक्त	उक्त	११८	२५
मारी को	मारी की	११९	२६
पूर्व	पूर्व	१२०	७
सहा	सकता	१२०	९
पूछना	पूछता	१२०	१९
में दर्शन			
मम्द से प्रति	मं प्रति	१२४	२
मान	मानों	१२४	७
मुक	मुक्त	१२५	१
उपमोग	प्रयोग	१२५	२१
प्ररि	परि	१२७	११
पठार	प्रठारह	१२८	१२
वाप्नु	वाहु	१३२	२०
पेरिसी	पोरिसी	१३४	१५
गांधी का	गांधी की	१३६	१६
प्राकृत	प्रकृत	१३९	२०
रहा	रेहा	१४०	४
पन्यास	पंन्यास	१४१	२१
'ठ''	'ढ'	१४२	२१
मन्ते	भंते	१४६	१८
कुक्कुडि	कुक्कुडि	१४६	२५
रम्तु	रंतु	१४७	९
मुसुमूरणू	मुसुमुरणू	१५२	२५
माप	माप	१५८	२१
पूमरजिए	पूमजिए	१६२	४
सैत	रैवत	१६७	१
सैत	रैवत	१६७	४
सैत	रैवत	१६७	७
हरिणता	हरिणत्ता	१६८	५
विक्रम	विक्रम	१६८	१४
सारकर	मारक	१६८	१६
करने से	करने में	१७०	१०
पवत	पर्वत	१७२	१
ठैरी	ढेरी	१७३ (टिप्प)	१
वक्रिया	वाक्रिया	१७४	२
कमेक्रम	क्रमक्रम	१८०	२७
दूसरो	दूसरे	१८२	२८
महात्म्य	माहात्म्य	१८३	२
करता	करतो	१८५	१४
मापे	मायी	१८५	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पं०
बोहिय	बोधिक	१६१	२५	गणवच्छे०	गणावच्छे०	२४१	६
समस	समय	१६२	२५	हारो को	हारो का	२४२	१६
म रवाड	मारवाड	१६५	१७	प्राचश्चित्त	प्रायश्चित्त	२४२	२७
याक्षिणी	यक्षिणी	१६७	१८	प्रतेच्छका०	प्रतीच्छका०	२४३	५
यशादेव	यशोदेव	२०१	११	समुद्रक	समुद्गक	२४६	६
विप्रे॰	विप्रै	२०४	१८	रिपेयरि०	रिपेरि०	२४६	१०
टोक	ठीक	२०७	२०	समुद्रक	समुद्गक	३४६	१३
कहना का	कहना	२१०	२५	कतियो	कृतियो	२४८	६
तानो	ताना	२१५	२१	साधुओ को	साधुओ की	२५०	११
यदि	यति	२२०	३	वक्तब्य	वक्तव्य	२५३	२६
पद्य	पद्म	२२०	६	फेयर	पेयर	२५४	१
सविज्ञ	सविग्न	२२०	१७	नोटिस पढकर	नोटिस सिद्धिसूरिजी को दी जिसे पढकर	२५५	२२
लोपो	लोपी	२२२	४	सांवत्सरी	संवत्सरी	२५८	१६
ज्जाहिर	जाहिर	२२२	१३	एक	ऐक	२५८	२४
मलिन	मलीन	२२३	७	भीतियें	भीतियें	२६१	२४
मत	मतो	२२३	१०	तथाप	तथापि	२६५	४
दोस	दीस	२२७	१६	माती	जाती	२६६	१८
वीजोइं	वीजाइ	२३०	५	सग्रहीत	संगृहीत	२७०	३
आदि की	आदि को	२३२	७	खण्डगम	खण्डागम	२७२	२०
प्रति	प्रती	२३८	१६	सग्रहीत	संगृहीत	२८०	११
श्चित	श्चित्त	२३८	१८	गद्म	गद्य	२८७	२५
श्चित	श्चित्त	२३८	१६	धनञ्जय	धनञ्जय	३०७	२५
श्चित	श्चित्त	२३८	२०	गुणमन्द्र	गुणचन्द्र	३१४	६
श्चितो	श्चित्तो	२३८	२८	गुणभद्र	गुणचन्द्र	३१४	७
श्चित	श्चित्त	२३६	५				
वास्तावक	वास्तविक	२३६	१०				
कथाएँ	कक्षाएँ	२३६	१४				
श्चित	श्चित्त	२४०	२६				